सीधी चढ़ान

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी की आत्मकथा का
दूसरा भाग

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

अनुवादक
मंजुला वीरदेव

राजकमल प्रकाशन

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
दिल्ली

प्रथम सस्करण, १९५२
द्वितीयावृत्ति, १९६१

मूल्य पाँच रुपए

मुद्रक
श्री गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस, दिल्ली

पूज्या जीजी माँ को

क्रम

पहला खण्ड

१ बम्बई की गलियों मे (१९०७ से १९१३) ९

२. हाईकोर्ट मे (१९१३ से १९२२) १०३

दूसरा खण्ड

१. मध्यरण्य २०३

पहला खण्ड

बम्बई की गलियों में
हाईकोर्ट में

१९०७ से १९१३

बम्बई की गलियों में

अपनी प्रति वर्ष की डायरी के आरम्भ मे मैं दो सूत्र लिखा करता था—

मरण तो निश्चित् ही है,
फिर बैठे क्या रहना—
लम्बे जीवन के अन्धकारमय दिनों मे—
बिना काम, बिना नियम और बिना नाम के ?[१]

● ● ●

जीवन ईश्वर का दिया हुआ भार है,
इसे देख ले, उठा ले,
स्वस्थ रहकर एकनिष्ठा से निभा ले,
शोक मे पडकर हार न जाना,
पाप से डरकर डगमगा न जाना,
और स्थिर पैरो से आगे बढ।

१. "Die since we must, wherefore should a man sit idle and nurse in the gloom of days of long life, without aim, without name ?"—pindar.

आगे और ऊपर—

जब तक ध्येय सिद्ध न हो, तब तक ![1]

सन् १९०७ ई० के मार्च की एक सन्ध्या को इन दो सूत्रो की पूंजी लेकर मैं कुम्भार टुकडे मे अकेला घर खोजता हुआ खडा था।

वह घर था कृष्णलाल काका का। वे हाईकोर्ट मे प्रैक्टिस करते थे। दो वर्ष पहले ही वे स्माल-कॉज़ कोर्ट मे न्यायाधीश नियुक्त हुए थे। उस समय उन्होने दीवान बहादुर का पद प्राप्त नही किया था। मेरे कुटुम्ब के साथ उनका पीढियो से सम्बन्ध था। मेरे पिताजी उनके बडे भाई के परम मित्र थे। मेरा ननिहाल उनके घर के पास ही था। उनकी बहन और मेरी जीजी-माँ बचपन की सहेलियाँ थी।

मेरे परिचित व्यक्तियो मे अकेले कृष्णलाल काका ही बम्बई के प्रतिष्ठित भडौंची थे। उनका किया हुआ 'दत्त' नामक अग्रेज़ी उपन्यास का अनुवाद मैंने पढा था। वे गोवर्द्धनराम के मित्र थे और साहित्यकार भी थे, ऐसी कीर्ति मैंने सुनी थी। मैंने उन्हे अनेक बार नर्मदा पार करते देखा था।

मैं देर से आने पर भी उनकी सिफारिश से एल-एल० बी० मे भरती होने के लिए आया था। अँधेरी सीढियाँ चढकर मैं ऊपर पहुँचा। कृष्णलाल काका से मिला और जीवन के एक प्रगाढ और उदात्त सम्बन्ध की मैंने नीव डाली।

उन्होने लॉ-कालेज के प्रिंसिपल दीनशा मुल्ला को सिफारिश का पत्र लिखकर मुझे दिया। मैं उसे लेकर दीनशा मुल्ला के पास गया। उन्होने कृष्णलाल काका को सलाम कहलाया और खेद प्रकट किया कि इस प्रकार भरती नही हो सकती।

---

१. A sacred burden is the life you bear,
Look on it, lift it, bear it, solemnly
Walk beneath it steadfastedly
Fail not for sorrow, falter not for sin,
But onwards, upwards—till the goal you win

खाली हाथो मैं भडौंच वापिस आया और वहाँ से बड़ौदा कालेज बोर्डिङ्ग मे दाखिल हो गया।

दो

१९०७ के मार्च की १० तारीख थी।

बडौदा कालेज के लॉन पर उत्साह से, हाथो मे मशाले लेकर हम लोगों ने 'महाराजा साहब' की प्रदक्षिणा करनी शुरू कर दी।

सयाजीराव महाराज के राज्याधिकार के रौप्य-महोत्सव की पूर्णाहुति हो रही थी।[1] हमारे हृदयो मे उनका स्थान स्वतन्त्र इटली के पहले राजा विक्टर इमेन्युअल के समान था। जब स्वाधीन इटली की राजधानी मे उन्होने प्रवेश किया था, तब मशालधारी विद्यार्थियो का जुलूस निकाला गया था। उसी का अनुकरण करते हुए हम कालेज के विद्यार्थी यह जुलूस निकाल रहे थे।

मैं सयाजीराव महाराज का भक्त था। 'स्वप्नद्रष्टा' मे वर्णित जो सहपाठी[2] महाराजा साहब की भक्ति मे होश-हवास खो बैठा था, उसकी मनोदशा अपवादरूप नही थी। जापान की उज्ज्वल कीर्ति से हमारा आत्म-विश्वास दृढ हुआ था और हम अरविंद बाबू की भावपूर्ण राष्ट्रीयता मे तल्लीन थे। बगभग के आन्दोलन से हम पागल-से हो गए थे। परन्तु बडौदा कालेज के विद्यार्थियो की सारी देशभक्ति महाराजा साहब के रवैये के आस-पास उछला करती थी। वे हमारी राष्ट्र स्वतत्रता की आशा-मूर्ति थे।

दामाजीराव गायकवाड के इस वशज और उत्तराधिकारी का अर्वाचीन भारत में अद्वितीय स्थान था। मुगल-साम्राज्य का पतन होने के बाद जब पेशवा भारत मे चक्रवर्ती-पद पर आसीन थे और अग्रेज पैर फैलाने का प्रयत्न कर रहे थे, तब दामाजीराव गायकवाड ने (१७३३-१७६८) दोनो को दबाकर अपना राज्य मजबूत बनाया था। यह राज्य केवल

---

१. २५ वर्ष १९०६ में पूरे होते थे, परन्तु कारणवश यह उत्सव विलम्ब से आयोजित हुआ।

२. 'गिरजाशंकर शुक्ल' नामक पात्र।

बडौदा का ही नही, समस्त गुजरात का था। इसमे काठियावाड और आज का ब्रिटिश गुजरात भी समाविष्ट थे।

१८१८ मे जब से 'ईस्ट इण्डिया कपनी' ने पेशवा से भारत का स्वामित्व छीना था, तभी से बडौदा के गुर्जराधीश कपनी से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के प्रयास कर रहे थे। सयाजीराव द्वितीय (१८१९-१८४७) ने इन्ही प्रयत्नो मे अपना सपूर्ण जीवन समाप्त किया। हमारे महाराजा साहब उत्तरोत्तर निष्फलता प्राप्त करते हुए उस प्रयत्न के अन्तिम अधिकारी थे।

१९०७ मे इस भावी निष्फलता की छाया नही पडी थी।

जब सभी देशी राजा स्वच्छन्द हो विषय-सुख मे मस्त थे, तब सयाजीराव ने राज्य मे नियम और व्यवस्था का प्रसार किया। भारत मे प्रजा के जीवन-विकास के प्रत्येक क्षेत्र मे उन्होने पहला कदम उठाया। यूरोप या अमेरिका मे प्रवास के समय रोगशय्या पर पडे रहने पर भी लोकोपयोगी कार्य आरम्भ करने की उनकी लगन अटूट रही। यूरोप के प्रवास के समय प्रजा की भलाई के लिए आवश्यक कोई भी वस्तु बडौदा ले आने के लिए वे उतावले हो उठते। अनेक वायसराय और उनके महँगे सलाहकार भारत को जो चीज़ नही दे सके वह महाराजा अकेले ही बडौदा को देते रहे।

अँग्रेजी सत्ता के विरुद्ध वे सिर उठाते है। रेज़िडेन्सी बीच मे पडे, यह उन्हे नही जँचता।

१९०३ मे कर्ज़न हुक्म देता है—"दिल्ली दरबार मे 'अपनी' ताज-पोशी के जुलूस मे देशी राजा भेट लेकर आये और अपने चोबदारो को अँग्रेज़-सरकार के चोबदारो जैसे कपडे न पहनाएँ।"

इस भेंट देने के कलकित करने वाले हुक्म के विरुद्ध महाराजा लडते हैं और हार जाते हैं।

कर्ज़न जब भारतीय सेना के खर्च के लिए देशी नरेशो से सहायता माँगता है, तब महाराज कठोर उत्तर देते हैं—

"रक्षा-खर्च के लिए 'ईस्ट इडिया कपनी' को कभी से प्रदेश दे दिये

गए हैं। यदि देशी नरेशो की सेना का उपयोग करना हो, तो उन पर विश्वास रखना चाहिए और भारतीय अधिकारियो को भी अँग्रेजी सैनिक-शिक्षणालयो मे प्रविष्ट होने देना चाहिए।"

कर्जन बिस्मार्क की नीति का अनुसरण करके देशी नरेशो को साम्राज्य-तत्र का अग बनाना चाहता है। महाराजा साहब अपनी शर्तें लिख भेजते हैं—

"आप देशी राज्यो को साम्राज्य के विषय मे निर्णय करने का अधिकार दें, मध्यवर्त्ती सरकार और देशी राज्यो के बीच प्रश्नो के निराकरण मे हिस्सा दें और आन्तरिक व्यवस्था मे उत्तरदायी शासन (Responsible Autonomy) की व्यवस्था करे। देशी राज्यो को केवल साम्राज्य का बोझ उठाने मे ही नही, अपितु अधिकारो और कानूनो मे भी समानता दें, तभी सैनिक-खर्च मे विवेकपूर्ण हिस्सा देने को उनका जी चाहेगा।"[१]

यह थी दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की वाणी। दामाजीराव की स्वाधीनता चली गई, परन्तु आज की नि सत्व पराधीनता की अपेक्षा, राज्य-सघ (Federation) और आन्तरिक व्यवस्था मे उत्तरदायी शासन ही मुक्ति है। १९०४ मे जब कांग्रेस केवल भाषण करती थी और जनता गहरी निद्रा मे पडी थी, तब महाराजा साहब घोषित करते हैं—

"सबसे उत्तम राजतत्र वही है, जो जनता द्वारा चलाया जा रहा हो। जनता को अपने हितो की ओर अधिक ध्यान देने वाली बनाना चाहिए। लोगों को ज़िम्मेदारी की आदतें डालने वाली शिक्षा मिलनी चाहिए।"[२]

हमारे बाल-हृदयो मे इन उदार शब्दो की प्रतिध्वनि गूँज उठती है।

प्रत्येक विषय मे कर्ज़न के दभपूर्ण दौर से महाराजा टक्कर लेते हैं। १९०४ के पश्चात् राष्ट्रीयता का चैतन्य रूप प्रकट होता है, उसका केन्द्र भी वे ही बनते हैं।

अरविन्द घोष उनके निजी कार्यवाहक थे, यह सत्य सर्वदा हमारे

---

१. Selected letters, Vol II, P. 580 १-८-१९०४ का पत्र।

२. Speeches and Addresses, Vol. 1, P. 240

सम्मुख चमका करता था। आर्यसमाज के नेता स्वामी नित्यानन्द सरस्वती उनके सलाहकार थे, यह भी हम कभी नही भूल सकते थे।

महाराजा साहब ब्रिटिश-भारत मे सम्मेलनो के प्रमुख स्थान पर आसीन होते हैं। वे एक देशी राज्य के नरेश ही नही रहते, भारत के नेता भी बनते हैं। इलाहाबाद मे अपार जन-समूह के बीच वे मानपत्र स्वीकार करते है।

महाराजा साहब राष्ट्रीयता का मत्र उच्चारण करते है—

"भारत को महान् राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकता है, जिससे प्रत्येक मनुष्य अपने लिए नही, अपनी जाति के लिए नही, वरन् अपने राष्ट्र के लिए कार्य करे। रूढि और अन्धविश्वास का अपना पुराना जमाना हमें जीतना चाहिए, स्वतन्त्रता से, समानता से, भ्रातृ-भाव से, आचरण की स्वतन्त्रता से, विकास-क्षेत्र की समानता से, महान् राष्ट्र-भावना के भ्रातृत्व से, तभी हम भारत को फिर से राष्ट्र बना हुआ देखेंगे—राष्ट्रीय कला-साहित्य से और समृद्ध व्यापार से सुशोभित! तभी हम राष्ट्रीय राजतत्र के अधिकारी बनेंगे, इससे पहले नही।"[१]

यह साहसी, राजनीतिज्ञ और समर्थ नरेश, अपने भूतकाल का गर्वप्रद अवशेष, अपनी अर्वाचीन स्वतन्त्रता की आकाक्षा को मूर्तिमान बना देता है।

उस रात को महाराजा की प्रदक्षिणा करके, हम अपनी राष्ट्र-भावना का पूजन कर रहे थे। हाथ मे मशाल लेकर हम उनकी गाडी के चारो ओर उछल रहे थे। कोठी के आगे घोडो को हटाकर हम स्वय गाडी को खीचकर राजमहल मे ले गए। हमारे इस समारोह मे केवल शिष्टाचार ही नही था। हमारी यह प्रवृत्ति चापलूसी से प्रेरित नही थी। इसमे किसी प्रकार के लाभ का लोभ नही था। हम नौसिखिए राष्ट्र-भक्त महाराजा साहब को स्वतन्त्रता सग्राम का सेनापति मान रहे थे। हम उत्साह से पागल-से हो रहे थे, पर वह उत्साह था देशभक्ति का। अरविन्द की हमे पिलाई हुई देशभक्ति इसकी प्रेरणा-शक्ति थी।

---

१ Speeches and Addresses, Vol. I, P. 115-116

अपने प्रति हमारा यह भाव देखकर वे नम्रता से बोले—

"मेरे जीवन का यह अपूर्व अनुभव है। ज्योतिर्धर के समारोह के समान इस मान के योग्य मैं नही हूँ। मैंने अपनी प्रजा के लिए जो कुछ किया है, वह तो मेरा कर्तव्य ही है। मैंने भूले अवश्य की होगी, परन्तु जान-बूझकर मैंने कोई भूल नही होने दी। मैं भी आपकी तरह मनुष्य हूँ। मनुष्य-मात्र भूल का पात्र है। मुझसे भूले हुई हो, तो उन्हे क्षमा करेंगे। आपके हितो के लिए मैं हर तरह का जी-जान से प्रयत्न करूँगा, इसका विश्वास दिलाता हूँ।"[१]

उन दिनो उनका जीवन उच्च-से-उच्च शिखर पर था।

भारत मे चारो ओर अँग्रेजो के प्रति द्वेष फैल गया। नासिक मे जैक्सन का खून हुआ, टीनीवेली मे कलक्टर का खून हुआ, लन्दन मे कर्ज़न व्राइली का खून हुआ, मुजफ्फरपुर मे दो अँग्रेज स्त्रियो के खून हुए। १९०९ मे बगाल मे पब्लिक प्रासिक्यूटर मारा गया। अंग्रेजो ने भारत और इङ्गलैण्ड मे यह खबर फैलाई कि महाराजा साहब अंग्रेजो के विरुद्ध द्रोह उकसा रहे है।

१९०९ मे महेसाना मे 'शिक्षक प्रेस' ने अरविन्द घोष के भाषण प्रकाशित किये। ब्रिटिश पुलिस ने तलाशी ली और नोट किया कि बडौदा पुलिस ने इसमे ज़रा भी मदद नही की।

महाराजा साहब किसी की परवाह न करते हुए अपने मार्ग पर आगे बढते रहे। अँग्रेज-सरकार की आँखो मे चुभने वाले आर्य-समाज के सम्मेलन (१९११) के अधिवेशन का उन्होंने सभापति-पद स्वीकार किया और उसमे अँग्रेज़ो को फटकारा।

दिल्ली मे उन्हे गिराने का निर्णय हो गया। १९११ के दिल्ली-दरबार मे महाराजा साहब ने सम्राट् जार्ज को पीठ दिखाने का भयकर राजद्रोह किया। उसी अवसर पर उन पर विलायत के न्यायालय मे व्यक्तिगत आक्षेप किया गया। अँग्रेज़ी पत्र 'Times' भी उनसे द्वेष करने लगा।

---

१ Baroda Administration Report 1906-1907.

देश की इस विचित्र परिस्थिति मे, महाराजा साहब दयनीय अवस्था मे अकेले ही थे। श्री गोखले तक ने भी शरण मे जाने की सलाह दी। इससे उनके स्वाभिमानी हृदय को आघात पहुँचा। "एक भी मनुष्य मेरे साथ खडा हो तो मैं मुकाबला कर सकता हूँ, चाहे परिणाम कुछ भी हो। मैंने किया ही क्या है? लेकिन मुझे सभी ने छोड दिया है।" इस प्रकार के उनके कटु वचन एक निकट के अधिकारी ने सुने थे।

भारत के नेतृत्व पद से उन्होने सन्यास ले लिया। उस वीर आत्मा का गर्व टूट गया। उन्होने राजा से पीठ दिखाने के लिए क्षमा मांगी और सकट से बचने का मार्ग अपनाया। जब उनका क्षमा-पत्र प्रकट हुआ, तब मैंने सिर कटने के समान घोर अपमान का अनुभव किया।

विक्टर इमेन्युअल होना उनके भाग्य मे नही लिखा था। उन्होने लिखा—"that the British will loosen their grasp is forgetting history"

अच्छे-से-अच्छे अँग्रेज की उनके लिए क्या कल्पना थी, इस विषय मे एक मनोरजक उदाहरण का मुझे स्मरण होता है:

१९०५ मे महाराजा साहब भारत-मन्त्री जॉन मॉले से मिलने गये। उस विषय मे मॉर्ले लिखता है—

"मालूम नही किस अज्ञात कारण से गायकवाड ने जाते-जाते अतिम बार मुझसे इडिया ऑफिस के बदले मेरे घर पर मिलने की इच्छा प्रकट की। कर्जन वाइली इसके कुछ विरुद्ध था। वह मानता था कि जरूरत के मौके पर इडिया ऑफिस के लाल कालीनो मे जादू का-सा चमत्कार है। चाहे आप इसे तुच्छ मानें, पर मेरा सिद्धान्त तो यह है कि जितनी कम गडबडी हो, उतना ही अच्छा।—Anything for a quiet life. अत विबल्डन मे मेरे 'टस्कन विला' मे यह राजा आया।

"मैंने उसे समझाया कि मुझे अफसोस है कि मेरे पास इक्कीस तोपें नहीं हैं, मेरे पास तो मुहल्ले के चोरो के लिए छ बोर की रिवाल्वर-मात्र है। मुझे विचार आया कि मेरी पुस्तको के अबार पर जो सत और ज्ञानी

बठ हैं, वे सब इस पौर्वात्य को उनके मध्य पाँच बजे की चाय पीते देखेगे, ता क्या सोचेगे ? परन्तु आतिथ्य के समय भी मै अपने मन्त्रि-पद को भूला नही और राज्य से लम्बे समय तक अनुपस्थित रहने के विरुद्ध मैने उसे वात्सल्य-भाव से समझाया ।"[1]

सचेत और लोकप्रिय राजनीतिज्ञ तथा विश्व-यात्रा करके दूरदर्शी बने हुए अग्रगण्य इस भारतीय के लिए स्वतन्त्रता प्रेम का आडम्बर रचने वाले मार्ले के तिरस्कार की क्या गिनती थी ! असहाय भारत ने ऐसे कितने ही अपमान के कडवे घूंट पिये थे, और यह तो उस समय का बहुत ही उदार माना जाने वाला अँग्रेज़ था ।

बाद मे महाराजा साहब के साथ मेरा परिचय कुछ बढा । १९३५ मे उनके हीरक-महोत्सव के अवसर पर बडौदा कालेज के भूतपूर्व ग्रेजुएटो ने उन्हें प्रीतिभोज के लिए बुलाया । उस समय उनका स्वागत करते हुए मैंने अपने हृदय के भाव इस तरह व्यक्त किये ·

जब हम कॉलेज मे आये थे, तब रूस-जापान युद्ध नही छिडा था, बंगभग नही हुआ था, राष्ट्रीयता ने प्रचण्ड स्वरूप धारण नही किया था । उस समय हमने महाराजा मे भारतीयता, बुद्धि, चारित्र्य और राजनीतिज्ञता की विजय देखी थी और आज तीस वर्षों की कठिन कसौटी के बाद भी हम इनमे इनका जीता-जागता उदाहरण देख सकते है कि भारतीय राज्य-कला-कौशल किस सीमा तक जा सकता है…"

ऐसे अवसरो पर भी मुझसे विनोद-भरी चुटकी लिये बिना नही रहा जाता । इससे कभी-कभी गलतफहमी भी हो जाती है और उस समय मुझे इसका ठीक-ठीक अनुभव हुआ । मैंने भाषण के बीच मे कहा—

"मैं आज जिनका स्वागत कर रहा हूँ, वे केवल एक राजा ही नही हैं, अपितु अर्वाचीन भारत के बडे-से-बडे कुशल शासक भी हैं । पूत के पाँव पालने मे ही नज़र आते हैं । विटिंग्टन के लिए कहा जाता था कि जिस कला से उसने बचपन मे बिल्ली पाली, उसी कला द्वारा उसने लन्दन

१ Morley's Recollections, Vol. II, P. 187

का विकास किया । महाराजा साहब के लिए भी बृद्धजन कहते है कि जिस अपूर्व कला से इन्होने 'कावलाण' मे गौएँ चराई थी, उसी कला ने इन्हे राज्य-सचालको मे अग्रगण्य बनाया ··दैव ने इन्हे आवश्यक स्वस्थ शरीर नही दिया···आठ हज़ार मील दूर रहकर भी इन्होने राजतन्त्र चलाने की कला मे निपुणता हासिल की ।"

परन्तु १९३५ मे जमाना बदल गया था । बडौदा मे भी गुजरातियो और मराठो मे वैमनस्य उत्पन्न हो गया था । परिणामस्वरूप विनोद-पूर्ण भाषणो से अपरिचित, भोज मे आये हुए लोगो को मेरा महाराजा के विषय मे इस प्रकार स्वतन्त्रता से बोलना अच्छा न लगा । मराठी पत्रो ने मुझे आडे हाथो लिया—"मैंने महाराजा साहब के प्रति गुजरातियो का द्वेष व्यक्त किया है । मैंने उन्हे उनकी गरीबा का स्मरण कराया है । विदेश मे रहकर वे राज्य की ओर ध्यान नही देते, ऐसा आक्षेप करके मैंने उनका अपमान किया है । मैं कलियुगी हूँ ।"

हँसें या रोयें ?

अर्वाचीन भारत के यह महारथी हमारे महाराजा, मेरे हृदय के कीर्ति-मन्दिर मे प्रतिष्ठित हैं, इसका उन्हे क्या पता ?

तीन

जून १९०७ के आरम्भ मे जब मैं एल-एल० बी० का अध्ययन करने बम्बई आया, तब से बम्बई का ही बन गया ।

सवेरे के समय चर्नी रोड पर उतरकर, मजदूर के सिर पर बक्स लादकर, मै पैदल चलता हुआ अपने सौतेले छोटे मामाओ के घर पहुंचा ।

मेरे ये तीन मामा पीपलवाडी मे एक दोहरे कमरे मे रहते थे । बडे मामा की बहू खाना बनाकर खिलाती थी और उनके यहाँ दो-चार मेहमान हमेशा ही डेरा डाले रहते थे ।

बडे मामा और मामी रसोईघर मे सोते और बाकी हम सब अगले हिस्से मे या छत पर सोते थे ।

अब मुझे बम्बई के जीवन का असली अनुभव होने लग गया। पीपलवाडी मे उस समय दो-तीन 'चालें'[1] थी। उनमे लगभग दो सौ परिवार रहते थे। नल पर हमेशा स्त्रियो की भीड लगी रहती थी और रोज के झगडे चलते रहते थे।

अधिकतर किरायेदार पैसे लेकर बिना परिवार वाले मेहमानो को रोटी खिलाते और चाल मे सुलाया करते थे। बिस्तरे के रूप मे उनके पास एक चटाई, एक गद्दी और एक कम्बल होता था। अधिकतर वहाँ सोने वाले धोती बिछाकर बिस्तर सजाते और बीडी पीते-पीते बडी रात तक गप्पे हाँका करते थे।

चारों तरफ गन्दगी, रसोई मे, और कटहरे मे। दोपहर मे बहुत सी स्त्रियाँ नीचे जूठन फेंकती थी। जगह-जगह कूडे के ढेर पडे रहते थे। कमरों मे पसीने की बदबू फैली रहती थी। सारे मकान मे रसोईघर और पाखाने की मिश्रित दुर्गन्ध से दम घुटता रहता था। चाल मे आने के लिए एक गली थी। वहाँ गटर का पानी खुले रूप से बहता था और बीच-बीच मे रखी हुई ईंटो पर पैर रखकर गली पार करनी पडती थी।

कोलाहलपूर्ण इस जन-समूह के आवास मे, ऊपर की मजिल वाले, निचली मजिल वालो के कानों मे सारा दिन 'नल बन्द करो' की आवाजें पहुँचाते रहते थे। नीचे से कच्चे आम बेचने वाले ऊपर वालो को सुनाने के लिए आवाज लगाते—'पायरी आफूस,' इसके जवाब मे हम कहते—'बैरी डफ्फूम' (स्त्रियो को खाने वाले) और मुँह मे आम का स्वाद लेते थे।

मैं बीमारी से उठा था। मैं हवा और रोशनी से भरपूर हवेली मे पला हुआ—तापी बहन का लाडला था, इसलिए मामी-मामाओं ने मेरे लिए जो कुछ हो सकता था, किया। अपने लडको से भी अधिक सुविधाएँ दी, जो लज्जावश मुझे स्वय अस्वीकार करनी पडी।

---

१ चाली या चाल—बडे मकानों में रहने के पंक्तिबद्ध छोटे-छोटे कमरे।

थोडे दिनों बाद एल-एल० बी० मे पढने वाले दो मित्रो के साथ मिलकर मैने निश्चय किया कि हम तीनो कमरा लेकर इकट्ठे रहे। हम तीनो कमरा तलाश करने के लिए निकले। जहाँ जाते, वही प्रश्न होता था—'स्त्री है क्या ?" "खटला हाय का ?" और हमारे 'नही' कहते ही हमे कोरा जवाब मिल जाता था। "हम अच्छे आदमी है"—हमारे इस प्रमाणपत्र की उनके लिए कोई कीमत नही थी। मेरे पुराने मास्टर[1] की बात सच थी—"स्त्री-हीन पुरुष विश्वसनीय कैसे हो सकता है ?"

अन्त मे कांदावाडी मे 'कानजी खेतसी' की चाल मे 'भैया' (चौकीदार) की मनाही की अवहेलना करके हम ट्रस्टी के पास पहुँचे, जो वही बैठे हुए थे। ट्रस्टी ने मेरा नाम सुनकर पूछा—"डाकोर मे जो अधुभाई मुन्शी थे, उनके तुम कोई सम्बन्धी होते हो ?"

"हाँ, मैं भतीजा हूँ," मैने कहा।

"भैयाजी," ट्रस्टी ने आज्ञा दी, "इनको अच्छी खोली (कमरा) दो।"

उन्ही चालो का एक दिन मैं ट्रस्टी बनूंगा, इसकी कल्पना मैंने उस समय स्वप्न मे भी नही की थी।

हमने जो कमरा लिया, उसके पास गरीब वर्ग के मारवाडी रहते थे। सुबह आठ बजे से लेकर रात तक पुरुष लोग काम पर जाते और चाल के हमारी ओर के हिस्से पर मारवाडिने राज्य करती थीं। इससे शाम को चार बजे तक हम लोगो को कमरे मे ही बैठे रहना पडता था। इस प्रकार हमारी स्थिति बडी दयनीय हो गई।

हमारा कमरा नल-पाखाने के सामने था। सुबह से नल पर स्त्रियाँ नहाना शुरू करती और नहाते समय दो स्त्रियाँ उनकी चौकीदारी करती, इससे हमे तो कमरे मे ही घुसे रहना पडता था। दोपहर मे वे सब चाल मे बैठकर बाल सँवारती। उस समय भी हमे दरवाज़े बन्द ही रखने पडते थे। वे आपस मे लडती-भिडती, बेहद शोर मचाती, पर दरवाज़ा खोलकर हम त्रिया-राज्य का तूफान देखने का आनन्द भी नही ले

१ आधे रास्ते, पृष्ठ १४५।

सकते थे।

इस भीड-भाड, इस दुर्गन्ध, इस दुखी और असह्य जीवन से मुझमे विचित्र-सा असतोष और रोष उत्पन्न हुआ। मुझे लगातार ऐसा भास होता रहा मानो बम्बई राक्षसो का स्थान है और मै यह विचार करने लगा कि इन्हे किस प्रकार वश मे किया जाए।

हम तीन मित्र साथ रहने को तैयार हुए थे, पर पहले दिन से ही हममे आपस मे मेल न हो सका। हम घर का सामान जुटाने लगे। चौकी-बेलना, पत्तल-दोने, दातुन और शाक खरीदने पर हम तीनो मे इस बिषय मे विवाद छिड गया कि कौन अच्छी-से-अच्छी वस्तु उठाकर घर ले चलेगा। मेरा मन खट्टा हो गया और मैं इन मित्रो के साथ अङ्ग सिकोडे हुए कछुए की तरह रहने लगा।

हम सवेरे उठकर थोडा पढते और दस बजे खा-पीकर सो जाते। दो बजे मैं कांदावाडी से निकलता। फणसवाडी मे 'दीडकी ची सिंगल' (एक पैसे की चाय) और 'दीडकी की लीमजी' (एक पैसे की लीमजी) खाकर पैदल चलते हुए पेटिट लायब्रेरी मे पहुँचता था। वहाँ दो-तीन घण्टे पढकर पौने छ: बजे तक 'लॉ कॉलेज' में हाजिरी देता और सात बजे पैदल ही घर वापस आता था।

हम तीनो सहपाठियो का साथ-साथ खाने का कोई नियम नही था। बडी कठिनाई से मिला हुआ रसोइये का लडका, ज्यादातर खुद खाकर जो कुछ हमारे लिए ढककर रख जाता था, उसी को मैं खा लिया करता था।

रात को हम तीनो मित्र कदाचित् ही कभी बातचीत करते। बिस्तर के नाम से मेरे पास एक चटाई थी। उसे बिछाकर उस पर लेटे-लेटे मैं थोडा पढता और फिर सो जाया करता।

उस समय पेटिट लायब्रेरी मेरा प्रेरणा-स्थान था। जहाँ तक याद है, दलपतराम के परिचय से लायब्रेरी के ऑफिस के किसी आदमी से परिचय हुआ और बिना फीस के मैंने लायब्रेरी को अपना घर बना लिया। हवा, प्रकाश और अन्य सुविधाओ वाले इस विशाल पुस्तकालय मे मैं

पहली ही बार ससार के साहित्य-सम्राटो का सम्पर्क खोजने लगा।

कुछ समय मैंने इतिहास लेकर एम० ए० करने का विचार किया, परन्तु शरीर की अशक्ति देखकर यह विचार स्थगित कर दिया और सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए साहित्य, इतिहास आदि विषयो का अध्ययन करने लगा।

मेरे मित्रो मे दलपतराम थे। हम प्रतिदिन कही-न-कही जरूर मिल लिया करते थे। अधिकतर हम साथ-साथ चलकर आया करते थे। उस समय वे अपने चार मित्रो के साथ पाँच छ रुपये महीने किराये की कोठरी मे रहा करते थे और कालवादेवी के एक होटल मे पाँच रुपये महीना देकर खाया करते थे। वहाँ प्रत्येक खाने वाले को अपना घी-दूध ले जाना पड़ता था। अनेक बार 'भैया' की दूकान पर खडे-खडे हम लोग कुल्हड मे दूध पीते और भोजनालय मे खाना खाने जाया करते थे। दलपतराम की घी की शीशी मेरे कारण फुरती से खाली होती। अनेक बार रात को मैं अपने कमरे मे जाने के बदले उनके कमरे मे ही सो जाया करता। रात को भोजन के बाद अनेक बार हम चौपाटी पर घूमने जाते और दो-चार पैसो की गँडेरियाँ लेकर चूसले-चूसले बारह बजे तक बातें करते। मैं दलपतराम को अपनी पागलपन से भरी बाते सुनाता। उस समय मुझे मेरी अल्पज्ञता अग्नि की तरह जलाती।

मेरे लिए बडा प्रश्न खर्च का था। उसका मैंने हल निकाला। बडौदा कॉलेज से मुझे एल-एल० बी० की पहली परीक्षा मे प्रथम आने के कारण अम्बालाल साकरलाल पारितोषिक और बी० ए० मे प्रथम आने के कारण 'इलियट' पारितोषिक मिले थे। दोनो पारितोषिक पुस्तको के रूप मे मिलने वाले थे। दलपतराम किसी पुस्तक बेचने वाले के साथ सौदा कर आये। मैने पुस्तके देखी, उनकी सूची बनाई। पसन्द न आने वाली पुस्तकें वापिस करने की शर्त करा ली। सूची कॉलेज मे भेजकर रुपये मँगाए। उन पुस्तको मे से अधिकाश पुस्तकें उस दूकानदार को वापिस कर दी और इस प्रकार मैं सौ के लगभग रुपये साधारण खर्च के लिए प्राप्त कर सका।

हमने निश्चय किया कि दलपतराम की तरह मैं भी लडकों को पढा-

कर पैसे प्राप्त करूं। दलपतराम एक दिन खबर लेकर आये कि भडौच ज़िले के एक व्यापारी के यहाँ शिक्षक की आवश्यकता है। एक दिन शाम को दलपतराम के साथ मैं वहाँ गया। दलपतराम ने मेरा परिचय कराया और साथ-साथ यह भी कह दिया कि माणिकलाल मुन्शी डिप्टी कलक्टर थे, उन्ही का मैं पुत्र हूँ।

"अच्छा, वही जो अकाल के समय डिप्टी कलक्टर थे ? मैं उनसे अच्छी तरह परिचित था। जब भडौंच जाता, तब मिला करते थे। बडे अच्छे आदमी थे। आपका क्या हाल है ? खुश तो है न ? आपकी माताजी कैसी हैं ?" सेठ ने कहा।

मेरे माथे पर पसीना छूट पडा। ट्यूशन की बात करने का मुझमे साहस न रहा। इधर-उधर की बाते करके हमने वहाँ से विदा ली। सेठ ने हमे बडे प्रेम से विदा किया और कभी-कभी मिलते रहने का आग्रह किया।

उस दिन से लडको को पढाकर पैसे कमाने की मेरी आकाक्षा लोप हो गई। इसके पश्चात् दलपतराम मुझे 'इन्दुप्रकाश' पत्र के ऑफिस मे ले गए और वहाँ मुझे अँग्रेज़ी 'प्रूफ' देखने का काम मिल गया।

दो-तीन महीनो मे ही मेरे पेट मे दर्द शुरू हुआ। एपेण्डिसाइटिस उस समय जानी हुई बीमारी नही थी। इसलिए जब दर्द उठता था, तब बदहजमी समझकर मैं राई का प्लास्टर रख लेता, जुलाब ले लेता और मुँह मे रूमाल रखकर—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुखदा ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तास्तितिक्षस्व भारत ॥[1]

का जाप करके, उस वेदना को सह लेता था।

एक दिन मैं किसी विदेशी थियोसोफिस्ट महिला का भाषण सुनने गेइटी थियेटर मे गया। वही मुझे पेट मे दर्द शुरू हो गया। मुख मे

१. हे कौन्तेय ! इन्द्रियों के स्पर्श सरदी, गरमी, सुख और दुख देने वाले होते हैं। वे अनित्य होते हैं, आते हैं और जाते हैं। उन्हें तू सहन कर। श्रीमद्भगवद्गीता, अ० २, श्लो० १४।

रूमाल दबाकर मैंने जैसे-तैसे भाषण सुना और वहाँ से अकेला रास्ते मे बैठता हुआ, थोडी-थोडी देर मे उलटी करता हुआ बडी देर बाद घर पहुँचा। उस समय मेरे मित्र सो रहे थे। इस दर्द को सहते-सहते मै सारी रात तडपता रहा।

इस प्रसग की या ऐसे ही किसी अन्य प्रसग की एक दिलचस्प बात याद आती है। उस सभा के सभापति सर गोकुलदास काहनदास थे। व्याख्यानदाता का नाम मिस लिनियल एडगर या ऐसा ही कुछ था।

गोकुल काका हमेशा आँखे बन्द करके भाषण देते थे। उस अवसर पर भी उन्होने व्याख्यानदातृ का परिचय देना शुरू किया—

"Ladies and Gentlemen,

The learned lecturer is a distinguished Theosophist. He was born in Australia ' लोग जरा हँसे और काका बोलते गए—"He"·· लोग फिर हँसने लगे। "studied at · " "He" उनके मुँह से निकला और सारी सभा के लोग ठहाका मारकर हँसने लगे। काका ने आँखे खोली। "He Oh, I mean she, left for England—" और हँसी का पार न रहा।

मैं जिस प्रकार का जीवन बिता रहा था, वह एकदम नि सार नही था, इसका विश्वास दिलाते हुए मेरी डायरी मे एक जगह लिखा है—

"कुछ महीनो से मेरे मन मे बडे ही उदात्त विचार उठ रहे है, परन्तु मेरा भविष्य बिलकुल अनिश्चित् है। साधन न होने से सिविल सर्विस रह गई, आत्म-विश्वास न होने से सालिसिटर बनना स्थगित कर दिया। अब बाकी रह गया है एल-एल० बी० ऐडवोकेट होना। वकालत के काम मे मुझे यश मिलेगा ? अभी तो कुछ भी नही कह सकता। यह काम बहुत ही अनिश्चित और कठिन है। इस पेशे मे भीड़ भी बहुत है। मुझमे और कौनसी बडी शक्ति है ? चाहे जिस प्रकार भी हो, मुझे लगन और परिश्रम से जुटना पडेगा।" २७-६-१६०७

१६०७ के दिसम्बर मास मे जब सूरत मे काग्रेस हुई, तब हम सब

दाराशा के घर ठहरे। हम लाल-बाल-पाल के कैम्प मे स्वयसेवक बने। उस प्रसग का सारा वर्णन मैंने 'स्वप्नद्रष्टा' मे किया है।

चार

प्राणलाल भाई ने बी० ए० पास किया और १९०८ मे हम दोनो एक तीसरे मित्र के साथ गिरगाम बैक रोड पर कमरे लेकर साथ-साथ रहने लगे। स्थान पहले की अपेक्षा अच्छा था और सगति भी अच्छी थी, अत हम तीनो मित्र चैन की जिन्दगी गुज़ारने लगे।

लगभग प्रत्येक बुधवार या शनिवार को सुबह या दोपहर मे मैं नाटक की बात चलाता। उसका विरोध करते हुए प्राणलाल भाई कहते—"बाप के पैसे खराब होते हैं।" फिर गाना-बजाना शुरू होता। रात को नाटक मे चला जाए या नही, इस पर विवाद छिडता और महीने बाद हिसाब लगाया जाता कि नाटक मे कितने पैसे खराब किये।

रात को खा-पीकर घूमने निकलते। बीच मे खीचतान शुरू होती और अन्त मे साढे नौ बजे तक हम किसी नाट्यशाला मे पहुँच जाते।

१९०५ से १९१२ तक बम्बई की रगभूमि एक प्रकार से अद्भुत थी। बिजली-बत्तियो की जगमग, कीमती दृश्य-सामग्री की चमक-दमक, छप्पर उडा देने वाले बन्दूक के धडाके, चिल्लाहट और पाउडर थोपना, चने-मुरमुरे फाँकने के समान, सरलता से किये जाने वाले खून, प्रत्येक पुरुष-पात्र के सिर पर अँग्रेजी स्टुग्रर्ट राजाओ-जैसे नकली लम्बे बाल, जो न अँग्रेजी, न तुर्की और न भारतीय होते थे—ऐसे वेश मे आने वाले इन्द्रादि देव, क्रूरता और पापाचार का अस्वाभाविक और अमर्यादित प्रदर्शन, ये सब बेजोड़ तत्त्व वहाँ होते थे। वास्तव मे देखा जाए तो आज की हमारी रंगभूमि पर दीखने वाली वस्तुएँ पचास वर्ष पहले बालीवाला को स्थापित किये हुए रंगभूमि-ससार के प्राणहीन अस्थि-पिंजर है। आज इन अस्थि-पिंजरों को देखकर मेरी रस-वृत्ति मूर्छित हो जाती है। बालीवाला, काउखटाउ, मुहम्मद अली, अमृत केशव नायक, उसका

भाई वल्लभ और मास्टर मोहन—ये सब केवल नट ही नही, वरन् आटरोड की रगभूमि के विश्वकर्मा थे। उस अस्वाभाविक सृष्टि मे भी प्राण डालने की उनमे कला थी।

बालीवाला के 'हरिश्चन्द्र', काउखटाउ के 'हेमलेट' (खूने नाहक), मुहम्मद अली के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' (उर्दू नाम याद नही), अमृत के 'जहरीला साँप' (भेरी साँप), मोहन के 'फाँकडो फितूरी (बाँका फितूरी) आदि मे अपार आकर्षण था। किन्तु इन सब नटो के अभिनय मे अपार कृत्रिमता थी। भगी हरिश्चन्द्र बना हुआ बालीवाला हाथ मे डडा पकडकर 'प्यारी तारा' कहकर आवाजें लगाता, वृद्ध काउखटाउ नौजवान हेमलेट बनकर अन्य पात्रो के मुसलमानी वेश धारण करने पर भी स्वय यूरोपीय वेश मे सज्जित होता, मोटी फटी हुई आवाज मे बोलता और छलाँगें मारता हुआ चलता। परन्तु फिर भी वे अपने व्यक्तित्व से सबको मुग्ध करते थे। अमृत केशव नायक नटो मे श्रेष्ठ था। वह प्रत्येक रूप धारण करता और सभी वेशो मे लोगो का मन हरण करता था। रगभूमि के नाटको का कथानक भयकर और वार्तालाप बडा लम्बा होता था।

इन सबमे भी उसकी नाट्य-कला शोभित होती थी। बीड़ी के धुएँ से घिरे हुए आठ आने वाले दरजे मे बैठकर मैंने पन्द्रह-सोलह बार 'जहरीला साँप' नाटक देखा होगा। उसमें एक सोलह वर्षीय नाजिर नाम का लडका, लडकी का पार्ट करता था। उसकी आवाज जैसी माधुर्यपूर्ण और हृदयबेधक थी, वैसी मैंने फिर एक ही बार और सुनी थी और वह थी रोम के ऑपेरा मे एक नटी की आवाज।

इस नाटक मे गौहर अभिनय करती थी। उस पर हम सब लट्टू थे। उसके गाने 'देखूंगी प्यारे अब्बा का मुखडा' को गा-गाकर तो हमारे दिन बीता करते थे।

यह रगभूमि सर्कस या जादू के खेल की तरह आकर्षक थी। मुझ पर उसका कोई गहरा असर नही हुआ। उसने कुछ भी वास्तविक नही

था, और उसी नाट्य-प्रणाली पर खेले जाने वाले गुजराती नाटको मे मुझे आज भी कोई दिलचस्पी नही ।

गेइटी थियेटर के सस्मरण बिलकुल धुंधले हैं। उस समय वहाँ 'सौभाग्य सुन्दरी' का ही बोलबाला था। सोलह-सत्रह वर्ष की अपूर्व 'सुन्दरी' (जयशकर) गुजरातियो की आँखो की पुतली के समान थी। जब वह रगमच पर आती, तब वहाँ सोने के कडो और अँगूठियो की वर्षा होने लगती थी। उसकी चाल और नखरे देख-देखकर गुजराती गृहिणियाँ अपने घरो मे पतियो को वश मे करने के तरीके सीखा करती थी। उसके स्वप्न देखकर वृद्धो मे फिर यौवन आ जाता था।

जबकि आज भी—

'मारा तन मा मन मा भर्यो छे भय, ठर्यो छे भय, जावुं गज जोती !' गाता हूँ, तब 'सुन्दरी' मेरी दृष्टि के सामने खडी होती है, लावण्यमयी, नखरेवाली गुजरातिन के आदर्श के समान, जिस आदर्श को आज भी कदाचित् ही कोई गुजरातिन साध्य कर सकी है। 'कामलता' नाटक के अनेक गीत तो काव्य ही है, और वे मेरी भाव-समृद्धि मे गुँथ गए हैं

"जेवी मने दीधी त्यजी, तेम बीती ने तजशो नहि,
कोई प्रीतिवश अबला बिचारी भोली ने ठगशो नहि।"[1]

इन पक्तियो को मैं जब भी सुनता या गाता, तभी मेरी आँखो मे पानी भर आता और मुझे ऐसा भास होता जैसे 'देवी' इन पक्तियो को गाते-गाते मरने लगी है। इन पंक्तियो से प्रेरित कल्पना-चित्रो से ही 'वेरनी वसूलात' मे तनमन की मृत्यु का दृश्य निर्मित हुआ हो, तो कोई आश्चर्य की बात नही ।

पाँच

बचपन मे मैं जिस बालिका के साथ सचीन मे खेला था, उसकी

---

१. जैसे मुझे त्याग दिया, वैसे दूसरी को भी मत त्यागना। ना ही प्रीत से विह्वल किसी बेचारी भोली अबला को ठगना।

स्मृतियो द्वारा मेरी कल्पना ने 'देवी' का निर्माण कर लिया था। उस कल्पना-मूर्ति के चारो ओर मैने एक छोटी-सी सृष्टि की रचना की थी और उसमे मैं सुख-दुख—दोनो का अनुभव करता था। मेरी कल्पना-विलासी भावनाएँ उस सृष्टि के द्वारा व्यक्त होती और उनके कारण होने वाले दुखो को—जोकि मेरे ही पैदा किये हुए होते थे—जीतने के लिए मुझे अथक प्रयत्न करना पडता।

आज ढेर-से पत्र और अकित की हुई बाते इस सृष्टि की साक्षी देती हैं। समकालीन अश्रुओ और नि:श्वासो से भीगी हुई उस सामग्री का उल्लेख किये बिना मेरे विकास की दशा को समझना असम्भव-सा है।

१९०७ मे जब मैं बम्बई आया, तब मुझे 'देवी' की बहुत ही याद आया करती। जब तक पेटिट लायब्रेरी मे पढता रहता, तब तक मैं उससे बचा रहता, बाकी समय मै अकेलेपन से अकुलाया करता। कोई भी सुन्दर लडकी दिखाई पडती कि तुरन्त मुझे विचार आता—कही 'देवी' तो नही आ गई, और विचार गलत सिद्ध होने पर मुझे आघात पहुँचता। जब डाकिया द्वार खटखटाता, तब उसका पत्र आने की कल्पना से हृदय धडकने लगता और मेरे तरसने मे भारी अकुलाहट भर जाती।

मैं 'देवी' के साथ आठ वर्ष तक खेला था। १९०३ मे चार दिनों के लिए उससे फिर मिला था। उसके बाद मैने उसके विषय मे कुछ नही सुना। यद्यपि वास्तविक वस्तुस्थिति की याद बनी ही रहती थी, तथापि कुछ झूठी-सी मालूम देती थी, और यह तरसना सच्चा जीता-जागता बन जाता था। धीरे-धीरे 'देवी' सस्मरण-मूर्ति न रहकर सदा की सहचरी बन गई।

"हो मने भूली गयो छे मारो छेलडो रे।"[1]

इस गीत की पक्तियाँ बोलते ही मेरा काल्पनिक साहचर्य शुरू हो जाता था। सारा समय मै मीराबाई के भजन गा-गाकर भावनाओ को बहलाया करता। जब अपने अकेले जीवन से अकुला उठता, तब चर्नी रोड से

---

१. मुझे मेरा प्रियतम भूल गया है।

विरार का टिकट लेकर दोपहर की गाडी मे बैठ जाता। विरार पहुँचकर लौटती गाडी से चर्नी रोड आ जाता। दोनो बार मैं कोई खाली-सा डब्बा देखकर बैठता। उस समय मुझे भ्रम होता कि 'देवी' मेरा साथ दे रही है और मैं नाटक के गीत गा-गाकर प्रेम-सवाद करता। यह कल्पना-विलास मेरे उस समय के विषम जीवन का उल्लास और प्रेरणा बन गया।

मन जब बहुत उद्विग्न होता, तब अधिक रात तक बैठकर मै कागज़ पर अंग्रेज़ी मे हृदय के भाव व्यक्त करता। इस प्रकार लिखे हुए अनेक भावो मे से कुछ मेरी उस समय की मनोदशा का परिचय देगे—

"किसने सोचा था कि मैं ऐसी दीन स्थिति को पहुंच जाऊँगा ? अपने स्वभाव के कठोर शासन की सीमा मे ही मुझे जीना है। मुझे किसी प्यार देने वाले की आवश्यकता है। प्यारहीन अकेली जिन्दगी मुझसे सही नही जाती।

"मेरे हृदय की वृत्तियो को मित्र क्या सन्तुष्ट कर सकेगे ? क्या वे विश्वास और सम्बन्ध के योग्य सिद्ध होगे ? या मेरे दीन हृदय को पल-भर बहलाकर फिर उससे द्रोह करेगे ? निर्बल, पागल मनुष्य की तरह मैं चारो ओर लिपटने के लिए छटपटाता फिरता हूँ, परन्तु यदि कही किसी अपात्र पर विश्वास कर बैठा तो ? आशाहीन इस स्नेह-तृष्णा की वेदना को मैं किससे कहूं ? मुझे दूसरो के सुख से बडी ईर्ष्या होती है। दुनिया ने मुझे क्रूरता से दूर धकेल दिया है। मैं किस प्रकार इसका बदला लूं ? मैं अकेला पैदा हुआ हूँ। अकेला और दुखी ही मरने के लिए मेरा सृजन हुआ है ?"

१९-३-१९०८

फिर दूसरे दिन इस प्रकार लिखा है—

"कोई मेरी सहायता नही करेगा ? मैं स्नेह बिना मरा जा रहा हूँ ! मैं हृदय-विहीन ही क्यों न उत्पन्न हुआ ? दुनिया मे कोई ऐसी शक्ति नही है, जो मेरा अन्त कर दे ? अनेक बार दीवार के साथ सिर टकराकर प्राण देने की मेरी इच्छा होती है, परन्तु दुष्ट गर्व मुझे रोक लेता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जीवन मिला है, तो उसका कर्तव्य पूर्ण

करने में ही बहादुरी है।"

'देवी' के साथ मैं वार्तालाप करता था, इसका एक जगह उदाहरण है। उसमे मैं 'देवी' के रूप मे अपने को प्रणय-वचन से सम्बोधित करता और अपनी सृजनात्मक कला की नीव डालता हूँ—

"मैं अकेली थी। मुझे बन्धन बाँधते नही थे। शृङ्खला मुझे जकडती नही थी। अकेली और शोक-ग्रस्त मैं अपने मार्ग पर चलती थी।

"गहरा, घना अन्धकार मेरे चारो ओर फैल रहा था। अपने लग्नेश ग्रह को शाप देती हुई मैं अन्धकार मे डूब जाती।

"तेज की केवल एक किरण मेरे पथ को आलोकित करती थी, मुझे आश्वासन देती थी।

"एक तारा चमका, टूटा, देव का दूत उतर आया। मैं भ्रमित हो गई। भ्रम को दूर करने के लिए मैंने बडे प्रयत्न किये, परन्तु मैं निष्फल रही। अपने माधुर्य से उसने मुझे सीचा, प्रेम के सुनहरे तार से मुझे बाँध लिया। उसने मेरी ओर हाथ बढाया, मुझे उठा लिया, डूबने से बचा लिया, अब मुझ पर निराशा हावी नही हो पा रही थी।

"मैं सुखी हो गई। जीवन अब शुष्क नही रहा। मेरी भावना अब मृगतृष्णा नही थी, उसमे अब मेरी तृषा मिटाने वाला रस भरा था।

"नाविक-बिना गोते खाती हुई, मार्ग भूली हुई अपनी नाव मैंने उसे सौंप दी। यह नौका, सरकती, हँसती हुई उसके जादू-भरे स्पर्श से तरङ्गो पर सहर्ष नाचने लगी।

"जीवन अब असह्य नही था। वह मेरे पार्श्व मे था। अब मुझे अपने जीवन का लक्ष्य मिल गया था, मुझे अपने देवदूत के योग्य बनना था। स्वागत करते हुए उसके हाथो मे मैं समा गई और पहले की अपेक्षा अधिक सरस बन गई। जीवन मे तेज आ गया। उसने मुझे वह सब दिया, जिसकी मुझे आवश्यकता थी, जिसके लिए मैं तडपा करती थी।

"उसका नाम था प्रणय।

"बहुत समय बाद मैंने सुख देखा। मैं उससे मिलने को सदा तरसा

करती। बिछुडने पर अधीर बन जाती। मिलन ही मेरा एक-मात्र आनन्द था। सारा दिन दूर से सुनाई देती हुई उसकी पग-ध्वनि या मधुर शब्दो की आवाज़ मेरे हृदय के तार-तार को झकृत करती रहती। रात को अन्तर दूर होता और मैं स्वप्न मे उसके साथ जा बसती।

"उसके स्पर्श की ऊष्मा से मैं फूलती-फलती। परन्तु मैं स्वार्थिनी थी, मूर्खा थी, अधिकाधिक माँगने की मुझे आदत पडी हुई थी। उससे मिलने के लोभ मे मैं एक बार ही पागल हो उठी। वह लापरवाह नही था, फिर भी उसकी कल्पित लापरवाही मेरे लिए असह्य हो उठी। मै क्रुद्ध हो गई। आवेश मे आकर मैं चण्डी के समान लडने को तत्पर हुई—

"ओह! उसे जाने क्या-क्या कहते हुए मेरी दुष्ट जिह्वा कट क्यो न गई?

"उसके मुख से हँसी लोप हो गई। वह काँपने लगा। उसने नि:श्वास छोडा। उसके ओठ फडकने लगे। कपोल पर से एक अश्रु-बिन्दु ढुलक पडा। उसे ऐसा लगा कि मैं उसे त्याग दूँगी। .

"बाद मे—बहुत पीछे जाकर मुझे पता लगा कि मैंने उसे ठेस पहुँचाई थी।

"मैंने क्षमा के लिए याचना की। क्या मैं इतनी क्रूर थी? क्या मेरी भूल अक्षम्य थी? ओह! किसलिए—किसलिए ऐसी भूल करने से पहले मैं मर न गई?

"मैं रोती हूँ···मैं थर-थर काँपती हूँ··क्या वह मुझे क्षमा नही करेगा? वह लौटकर नही आयेगा? मेरे गरम-गरम आँसू भी मेरे उस अपराध को नही धो सकेगे?

"प्यारे पछी! आ, लौट आ। तेरा स्वागत करने को तेरा पिंजरा राह देख रहा है।

"मैंने उसे प्रणाम किया, उसने उत्तर दिया। परन्तु उसकी आवाज़ मे से लगावट चली गई थी। उसका मस्तक धीरे से झुका। आँखे स्थिर भाव से देखती रही, और खेदपूर्वक हम एक-दूसरे से अलग हुए।

"पहले के उत्साह से आप्लावित अभिवादन का चैतन्य कहाँ गया?

पहले की स्नेहसिक्त विदा की आकुलता कहाँ गई ? कहाँ गया वह अचल भक्ति के शिलालेख के समान न भूलने वाला हस्त-स्पर्श ?

"अरे प्रियतम ! मुझे चेत नही है। मै मरने को पडी हूँ। काली रात मेरा गला घोट रही है। तू मुझे क्षमा नही करेगा ? पहले-जैसा बन जा, मुझे और तो कुछ भी नही चाहिए।

"अतीत को भूल जा। मैं निर्बल थी" स्वच्छन्द थी" हाँ, थी। परन्तु मेरा अपराध एक ही था, मेरे प्रेम की सीमा नही थी। तेरे बिना मैं जीवित नही रह सकती थी।

"मैं निर्बल हूँ, मुझे सशक्त बना, मैं मूर्खा हूँ, मुझे समझ दे, परन्तु मेरा त्याग न कर और यदि अब भी निष्ठुर ही बने रहना है, तो अपने प्रेमपूर्ण वक्षस्थल पर मुझे मर जाने दे।

"मेरी याचना का तिरस्कार न करना, मेरा सुख तेरे हाथ मे है। अब भी नही मानेगा ? यदि अब भी मेरे अपराध को अक्षम्य समझ रहा है तो याद रखना कि मेरे जीवन की जिम्मेदारी तेरे सिर होगी। मैं प्राण दे दूँगी, तो इसका दोषी तू ही होगा। परन्तु, नही'''मुझे आशा है कि वह दिन अवश्य आयेगा, जब तू फिर मेरी ओर देखेगा।

"प्रियतम, तेरे प्रेमपूर्ण हृदय को मैं जानती हूँ। उसमे मेरा स्थान है। चाहे मै भूलूँ, चाहे गिरूँ, परन्तु वही मुझे आश्रय मिलेगा—जिस प्रकार मेरे हृदय में सर्वदा तुझे मिलेगा, उसी प्रकार।

"मेरे प्रियतम, वह क्षण अवश्य आयेगा, जब हम दोनो के हृदय एक होकर नाचेंगे। तब हम एक-दूसरे के सग मे जगत् को और जगत् के दिये हुए दु खो को भूल जाएँगे। फिर किसलिए विलम्ब कर रहा है ? प्राण, उस धन्य क्षण को किसलिए दूर ठेल रहे हो ? आओ, हम दो है, दो से अब एक बन जाएँ।"

जब मैं बहुत उद्विग्न हो जाता, तब गीता के श्लोको को दुहराने में अपने रोग का निदान खोजता। मैंने गीता का अध्ययन नही किया था, केवल कुछ श्लोको का जाप कर-करके स्वस्थ मनोदशा प्राप्त करने का

ृत्न करता था । इस प्रकार अनजाने मे मै जपयज्ञ[1] की प्रबल शक्ति से सहायता लेता। उस समय कार्लाईल से भी बहुत प्रोत्साहन मिला।

एक जगह अङ्कित किया है—

"कार्लाईल मेरा परम मित्र बन गया है। उसने मुझे बडी हिम्मत दी है। उसकी सहायता से मुझमे हाथ-पैर चलाने की शक्ति आ गई है। अन्त तक मैं हाथ-पैर चलाता रहूँगा।"

उस समय के मेरे अस्वस्थ मन की साक्षी देती हुई एक दूसरी टिप्पणी है, जिसमे मैं आत्म-परीक्षा करता हूँ—

"प्रमाद और आलस्य की सन्तान ! तू समय का कितना अपव्यय करता है ? तुझे अपनी ज़िम्मेदारी का कुछ ध्यान है ? तूने स्त्री की तरह रोना सीखा है ! लडकियो की तरह पल-पल मे निराश होता है ! तुझे किसी के आधार की आवश्यकता है ! अपने निर्बल हृदय को स्थिर करने वाले की ज़रूरत है !

"फिर-फिर वही आवाज तेरे कानो मे सुनाई पडती है—यह सब किसके लिए ?

"तू इतना निर्बल है कि अकेले जीवित भी नही रहा जाता ? जब तेरा जीवन-क्रम रचा गया, तब किसकी सहायता ली गई थी ? तूने किसका हिसाब जोड़ा था ? स्वस्थ हो, साहस-हिम्मत से अपनी भावना सिद्ध करने का प्रयत्न कर।" २२-६-१६०८

पुन निराशा की चाप सुनाई देती है। आत्मघात के विचारो से मैं हृदय मे खेलता हूँ।

"मेरे कानो मे हमेशा आवाज सुनाई देती है कि मैं मरने जा रहा हूँ। इस ससार मे रहने की अपेक्षा मरना अधिक अच्छा है।

"मेरी नजर के आगे दृश्य बनता है। मेरी आँखें बन्द हैं। मेरी चिता के आसपास आग देने वाले खडे हैं। चिता का धुआँ, मुझमे जो

१. जैसे लिखा है—यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।
श्रीमद्भगवद्गीता, अ० १०, श्लो० २५।

कुछ है, उसे ले जाता दीख रहा है। मुझमे बसने वाला 'कोई' पुकार रहा है कि इस स्थूल के सकीर्ण मार्ग मे मैं किसलिए भटक रहा हूँ ? क्यो नही इन पार्थिव बन्धनो को तोड डालता ? क्यो नही इस दुखी जीवन को, उकता देने वाले चक्र को, अन्तिम नमस्कार कर देता ?

"मैं जीवित रहने योग्य नही हूँ। मुझे ससार के प्रति आकर्षण नही रहा। जो भावना पृथ्वी पर मनुष्य को सुखी करती है, वह अब लोप हो गई है। क्षणिक आनन्द और चिरजीवी निराशा के बीच मेरा जीवन झकोरे खा रहा है। इसके चारो ओर गहन अन्धकार छा गया है।

"अनेक बार मैं अपनी शैया मे तडपा हूँ, और मैने मृत्यु की कामना की है। मुझसे कही अच्छे और शक्तिशाली मनुष्य मर जाते है, किन्तु मै ही क्यो जी रहा हूँ ?

"फिर-फिर यही विचार मेरे मन मे क्यो आते हैं ? जब मैं अपनी बीमारी से उठा, तब मुझे लगा था कि मेरे जीवन का गया हुआ रस फिर लौट आया है परन्तु नही, एक वर्ष तो बीत भी चुका है, फिर भी मै ज्यो-का-त्यो हूँ। मेरा और ससार का क्या सम्बन्ध रह गया है ? कुछ भी नही। मुझे ससार ने क्रूरता से दु ख दिया है। मुझे किसलिए यहाँ अधिक जीना चाहिए ? 'हेमलेट' मे शेक्सपियर नायक से कहलाता है कि ईश्वर ने आत्मघात न करने की आज्ञा दी है। परन्तु नही, ईश्वर ने कभी ऐसा नही कहा। यह तो हम लोग ही कहा करते है। मृत्यु मुझसे दूर भाग जाती है। प्लेग भी मुझसे दूर भागता है। रोग भी मुझे मृत्यु के समीप नही ले जाता। मैं कहाँ घसीटा जा रहा हूँ ? शक्ति-धारा के चुक जाने पर मृत्यु को निमन्त्रण दे सकूँगा, यह आशा नही रही। जान पडता है, मेरे जन्म के समय किसी ने मुझे शाप दिया था कि—'प्रत्येक सुख से वंचित होकर तू दुखी जीवन व्यतीत करेगा।'

"इस जीवन-व्यवहार का हेतु क्या है ? तुच्छ विजय को प्राप्त करना ? लोकप्रियता पाना ? नही, नही। मृत्यु की शरण मे जाना ही श्रेयस्कर है।

"किसलिए तडपते हुए रहा जाए ? निराश होकर बीमार की तरह घूमने की अपेक्षा समय पर आत्मघात कर लेना क्या बुरा है ?"

१८-१०-१९०८

१९०९ के उद्धरण पुन:-पुन शक्ति के लिए प्रार्थना करते हैं—

"इस विशाल ससार मे मेरा कौन है ? मैं किसका हूँ ? पृथ्वी की दिशाएँ उत्तर देती हैं—कोई नही !

"यह दु ख का भार कब तक वहन किया जाए ? जब मैं दूसरो को प्रवृत्तिपरायण, सुख और सुयोगो का भोग करते देखता हूँ, तब मुझे विचार होता है कि मौत क्यो नही आती ?

"इस अरण्य-समान पृथ्वी के लिए मेरे मन मे मोह नही रहा। प्रतिकूल लोगो से मैत्री मुझे शान्ति नही देती। क्या मुझे अन्त तक दु ख-ग्रस्त और अकेला रहना पडेगा ?

"अपनी उमड़ती हुई अभिलाषाओ का मुझे गला घोट देना पडता है। अपनी बढती हुई महत्वाकाक्षा को भी मुझे दबा देना पडता है। अपने क्रातिकारी हृदय को भी कुचल देना पडता है। मुझे हिम की तरह कठोर सयम धारण करना पड़ता है और करना पडेगा—कुछ दिनो के लिए नही, कुछ वर्षों के लिए नही, वरन् दस, बीस या पचास वर्षों के लिए।

"मैं अपने-आपको निष्प्राण यन्त्र की तरह क्यो नही बना सकता ? इसके बिना मेरा उद्धार नही है। मेरे पास सब-कुछ है, पर एक वस्तु नही है, और क्योकि यही' एक वस्तु नही हैं, इसलिए कुछ भी नही है। 'सुख' शब्द मुझे कितना कर्कश मालूम देता है ! मेरे लिए सुख है ही कहाँ ? सब दु ख का रूप धरकर आते हैं। परन्तु क्या मुझे इनसे डरना चाहिए ? नही, चाहे श्रम से मैं मर जाऊँ, पर हार स्वीकार न करके कठोर श्रम को ही अपना साथी बनाऊँगा। मुझे किसी मनुष्य की सहायता नही चाहिए। जिस संसार ने मेरे सुख-स्वप्न अधूरे रख दिए और आज मुझे इस दशा तक पहुँचा दिया, उसकी मुझे क्या परवाह हो सकती है ?

"मूर्ख आत्मा ! सुख के विचार छोड, मेहनत कर ! अन्त मे तेरी क्षीण होती हुई शक्तियो को मृत्यु और विनाश के सामने हार ही जाना है।"
२६-३-१९०९

'देवी' के सस्मरणो से शक्ति प्राप्त करने का नुस्खा भी चल रहा है:

"यह मै कैसे जाल मे फंस गया हूँ ! श्रम करने की शक्ति भी नही रही। व्यायाम छोड दिया, पढना छोड दिया, हाथ-पर-हाथ रखकर बैठना शुरू कर दिया। यह मूर्खता है। जब तक श्वास है, तब तक बहादुरी से क्यो न जीवित रहा जाए ?

"यह नशा कब उतरेगा ? प्रयत्न न करना और अधमता मे पडे रहना ! कायर ! तू मरने की आशा कर रहा है, पर मृत्यु के बदले रोग लग गया, तो ? तेरा कोई मित्र नही है, कोई अभिन्न नही है जो प्रेम से तेरी मदद करेगा। जब तेरी बुद्धि क्षीण होगी, तेरी शक्तियाँ विनष्ट होगी तब क्या ससार तेरी ओर देखकर हँसेगा नही ? और यह तुझे कभी अच्छा लगेगा ?

"नही···कभी नही। मुझे स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहिए, विजय मिलने तक प्रयत्न जारी रखना चाहिए, मरना तो है ही, फिर जब तक जीवित हूँ—जब तक देह-यत्र टूटता नही, तब तक वीर की तरह डटे रहना चाहिए।

"देवी ! मैं तेरे योग्य बनने के लिए जीऊँगा। एक भी ऐसा काम नही करूंगा जो तेरे योग्य नही होगा, और कुछ नही तो तेरी याद के सहारे ही जिऊंगा।'
२१-४-१९०९

कुछ महीनो बाद का एक दूसरा उद्धरण पुन. मेरी विह्वलता की ओर इशारा करता है—

"अकेले जीवन मे रिक्तता भर गई है। हृदय थक गया है। ईश्वर ने जैसी सृष्टि रची है, मेरे लिए वह वैसी नही रही। सम्पूर्ण प्रवृत्तियो पर अन्धकार छा गया है। उस धन्य क्षण की मैंने बडी प्रतीक्षा की, जब दूर से आती हुई किरण मेरे सूने हृदय मे प्रकाश डालेगी और जहाँ रात है,

वहाँ दिन उदय कर देगी। परन्तु, प्रेम की दैवी उमगो का मैंने कभी अनुभव नही किया। क्रूर शिशिर ने विनाश फैला दिया है। मैं थका हुआ, हारा हुआ, अभागा मनुष्य जीवन के पथ पर बढ़ रहा हूँ। जीवन से प्रेम ओझल हो गया है। आत्मा मे शान्ति नही है। बिना साथी का मेरा दृष्टि-पथ धुँधला हो रहा है। कोई प्रियजन मेरे टपकते आँसुओ को नही पोछता। शोक और भय मेरे सूने हृदय को कुचल रहे है। मेरे थके हुए मन के विश्राम के लिए कोई सुकोमल स्थान नही है। किसी मधुर मुख से निकला सगीत मुझे शान्त होने की प्रेरणा नही देता। मेरी आत्मा के साथ किसी आत्मा ने उल्लासमय सम्बन्ध नही बाँधा। किसी प्रियतमा से मैने नही कहा—'तू मेरी है, और मैं तेरा हूँ।'' १८-६-१६०६

रक्त से लिखे हुए मेरे अनुभूत भावो का यहाँ साक्षात्कार होता है। यह कहना कठिन है कि यह महत्वाकाक्षी, निर्जीव और एकाकीपन से अधीर हो रहे कल्पना-विलासी युवक की रुग्ण मनोदशा थी, अपनी शक्ति का जिसे भान नही—ऐसे साहित्यकार की यह सृजनवृत्ति थी अथवा आचार मे सयमी युवक के हृदय मे से इस प्रकार जातीय-वृत्ति झाक रही थी। धीरे-धीरे ये भाव प्रचुर मात्रा मे कल्पना-विलासी बनते जाते हैं :

''स्वप्न-सृष्टि के प्रकाश मे, जहाँ सस्मरण हलकी छाया के समान फैलते है, वहाँ एक स्वरूप दीख पडता है—प्रकाशमय, दैवी और मोहक, आ रही ऊषा के समान तेजस्वी और लजाते हुए सौदर्य से सुशोभित। मेरे जीवन पर शासन करती हुई यह तारिका है। उल्लास से वह मेरी नौका को खे रही है। वही मेरा आश्वासन है और वही मेरी प्रेरणा। अन्धकार और अरण्य से निकालकर ले जाती हुई वही मेरी ज्योति-शिखा है।

''भाव-भरी मृदुलता से वह मुझे बुलाती है—हमारी आत्माओ को जुदा रखने वाली भयकर और निसीम अनन्तता के उस-पार से। मेरी स्मरण-शक्ति उसकी स्मृति की रेखाओ को स्पष्ट करती है और सदैव के लिए बीत गए उन दिनो की सुरम्यता का मैं फिर से अनुभव करता हूँ।

''वह मेरे लिए तरसती है। मैं अनन्तकाल की अवहेलना करता हूँ।

वियोग के दुस्तर सागर को पार करता हूँ। हम मिलते हैं—कभी न बिछुड़ने के लिए।

"हम साथ-साथ रहते है। प्रत्येक स्थान पर—स्वर्ग के सौंदर्य-प्रासादो मे, किसी भव्य विश्व-खण्ड मे, किसी दूर चमकते तारे पर, और हम प्रलयकाल मे साथ-ही-साथ एकरूपता पा जाते हैं।" ९-६-१९१०

पागल युवक की यह अदम्य कामना क्या कभी पूर्ण होने के लिए उत्पन्न हुई थी?

अक्तूबर, १९१० मे जब मैं ऐडवोकेट की टर्म मे भरती होने आया, तब हृदय-व्यथा से कुछ अशो मे छुटकारा पा चुका था, उसका साक्षी एक उद्धरण इस प्रकार है—

"व्यथा का एक वर्ष बीत गया। काल के आमने-सामने के तटो पर हम लगातार खडे रहे।

"देवी! तेरे निमत्रण का तिरस्कार करके, सांसारिक बधनो मे बँधते हुए क्या मैं उचित कर रहा हूँ? तेरी निर्दोषिता, पवित्रता, त्याग, भक्ति के क्या मैं योग्य हूँ?

मुझसे उत्तर देते नही बनता।

"इस एकाकी और दम घोटने वाले विग्रह मे यदि मैं किसी अन्य की सहायता लूँ, तो मुझे क्षमा करना।"

चार वर्षों के पश्चात् यह सम्पूर्ण अनुभव 'वेरनी वसूलात' (प्रति-शोध) मे नया रूप धारण करता है और मैं अपनी अस्वस्थ मनोदशा पर बडी कठिनाई से काबू पाता हूँ। परन्तु 'देवी' की कल्पना-मूर्ति मेरे और संसार की अन्य स्त्रियो के बीच मे एक पर्दा खड़ा कर देती है—पीछे से जब उसका भेदन हो जाता है तब तक।

छ:

मनु काका को मैंने 'आधे रास्ते'[१] मे नाना भाई के नाम से परिचित

१. 'आधे रास्ते' पृष्ठ २१४।

कराया था। उनके पिता माधुभाई साहब शभूनाथ कोतवाल[1] के भतीजे बडौदा की सरदार कोर्ट के भूतपूर्व जज, पिताजी के समधी और जाति मे उनके प्रतिस्पर्धी थे। जहाँ तक याद है, जब मनु काका का और मेरा जनेऊ हुआ था, तब हम बाल-ब्रह्मचारी बनकर साथ घूमे थे। उनके भतीजे शिवप्रसाद उनसे एक वर्ष बडे थे। वे मेरी भान्जी के पति होते थे। छुट्टी के दिनो मे जाति के जिन लडको के मडल मे मैं सम्मिलित होता, उनमे मनु काका और शिवप्रसाद भी थे। इन दोनो से निकट परिचय तो तभी हुआ, जब ये १९०६ मे बडौदा कॉलिज के बोर्डिंग मे रहने के लिए आये।

मनु काका के प्रति मुझे पहले से ही बडा आकर्षण था। मुझमे जो चीज़ नही थी, वह उनमे थी। मैं पढने मे लीन, गम्भीर, डरपोक, खेल खेलने मे अशक्त, आयु के हिसाब से अधिक पढने वाला था। मनु काका खिलाडी, बहादुर, वाचाल, स्नेही, हंसमुख, मौजी, छिछोरे और प्रत्येक खेल मे बेजोड थे, केवल पढने के समय उनकी गरदन नहीं झुकती थी। १९०६ मे हुआ हमारा परिचय आगे वर्णित है।[2]

१९०७ के पश्चात्, जब बम्बई के कॉलेज मे मुझे छुट्टी होती थी, तब, जब तक मनु काका और शिवप्रसाद कॉलेज बोर्डिंग मे रहते तब तक, मैं वहाँ रहता, और जब वे घर चले जाते तब मै भी उनके घर जाकर रहता था। जब वे भडौच आते, तब हम दोनो और पिताजी के परम-मित्र रा० बा० मोतीलाल के पुत्र रामलाल भाई, सारा दिन साथ ही होते थे—गप्पें लडाते, गाने गाते, घूमने जाते, टेनिस खेलते और नदी-तट पर बैठकर मुरमुरे-सेव खाया करते थे।

धीरे-धीरे मनु काका के साथ मेरी मैत्री प्रगाढ हुई। मुझे प्रतीत हुआ कि उन्हे शिक्षा देकर, प्रेरणा देकर महान् बनाने का कर्तव्य मेरे सिर पर आ पडा है। मनु काका को मेरी बुद्धि और शक्ति मे इतना

१. आधे रास्ते, पृष्ठ २३।
२. आधे रास्ते, पृष्ठ २१६।

विश्वास उत्पन्न हुआ कि उससे मुझमे भी आत्मविश्वास आ गया। सयुक्त कुटुम्ब मे इस मातृहीन बालक को जो अकेलापन मालूम होता था, वह मेरी सगति से दूर हो गया।

धीरे-धीरे हम एक-दूसरे के आगे दिल खोलने लगे। वे अपनी माँ का दु ख रोते, मै अपना रोता। 'देवी' की प्रणय-कथा, जो मेरा दम घोट रही थी, मैंने उन्हे कह सुनाई, और उस कल्पना-मदिर मे मुझे भक्ति करते देखने का उन्हे अधिकार मिल गया। इस प्रकार अपने दु ख को हम मसल-मसलकर चिकना करने लगे।

बढते हुए युवको को शोभा न देने वाली इस प्रकार की रोती मनो-दशा का पोषण करने मे हम शक्ति और समय का अपव्यय करने लगे। बालकों की तरह हम अनेक बार लडते और फिर मनाते, इस आश्वासन पर कि मैं उन्हे शिक्षा देता हूँ। मै दो बार एल-एल० बी० मे फेल हुआ, वर्ष खराब किये और मेरा विकास चार वर्ष के लिए रुक गया। मेरे सहवास में मनु काका ने जिस भाव-विह्वलता का पोषण किया, वह उनसे न सही गई। इनके लाडलेपन को पोषण मिला और अन्त मे छ. वर्ष बाद उन्होने पढना छोड दिया। फिर भी हमारे बीच मैत्री का सम्बन्ध स्थिर ही रहा।

१९०७ से १९११ तक जब हम साथ-साथ नही थे, तब पत्र-व्यवहार किया करते थे। मेरे इन पत्रो मे भाषण, टीकाएँ, गप्पें और हृदय की आकुलताएँ, सब आ जाती हैं

पीपलवाड़ी, बम्बई (तारीख नही लिखी)

"पत्र मिला। तुम्हारा यह विश्वास देखकर कि मैं बम्बई कुशल-पूर्वक पहुँचूँगा, मुझे आनन्द हुआ। इस विश्वास के लिए मेरी ओर से बधाई। मुझे तो जान पडता था कि गाडी चर्नी रोड पहुँचेगी ही नहीं और पहुँचेगी भी तो मैं उसमे नही हूँगा। बडा आश्चर्य हुआ कि अन्त मे आ ही पहुँचा।

"प्रो० घोष का चित्र यदि सुन्दर हो तो एक मेरे लिए ले लेना।

डालेगे, उसे जिमखाना बना देंगे। हरे राम !

"'समालोचक' के जनवरी के अक मे प्राणलाल भाई का 'जापान' के विषय मे लेख प्रकाशित हुआ है। गुजरात के इस उगते हुए तारे के प्रथम दर्शन पर मैं उसे नमस्कार करता हूँ।"

● ● ●

बम्बई, १३-६-१९०७

"आप भडौच मे विहार कर रहे हैं, यह जाना। सतोष हुआ या असतोष, यह कैसे कहा जा सकता है। लोग बाते करते है कि भाई साहब शाला मे जाकर सरस्वती-पूजा करने की अपेक्षा, उससे भी अधिक पूज्य, जो देवी घर मे उपस्थित हैं, उनकी पूजा करना अधिक पसन्द करते है—बेचारो ने एलिफन्स्टन कॉलेज जाना बन्द कर दिया। उनका ध्यान और कही था। स्वय फेल होने पर कभी आत्मघात करने को तैयार थे और अब फेल होने का कलक लगने पर भी भडौच मे सक्रान्ति का आनद मना रहे है..."

"अभी मैं यहाँ स्वस्थ नही हुआ। मेरे पास सब कुछ है, परन्तु एक चीज नही है, इससे कुछ भी नही है। मेरे दु ख की सीमा नही है। जाने दो यह बात। मैं मूर्ख हूँ।"

● ● ●

५-३-१९०८

"मेरी बात तुम से भिन्न है। मै हूँ एकाकी और स्नेहविहीन। मनुष्यवत् नही परन्तु यत्रवत् भटकना ही मेरे लिए बदा हुआ है। यदि मुझमे कुछ मनुष्यत्व है तो वह स्नेह करने की और उसे निभाने की मेरी शक्ति मे समाविष्ट है..

"प्लेग की छुट्टियाँ मिली। प्रसन्नता हुई और खेद भी हुआ। खेद इसलिए हुआ कि अपने कमरे के एकान्त मे बैठकर चिन्ता से तडप-तडप-कर मरना होगा। प्रसन्नता इसलिए हुई कि बडौदा आकर तुम्हारा

भावपूर्ण साहचर्य पाने का सौभाग्य मिलेगा।"

छुट्टी खत्म हुई और मै बम्बई लौट गया। अरविंद घोष पर उस समय मुकदमा चल रहा था। मैने एक पत्र मे पूछा—

"घोष-कोष के लिए क्या किया? मै बडी मुश्किल से पचास रुपये भिजवा सका हूँ। घोष साहब की बहन अधिक पैसे मँगा रही है। यदि कोष मे पैसे न इकट्ठे हो तो एकत्र कराकर भेज देना। जान पडता है, बेचारे अरविंद को वे कुचल डालेगे। उनकी बहन कहती हैं कि निर्दोष है। बडा बुरा समय है। अंतिम सप्ताह मे बडी उथल-पुथल मची। भारत की स्थिति देखते हुए प्रत्येक को स्वदेश के लिए कुछ-न-कुछ कर जाना चाहिए।"

● ● ●

हिन्दू लॉज, बम्बई
१२-७-१६०८
रात के बारह बजे

"बारह दिनो के तुम्हारे मौन ने आज मुझे अत्यन्त दु खी कर डाला है। अपने ढग का कटाक्ष और आक्षेप से भरपूर एक पत्र तुम्हे लिखने की तैयारी कर रहा था कि आज सुबह तुम्हारा पत्र मिल गया। इसलिए अब उलाहना देने की हिम्मत नही रही। पहली बार तुम्हारा पत्र दिल खोलकर लिखा गया था। तुम्हारा दु ख पढकर मैं भी उतना ही दु खी हूँ। मरीज के बिना दर्द को कौन समझ सकता है? क्षण-भर के लिए सोचा कि समय और स्थान के बन्धन काटकर मानो मैं तुम्हारे पास पहुँच रहा हूँ।

"तुम दु खी हो, कारण कि ससार को देखने वाली तुम्हारी दृष्टि खोटी है। तुम अभी बालक हो। स्वावलम्बी मनुष्य की दृष्टि से तुम अपने आपको नही देख सकते। कृपा करके यह भूल जाओ कि तुम्हे किसी की सहायता की आवश्यकता है। तुम पुरुष हो, इस दृष्टि से देखना सीखो। ससार तुम्हारे आगे पडा है, आक्रमण करने और जीतने

के लिए । बिना माँ के जीना दु ख की बात तो जरूर है, पर इसके लिए आँसू बहाने से क्या मिलता है ? माता के लिए रोते हो या सोची हुई बात पूरी न होने के कारण, अथवा इच्छित सुविधाएँ कोई नही देता, इस स्वार्थ से रोते हो ? यह स्वार्थ ही हुआ न ! अपनी माता के लिए स्नेह रखो, परन्तु विशुद्ध और नि स्वार्थ ! क्यो नही मान लेते कि वह तुम्हारी आँखो के आगे है—तुम्हारी हिम्मत बढाती, दु ख मे तुम्हे आश्वासन देती, तुम्हे उच्च आदर्शो के लिए प्रेरित करती, उसके योग्य बनने के लिए प्रोत्साहन देती । निर्बलता से किसलिए हार मानते हो ? अपने स्नेह को शक्तिशाली वीर के स्नेह का रूप दो, मूर्ख बालक के रुदन का नही ! यह रोग तुम्हारे मन मे कहाँ से आ घुसा ? उपवास करने से तुम स्वतन्त्र होगे ? कैसी मूर्खता है ! तुम कभी ऐसी स्थिति मे पहुँच सकते हो, जब अन्न के बिना बिलकुल काम चला सको ? यदि थोडा-सा खा लिया, तो भर-पेट क्यो न खा लिया जाए ?

"यह सब कारण अर्थहीन हैं । केवल नाममात्र को खाओगे, तो शक्ति जायेगी, क्षीणता आयेगी, और साथ ही अनेक दु ख और कठिनाइयाँ आयेंगी । एक चुल्लू पानी के लिए भी किसी स्नेह-हीन सम्बन्धी की कृपा पर अवलम्बित होना पडेगा—ऐसी मूर्खता न करना । आज जो निरा-श्रयता-सी मालूम होती है, कल वह चली जायेगी । जरा हिम्मत रखो । जब कुछ वर्ष बीत जाएँगे और प्रेम-विह्वल हाथो से भोजन करते हुए इन दिनो को स्मरण करोगे, तब अपनी इस मूर्खता पर हँसी आयेगी । कहावत है कि 'रोटी खानी शक्कर से, दुनिया जीतो टक्कर से ।'

"हिम्मत रखो । दूसरो के दोषो के लिए कही अपने को दण्ड दिया जाता है ? प्रिय भाई ! सब तुम्हारा तिरस्कार करते है, यह विचार तुम्हारे मस्तिष्क मे व्यर्थ ही घुस बैठा है । लोग चाहते है या नहीं, इसकी तुम्हे क्यो चिन्ता है ? मैं अपने अनुभव से कहता हूँ, जितने लोग हमारे आस-पास होते है, उन सबको किस कारण हम पर स्नेह रखना चाहिए ? हमारी अवगणना करने, तिरस्कार करने के लिए भी तो कोई होना चाहिए । इसके

बिना हम अपने स्नेहियों का मूल्य नही आँक सकते। सूर्य का ताप प्रखरता से जलाता न हो, तो हम शीत से विरक्त हो जाएँगे।

"तुम मरने की इच्छा करते हो! कैसी उदार इच्छा है! ससार मे सबके लिए अप्रिय हो गए। यदि यह समझते हो कि कोई स्नेही नही है, तो बेचारी मेरी भाभी का क्या होगा? दूर गाँव मे, बाप के घर के दु खो मे, वह तुम्हारी ओर प्रेम-भरी, उमग-भरी आतुर आँखो से देख रही है। उसका क्या होगा? दिन-रात वह तुम्हारे सुख की कामना करती है, उसका क्या होगा?

"पत्र बहुत लम्बा हो गया। पढते हुए थक जाओगे, परन्तु अपने दु.ख के समय पर दौडकर न पहुँचने वाले को क्षमा करना। पत्र शुष्क या समझदारी या ढिठाई से पूर्ण जान पडे, तो भी उसका मनन करना। यदि उसका शब्द-शब्द ध्यान मे लाओगे और हृदय मे धारण करोगे, तो मैं कृतार्थ होऊँगा।

"पुनश्च—कुछ ज्यादा-कम लिखा गया हो तो क्षमा करना। तिलक महाराज का मामला कल शुरू हो रहा है।"

● ● ●

२७ जुलाई, १६०८

"पत्र मिला। बडौदा कॉलेज ने आन नही खोई, यह जानकर आनद हुआ। तुम्हारे दण्ड का क्या हुआ, यह तुरन्त लिखना। मुझे तो ऐसा लगता है कि दण्ड पाये बिना ही महाराजा साहब तक पहुँचा जाए। यहाँ उपद्रव मचा हुआ है।[1] समाचार-पत्र डरकर चल रहे है, सच्ची खबरे नही छापते। यदि कोई सैनिक मर जाए, तो यह भी नही छापते। उडती खबरे तो बहुत-सी आ रही है। कपडे के व्यापारी पक्का निश्चय करने वाले है कि विदेशी कपडा छ महीने तक न मँगाया जाए। यदि ऐसा हुआ तो बम्बई कलकत्ता से बढ जाएगा और अधिकारियो के दिमागो को धक्का

१ तिलक महाराज को दिये गए दण्ड के सम्बन्ध मे उपद्रव शुरू हो गया था।

पहुँचेगा।"

●

हिन्दू लॉज, बम्बई, ३० जुलाई, १९०८

"पत्र मिला। कर्त्तव्य-पालन करते हुए तुम्हे दण्डित होना पडा। खैर, यदि सबने साथ दिया होता, तो तुम्हारी अवश्य विजय होती। जब तिलक महाराज को दण्ड मिला, तब हम सब भी आपस मे निश्चय करके लॉ-क्लास से अनुपस्थित रहे थे। केवल गिने-चुने विद्यार्थी ही क्लास मे गये थे। प्रिंसिपल के गुस्से की सीमा नही थी। परन्तु बेचारे क्या करते! कॉलेज के विद्यार्थियो की अपेक्षा हम अधिक स्वतन्त्रता का आनन्द उठाते हैं। कानपुर की खून खराबी की खबर मिली होगी। बम्बई की स्थिति पुनः कल से पूर्ववत् हो गई है। फिर भी सिपाही अधिक सख्या मे इधर-उधर घूमते रहते हैं और नि शस्त्र मजदूरो पर विजय प्राप्त करने की खुशी जाहिर करते है।"

● ●

अश्रुओ से सिंचित, स्वानुभूति की वेदना से भरपूर, एक पत्र आज भी हृदय की व्यथा व्यक्त करता है·

बडौदा, २–११–१९०८

"प्रिय मित्र,

अपने स्वस्थ क्षणो मे तुम मुझे पागल समझोगे और कभी-कभी तो मुझे भी ऐसा लगने लगता है कि मैं पागल ही हूँ, परन्तु मुझसे रहा नही जाता। मुझ पर जो कुछ बीतती है, वह मुझे कह डालनी चाहिए। यदि ऐसा न करूँ तो मैं दम घुटकर मर जाऊँ। इस समय रात को यदि मुझे कुछ पढना हो, तो मुझे अपनी भावनाएँ यहाँ व्यक्त कर देनी चाहिएँ। बडा प्रयत्न करने पर भी वे रोकी नही जाती। तुम्हे इतने ज़ोर से 'अपना' कहता हूँ, इसके लिए क्षमा करना। अन्य कई लोगो का तुम पर अधिकार है, यह मैं जानता हूँ। परन्तु मै तो आश्रयहीन हूँ।

"तुम जानते हो कि हमारे कवि-गण 'कौमुदी' पर किस तरह न्यौछा-

वर हैं ! अनेको ने इसे 'प्रणयवाहिनी' बनाया है । इस समय मुझे भी इच्छा होती है कि मै भी इसे वैसा ही बना लूँ । इस सुन्दर प्रकाश को अपने भावो का वाहन किस प्रकार बनाऊँ ? इसके द्वारा काल के दूसरे तट पर बसी हुई अपनी प्रेयसी के साथ किस प्रकार एक रूप हो जाऊँ ?

"एक-दूसरे का दुःख बाँटते हुए हमने अनेक चाँदनी रातें बिताई हैं, और दुःख भुलाए हैं । इस समय यह चाँदनी मुझसे सहन नही होती, देखता हूँ, और मुझे वेदना होती है । यह वेदना मैं किससे कहूँ ? और उसके कारण टपकते हुए इन आँसुओ को कौन पोछे ? लॉन की ओर मुझसे देखा नही जाता । मैं काँपता हूँ और अपने अकेलेपन के भान से मुझे रोना आता है···Single Cursedness.. कल रात तीन बजे तक मुझे नीद नही आयी । मेरा गला सूख गया और आँखो मे आँसू भर आए, जब रोया तब नीद आयी, और वह भी स्वप्न-भरी । सारा दिन वह मधुर आवाज सुनाई देती रहती है ।

'मने भूली गयो छे मारो छेलडो रे,
जूठी-जूठी कानुडा तारी प्रीत, मारा राज!'[१]

"सारा दिन मैं पागलो की तरह भटकता रहा । मेरा हृदय स्त्री का-सा है । वह मेरे वश मे नही रहता । तुम्हारी सगति मे मैं इससे वश मे कर लेना चाहता था, पर ऐसा हुआ नही । मैं पागल हूँ, क्या नही ? यह पत्र भी क्यो लिख रहा हूँ ? न लिखने योग्य सब इसमे लिखा है । तुम्हे हँसी आयेगी । तुम हँसो···हँसो·· तुम तो व्यावहारिक हो । अपनी तिरस्कार-पूर्ण हँसी हँसो । परन्तु, ऐसा एक हास्य, विडम्बनापूर्ण एक शब्द मेरा हृदय चीर डालेगा । मैंने बहुत सहा है, अब और नही सहा जाता । मै तो इन पक्तियो को बार-बार दुहराऊँगा ।

'वन वगडामाँ भूली पडी त्या अमृत प्यालो पीधो रे,
पीधो, लीधो सार सृष्टिनो, कोल अमर त्या दीधो रे,

१. मेरा प्रियतम मुझे भूल गया है । ओ मेरे कन्हैया, तेरी प्रीति झूठी है ।

हुँ गाँडी के दुनिया गांडी, आप करी ल्यो गणती रे।'[1]

सात

जब मैं भावो और कल्पनाओ की तरगो मे डुबकियाँ लगा रहा था, तब भडौच मे जीजी-माँ और लक्ष्मी, मेरा नाम स्मरण करके जीवन बिता रही थी। जीजी-माँ आध्यात्मिक पुस्तके पढती थी और सरल-हृदया लक्ष्मी सास के स्नेह और शिक्षा के नये साँचे मे ढल रही थी।

जीजी-माँ ने लिखा है—

"मैं हिंडोले पर बैठी हुई झूल रही थी। घर मे कोई नही था। मैंने गाना आरम्भ किया। मुझे एक ही बोल आता था, वह इस प्रकार था—

'तमे पोढोने सारगपाणि
तारी अखिया मे निंद भराणी।'

"इस पर से विचार आया कि व्यर्थ समय नही खोना चाहिए। कुछ ऐसा काम करना चाहिए जिससे कुछ नई जानकारी हो और कुछ ज्ञान बढे। मैं पुराण, आख्यान आदि जानती—समझती हूँ, परन्तु गीता मुझे ज़रा भी समझ मे नही आती। एकाएक उपर्युक्त भजन के बोल की स्फुरणा से शब्द निकले। 'ब्रह्मतरग' नामक वह भजन जब धीरे-धीरे गाया जाने लगा, तब पेन्सिल लेकर उसे कागज़ पर अकित करने लगी।"

२-७-१९०८

इस प्रकार जीजी-माँ ने पचीकरण, योगवाशिष्ठ और गीता का अध्ययन आरम्भ किया। परन्तु, ज्ञानयोग की अपेक्षा उनका कर्मयोग सबल था।

---

१. मै निर्जन वन में रास्ता भूल गई हूँ, वहाँ मैने अमृत का प्याला पीकर सृष्टि का सार पा लिया है। वहीं मैंने अमर वचन दे दिया। हे मेरे स्वामी, मैं पागल हूँ या दुनिया पागल है, इसका निर्णय आप ही कर लें।

सारे घर मे केवल दो बडी थी, ननद और भाभी। परन्तु रुखीबा[1] ने अभी अपनी चुप्पी नही छोडी थी। वे सुबह-शाम चबूतरे पर आकर बैठती, जाति की आने-जाने वाली स्त्रियो को इकट्ठा करके पञ्चायत करती और जीजी-माँ का दिल दुखाने वाले ताने सुनाया करती। जीजी-मा का भो नि शब्द असहयोग चल रहा था।

एक दिन सवेरे जब वे चबूतरे पर नही आयी, तब जीजी-माँ को चिन्ता हुई। 'दोपहर हो गई, फिर भी वे नीचे उतरती नही दीख पडी। क्या बात हुई? इतने वर्षों के वैर के पश्चात्, बिना बुलाये उनके कमरे मे जाना चाहिए या नही? जाने पर अपमान किया तो?' इस प्रकार के सकल्प-विकल्प करती हुई जीजी-माँ अन्त मे बीच का दरवाजा खोलकर ऊपर गयी। वहाँ रुखीबा अपने कमरे मे अचेत अवस्था मे पडी थी। उन्हे बडा तेज बुखार था।

जीजी-माँ ने वैद्य बुलाया और रुखीबा की सेवा आरम्भ की। जब वे चेत हुई, तब अप्रिय भाभी को देखकर जरा हिचकिचाई, परन्तु अनिच्छा से उनकी सेवा स्वीकार करनी पडी। तीन महीने तक पैरो खडे जीजी-माँ ने अपग-सी बनी हुई रुखीबा की अकेले सेवा-सुश्रूषा की। सुविधाहीन उस जमाने मे जीजी-माँ ही खाना पकाती, बिस्तर बिछाती और उनके शरीर की सारी क्रियाएँ करती थी।

पहले तो जीजी-माँ की सेवा-सुश्रूषा से रुखीबा का गर्व उबल उठा— 'हाय हाय, यह भी मेरे भाग्य मे था!' परन्तु अन्त मे दुर्जेय रुखीबा विजित होकर बिस्तर से उठी। छुटपन मे तेजस्विनी ननद को जितना मान मिलता था, उतना ही जीजी-माँ उन्हे देती रही। बीस वर्ष का विष उतर गया। पहले रुखीबा मुझे आता हुआ देखते ही खटाक-से दरवाज़ा बन्द करके अपना क्रोध शान्त करती थी, परन्तु अब मुझे भी सत्कार मिलने लगा। जब मैं भडौच जाता, तब पाक-कला की वे अद्वितीय निष्णात, कई वर्षों से भूली हुई अपनी इस कला को ताजा करके जीजी-माँ के लडके

१. 'आधे रास्ते' पृष्ठ ७१, २००।

के आगे उपहार धरा करती। भयकर रुखीबा को, जिनके गर्जन से सारी जाति त्रस्त होती और घर सुलग उठते थे, अपनी मुख्य वैरिन 'चिमन मुन्शी की लडकी'[1] के वशीभूत हुआ देखकर सभी विस्मित हुए।

मै जीजी-माँ के जीवन के इस विजय-प्रसग को महान् समझता हूँ।

वर्षों पश्चात् जब रुखीबा फिर बहुत बीमार पडी, तब इलाज करवाने के लिए उन्होने मेरे पास बम्बई आना स्वीकार किया। उस समय वे एकदम मृत्यु के किनारे पर थी। एक दिन शाम को हम उनकी बिलकुल आशा छोड बैठे। जीजी-माँ भडौच मे थी। लक्ष्मी ने परिवार की अन्य स्त्रियो को बुलाकर यह निश्चय किया कि देव-पूजन कैसे किया जाए और इस काम के लिए हर ब्राह्मण पीछे एक आना दक्षिणा देने का निश्चय किया।

आधी रात के बाद रुखीबा की तबीयत मे सुधार हुआ। दूसरे दिन उन्होने आँखे खोली। उठकर बैठते ही उन्होने लक्ष्मी को धमकाया।

"क्यो री, तू समझती क्या है ? मैं नरभेराम मुन्शी की लडकी, तेरे राजा के समान पति की बुआ, और मेरे मृत्यु के समय आये ब्राह्मणों को केवल एक-एक आना दक्षिणा ! अपने पति से पूछ लेना था !"

लक्ष्मी दग रह गइ। मरती हुई रुखीबा ने यह भला कैसे सुन लिया ? रुखीबा ने आगे कहा—

"मेरा प्राण उठ गया था। मेरी जीभ नही हिलती थी, परन्तु तू जो योजना बना रही थी, वह सब मैं सुन रही थी।"

मैंने लक्ष्मी से कहा—

"देख ले, यह तो मरती हुई भी शेरनी है। एक गर्जन करेगी तो पर्वत फट जाएँगे।"

उसके बाद रुखीवा स्वस्थ होकर भडौच गयी। दो-एक वर्ष के बाद उन्होने मुझे विशेष रूप से भडौच बुलाया और कहा—

"देख भाई, अब मेरा कुछ ठीक नही है। मेरे पास जो कुछ जेवर है, वे तेरे सिवा किसी और को दूंगी, तो मेरी सोची हुई बात पूरी नही

---

१ आधे रास्ते, पृष्ठ २००।

होगी । इन्हे तू रख ! सारी ज़िन्दगी मैंने भार्गव की जाति का खूब खाया है । मेरे मर जाने पर तू इसमे से भार्गवो को खूब खिलाना ।"

मैंने वचन दिया और रुखीबा की मृत्यु के पश्चात् उनकी इच्छानुसार जीजी-माँ ने श्राद्धादि खूब ठाठ से किया—प्रेमानन्द की तरह घी की नालियाँ नही बहाई, परन्तु वह मेरे दोष से नही, वरन् भार्गवों की रस-वृत्ति भिन्न हो गई थी, इससे । इस प्रकार अप्रिय भाई की स्त्री और पुत्र के हाथो ही, जिन्हे दु ख देने मे रुखीबा ने अपनी ज़िन्दगी बरबाद की थी, सद्गति प्राप्त की ।

आठ

भडौंच उस समय विचित्र-सी नगरी थी । वह न शहर था, न गाँव, इसलिए दोनो की असुविधाएँ वहाँ थी । कलक्टर उसके सामुदायिक जीवन मे बडे-से-बडा व्यक्ति था । कलक्टर अर्थात् मुगल बादशाह का बादशाह । भडौंचियो ने इस गोरे अधिकारी को खुश करने का धर्म स्वीकार किया था । इस धर्म की आड मे जो खुशामदें होती थी, उसके कई प्रसग मैंने 'स्वप्नद्रष्टा' मे वर्णित किये हैं ।

एक पारसी भाई का सूत्र था—'साहब के पेट मे घुसें, तो सोने के बनकर निकलें ।'

अनेक वर्ष हुए, भडौंच मे राय बहादुर चुनीलाल वेणीलाल सी० आई० ई० कलक्टर के दाहिने हाथ थे । उनके पुत्र रा० ब० मोतीलाल पिताजी के परम मित्र थे । उस समय मोतीलाल काका म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष थे । वे मिलनसार, हँसमुख, उदार हृदय के और बहुत भले आदमी थे । उनसे सभी लाभ उठाते और अनेक पहुँचे हुए लोग उन्हें शहर वालो से गालियाँ भी दिलवाते थे ।

मोतीलाल काका के पुत्र रामलाल भाई, मनु काका और मैं—हम तीनो की निराली मित्र-त्रिपुटी थी । मोतीलाल काका मुझे अपने पुत्र के समान मानते थे और मैंने भी उनके परिवार को अपना समझा था ।

जब कोई अँग्रेज़ी पुस्तको का सेट बेचने वाला आता, तब वे मुझसे पूछते और मेरे 'हाँ' करने पर उसे खरीद लेते। अन्त मे उसे पढने वाला भी मैं अकेला ही होता।

उनके कारण मैं शहर की प्रकट हलचलो मे भाग लेने लगा। म्युनि-सिपैलिटी मे और कलक्टर के यहाँ उनकी चलती थी, इससे मोतीलाल काका की आरती उतारने वाले शहर मे बहुत थे। और अँग्रेज़ी मे भाषण, प्रार्थनाएँ या मानपत्र लिख देने का काम सदा मेरे सिर पडता था।

हमारे एक नगर-निवासी ने कलक्टर को अपने घर चाय पर बुलाया। उन्होने मुझ से अँग्रेजी मे भाषण लिखवाया। कारण कि वे मजिस्ट्रेट बनना चाहते थे। मैंने अपनी आडम्बरयुक्त शैली मे लिखा—My tongue is not eloquent enough to express etc भाषण करने वाले सज्जन प्रत्येक अँग्रेज़ी शब्द के नीचे गुजराती उच्चारण भी लिखवा ले गए, कारण कि अँग्रेजी लिपि मे शब्द पढने की अपेक्षा स्वदेशी लिपि मे पढने की देशभक्ति उन्हे प्रिय थी, परन्तु उनके दुर्भाग्य से मैंने elo-quent शब्द को दो भिन्न लाइनो मे लिख दिया था—'माई टग इज़ नॉट ए-लोक्वेंट इनफ' 'आदि।

चाय-पानी शुरू हुआ। वे सज्जन भाषण देने के लिए खडे हुए। पढते-पढते 'माई टग इज नॉट ए–, कह कर रुके, 'ए', फिर से उच्चारण किया। उलझन मे पड गए, इससे पुन 'ए' का दीर्घ उच्चारण किया। जब लोग हँस पडे तब घबराकर उन्होने जल्दी से 'लोक्वेट' इनफ टु' कहकर पढ डाला।

एक बार एक गोरे कलक्टर की स्त्री प्रसूति के लिए विलायत जाने वाली थी। उसे गाँव के अनेक लोगो ने मानपत्र दिया। बडी उम्र मे साहब को पुत्र प्राप्ति हुई, इसके लिए उन्हे बधाइयाँ दी गई। खुशामदो के ग्रासो से सर्वदा अतृप्त रहने वाला कलक्टर भी खुशामद के इस एक ग्रास से अति तृप्त हो गया।

उसने कहा—"मैंने अनेक अवसरो पर मानपत्र लिये है, परन्तु मान-

पत्रो के इतिहास मे इस मानपत्र का स्थान निराला ही है।"

काग्रेस द्वारा स्वाभिमान का सचार करने से पहले प्रत्येक जिले का मुख्य शहर अधिकतर कलक्टर के खुशामदियो का अखाडा बना हुआ था। भडौंच की इस अधम मनोदशा के अन्धकार मे एक उज्ज्वल व्यक्ति थे—अम्बाशकर उत्तमराम मलजी अथवा सबके मत से 'छोटू भाई'।

जब मैं कॉलेज मे था, तब बहुत छोटी अवस्था मे उन्होने डिस्ट्रिक्ट प्लीडर की परीक्षा पास करके वकीलो मे और गाँव के बडे लोगो मे अग्रस्थान प्राप्त किया था। छोटू भाई वकील थे, राजनीतिज्ञ थे, परन्तु इससे भी अधिक जीवन मे जिन कलाकारो की मैत्री का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, उनमे वे अग्रगण्य थे। भडौच मे वे 'व्यक्ति' नही थे—'सस्था' थे। छोटू भाई के जीवन मे अस्वास्थ्य, उत्पात या अविचार जैसी कोई चीज नही थी। गौरवपूर्ण स्वास्थ्य से वे अपने हाथो अपना मार्ग तय करते रहे। छोटू भाई ने बहुत किया, परन्तु उनकी विशिष्टता 'करने' की अपेक्षा 'होने' मे अधिक थी।

उनकी दिनचर्या निश्चित् थी। उसमे वे कभी परिवर्तन नही होने देते थे। जिसे उस दिनचर्या के अनुकूल होना होता, हो सकता था। सवेरे ब्रह्म-मुहूर्त्त मे वे उठते, सन्ध्या करते, फिर गाडी मे बैठकर दशाश्वमेध पर स्थित अपने महादेवजी के दर्शन करते। शाम को भी सन्ध्या और महादेव के दर्शन निश्चित् थे। सुना था कि कोई पाठ भी रोज़ किया करते थे।

मुवक्किलो के आने से पहले वे घर लौटकर, उचित तैयारी करते थे। उनके गुमाश्ते और उनके अधीन काम करने वाले वकील सब व्यवस्था कर दिया करते थे। उनकी बहियाँ दीपक की तरह स्पष्ट थी। मुवक्किल के साथ बात सक्षिप्त और काम की करते थे। फीस निश्चित् ही थी। यदि कोई मित्र हो, तो उससे फीस न लेने का नियम था। कोर्ट मे उनकी बुद्धि से जितनी विजय मिलती, उतनी ही उनकी व्यवस्थित तैयारी से मिलती थी। वे साफ-साफ और थोडा बोलते थे। उनकी

का मुख्य लक्षण था। न्यायाधीश भी उनसे डरते थे। हाईकोर्ट मे जब उनकी ओर से अपील दाखिल होती थी, तब साथ मे उनकी टिप्पणी भी अवश्य होती थी। वकील के रूप मे वे बुद्धिमान् और मनुष्य के रूप मे महान् थे।

१९०४ या १९०५ मे वे काग्रेस मे सम्मिलित हुए। सूरत काग्रेस के पश्चात् जब उग्र पक्ष का जोर बढ गया, तब वे धीरे-से खिसक गए। उन्होने इसका कारण बताते हुए कहा, "मुझे इसमे रास्ता नही दीख पडता।"

भडौच मे प्राय गडबडी ही रहती थी, परन्तु छोटू भाई इस सब से अलग रहते। म्युनिसिपैलिटी के लिए एक वकील ने नया पक्ष खडा किया और उनको उसका पहला प्रमुख बनाया। परन्तु वहाँ द्वेष का वातावरण फैलते देखकर वे वहाँ से भी हट गए।

स्वदेशी आन्दोलन के जमाने मे उन्होने भडौंच मे मिल खोलकर बहुत समय तक उसे चलाया। अनेक सस्थाओ को दान भी दिये। बाद मे वे 'सहकारी मडलो' के काम मे लग गए और सारे गुजरात मे वर्षों तक उसकी व्यवस्था की। आगे बढती हुई राजकीय मनोवृत्ति उन्हे भली न लगती, पर उन्होने कभी उसका विरोध नही किया। अधिकारियों के साथ वे विवेकपूर्ण व्यवहार करते, उसमे खुशामद की गन्ध तक न होती।

एक गोरे कलक्टर की ऐसी आदत थी कि जब वकील मुकदमा दायर करने के लिए आते, तब वह अपने हाथ मे कहानी की पुस्तक लेकर बैठ जाता। एक दिन शाम को छोटू भाई एक फौजदारी केस के लिए उसके बंगले पर गये।

"मि० मलजी, यह आपकी कुरसी है, आप यहाँ से केस चलाएँ।"

इस प्रकार कहकर 'साहब बहादुर' वहाँ से दूसरे छोर पर जाकर आराम कुरसी पर लेट गए और हाथ मे कहानी की पुस्तक ले ली।

"मि० मलजी, अब आप वहाँ से बोलिये, मैं यहाँ सुन रहा हूँ।"

छोटू भाई ने कागज-पत्र बन्द कर दिए।

"मै आपको समझाने आया हूँ, केवल बोलने नही।"

इतना कहकर वे चल दिए। यह बात हाईकोर्ट मे भी पहुँची थी, ऐसा कुछ धुँधला-सा स्मरण है।

छोटू भाई कभी किसी के आगे अपना दिल नही खोलते थे। गप्पे हाँकने के लिए उनका एक भी मित्र नही था, कारण कि वे अकारण किसी से नही मिलते थे और गप्पे नही लडाते थे। मानव-व्यवहार को भी उन्होने अपूर्व कला से व्यवस्थित बनाया था। प्रत्येक पत्र का दूसरे दिन उत्तर दे देते थे। सामाजिक अवसरो पर शहर मे जो चाहता था, उन्हे निमन्त्रित करता, और छोटू भाई अधिक नही, तो दो मिनट के लिए अवश्य वहाँ उपस्थित होते। वे एक भिश्ती की बारात मे गये थे, इससे भडौच के गर्व को आघात पहुँचा था। जब वे म्युनिसिपैलटी मे थे, तब वहाँ के काम के और अपने व्यवसाय के घण्टे उन्होने व्यवस्थित रूप से बाँट दिये थे। परन्तु एक के समय मे दूसरे के विषय की चर्चा तक नही करते थे। जब मिल चलाते थे, तब भी यही बात थी। किस कोर्ट मे कब जाना है, यह भी निश्चित होता था।

हमारा तीन पीढियो का सम्बन्ध था। पिताजी की मृत्यु के पश्चात् अनेक लोग हमे भूल गए, पर छोटू भाई ने हमारी खबर लेते रहना अपना कर्त्तव्य समझा। इसमे स्वार्थ नही था। व्यावहारिकता की अपूर्व भावना से वे ओतप्रोत थे। स्वय गाँव का नेतृत्व करते थे, परन्तु प्रीवियस से लेकर एडवोकेट तक की परीक्षा मे मै जब-जब पास हुआ, तब-तब वे स्वय उसके दूसरे दिन बधाई देने पहुँचते रहे। जब मैं उन्हे कोई काम सौपने जाता, तब वे तुरन्त मीठेपन से 'हाँ' करते और किसी प्रकार का बडप्पन नही दिखलाते थे। काम कर देने के बाद वे कभी उसकी चर्चा नही करते थे। जब मैं पास हुआ, तब पहले वर्ष ही बिना कहे उन्होने मुझे दो-तीन अपीलें भेज दी। कही मै पर्याप्त फीस न लूँ, इसलिए उन्होने

इमे भी स्वय निश्चित् करके साथ ही भेज दिया ।

यह सब विचारशील व्यवस्था-शक्ति का परिणाम था, परन्तु इसमे शुष्कता नही थी । उनकी हँसी सदा स्नेहयुक्त होती थी । उनसे मिलने जाम्रो, तो वे सब की खबर पूछा करते थे । अपनी उलझनो को सहृदयता से सुलझाते, परन्तु स्वय सदा दुर्भेद्य रहते थे । जब ईश्वर ने उन पर पारिवारिक दु ख का असह्य भार डाल दिया, तब भी जो लोग आँसू पोछने के लिए आते, उनसे वे पूर्ण स्वस्थता से मिलते थे ।

एक बार बम्बई के प्रखर धारा-शास्त्रियो को छोटू भाई की उलट-पलटकर जाँच-पडताल करते मैंने देखा था । उन सबका जोश, पानी की उछलती हुई लहरो की तरह छोटू भाई के धैर्य के साथ टकराता और फिर लौट जाता था । उनका स्वभाव उग्र था, मूर्खो के साथ उनमे अधीरता आ जाती, परन्तु उसे विचित्र सयम से स्वस्थ रखने की शक्ति उन्होने प्राप्त की थी ।

१९४२ मे, जब मैं यह लिख रहा हूँ, कुछ महीनो पहले ही उनका देहान्त हो गया । अन्त तक उनका कार्य-क्रम ज्यो-का-त्यो अखण्ड रहा ।

आज मुझे यह पता नही लगता कि भडौच मे इस महत्ता को आँकने की या उसकी कद्र करने की शक्ति है या नही । इस युग मे गुजरात मे मानवता का मूल्य केवल गाधीजी की निकटता से आँका जाता है, जब कि छोटू भाई व्यवहार मे उनसे दूर थे । सच्ची महत्ता आत्मविकास मे है, यह समझने की शक्ति या उदारता किसमे है ? परन्तु, यदि कठोर सयम से जीवन की व्यवस्था करना 'योग' हो, अपनी दृष्टि मे जो सत्य दिखे, उसका अनुसरण करने मे ही मनुष्यत्व का मूल्य हो, चचल रागद्वेष से दूर रहकर स्वास्थ्य की सिद्धि प्राप्त करने के अनवरत प्रयत्न मे महत्ता हो, तो छोटू भाई महान् गुजराती थे । 'आत्मन्येवात्मना तुष्ट' उक्ति पर उन्होने अपना मनुष्यत्व निर्मित करने का प्रयत्न किया था और छोटे-से कार्यक्षेत्र और मर्यादित शिक्षा मे विघ्नो के रहते हुए भी उन्होने सफलता प्राप्त की थी ।

नौ

समाज-सुधार करने की मेरी लगन छोटी-मोटी प्रवृत्तियो मे कुछ-न-कुछ कार्य करती रही। मैंने शिक्षा छोड दी और दूसरो से छुडवाई। मैंने 'पीताम्बर' पहनना छोड दिया और अपने मित्रो को भी धोती पहनकर खाना सिखाया। अनेको मे मुक्त कठ से नाटक के गायन गाने की आदत डाली। अनेको को अपनी स्त्रियो को पढाने-लिखाने वाला बना दिया। एक मित्र को 'डम्बेल्स' घुमाना सिखाया। उसकी बुआ ने विरोध-प्रदर्शित किया—"मूर्खो, देवो के समान गोल शरीरो को मछुओ की तरह गठीला क्यो बनाते हो ?" इस प्रकार मैंने अपनी जाति मे युवको को बिगाडने वाले के रूप मे थोडी ख्याति प्राप्त की।

सीमान्त के जाति-भोज के लिए भडौच के भार्गव सुविख्यात थे। घर बेचकर भी इसे किये बिना उनका काम नही चलता था। इस प्रकार कई परिवार गृह-हीन हो गए थे। १९०६ से मैंने इसके विरुद्ध जूझना शुरू किया। कई लोगो से प्रार्थना की, अनेको को समझाया, कई बार कसमे खिलाईं, परन्तु जब तक १९१३ मे इस रिवाज का खात्मा नही हो गया, तब तक भार्गवो की जाति सीमान्त का जाति-भोज पेट भर-भरकर खाती रही।

१९०४ मे हम कई मित्रो ने अरविन्द घोष के 'वदेमातरम्' और अन्य राष्ट्रीय पत्र पढने के लिए 'मुफ्त पुस्तकालय' खोला। वहाँ हम मिलते और देश-भक्ति के भाषण करते। ज्यो-त्यो करके हम उसका खर्च चलाते थे। १९०७ मे जब मैं बम्बई आया, तब सेठ गोरधनदास चन्दनवाले से मिला और उनकी उदारता से भडौच मे 'दादाभाई नौरोजी फ्री लायब्रेरी' की इमारत खड़ी हुई।

यह मेरा पहला प्रकट रचनात्मक कार्य था।

हम लोगो ने निर्णय किया कि इस लायब्रेरी की इमारत का उद्घाटन-कार्य देशभक्त गोखले के शुभ हाथो से कराया जाए। मैं उन्हे निमन्त्रित करने पहली बार पूना मे 'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' के उनके

निवास-स्थान पर गया । उन्होने स्वीकृति दे दी । परन्तु ठीक समय पर कोई काम आ जाने से सर फिरोजशाह ने उनकी जगह सर गोकुलदास पारिख को भेज दिया । इससे हमारा मन खट्टा हो गया । हमारा समारोह फीका रहा । काका आकर चले गए और गोखले आये ही नही, इससे मेरे सहयोगी मुझे दोष देने लगे ।

उस समय की अविस्मरणीय घटना है टेकरे (टीला) का 'जाजरू (पाखाना) पुराण' । यदि कोई महाकवि मिल जाए, तो उसकी कीर्त्ति-गाथा महाकाव्य मे वर्णित करने योग्य है । उस सौजन्यपूर्ण जमाने मे, जबकि अभी दुष्ट अँग्रेजी शिक्षा ने बुरी आदते नही डाली थी, मुन्शी के टेकरे का एक भाग, दीवारो से सवृत, सामुदायिक रूप से शरीर-सुख की रक्षा के लिए अलग ही रखा गया था । १८९५ मे जब हमारे सयुक्त कुटुम्ब की विभक्ति हुई, तब पिताजी और अधुभाई काका अर्वाचीन विचारो के वशीभूत हुए । उन्होने पुरानी व्यवस्था को बदलकर टेकरे के लोगो के लिए दो पाखाने बनवाए और शर्त करके, पीछे से हमारे तबेले मे जाने के लिए खाडी की दीवार मे खिडकी बनाकर दरवाजा लगा दिया । यूनानी कवि होमर के इलियड मे ट्राय के गर्वपूर्ण कगूरो (Proud Towers of Troy) का जो स्थान है, वही स्थान इस महाकाव्य मे इन दो गृहस्थापत्य की कलाकृति के अनिवार्य अग पा सकते है ।

टेकरे (टीले) पर उस समय एक वीर कूटनीतिज्ञ रहता था । हमारी जाति के जिन पटवारियो ने सूरत और भडौंच जिले के गाँवो मे सरकारी मालगुजारी वसूल करने के भगीरथ पराक्रम किये है, उनमे वे अग्रगण्य और कालाग्नि के समान दु सह माने जाते थे । हमारे ये पडौसी इस महाकाव्य के नायक है । उनके क्रोध का कोई पार नही था । वे लडते, तो वायु भी पीछे हट जाती । भडौंच जिले की चौपाल मे बैठे-बैठे उन्होने भीषण प्रतिज्ञा की—

"मुन्शियो से टेकरा छीन लिया जाएगा ।"

हिटलर के जगत्-विजेता होने का सकल्प करने से पहले यदि किसी

ने उसी परिमाण मे महत्त्वाकाक्षा प्रदर्शित की थी, तो हमारे इस पडोसी ने। उन्होने सिद्ध कर दिया कि सकल्प की सीमा किसी वस्तु की इच्छा रखने पर ही नही, चाहे जगत् ऊपर हो या टीले की खाडी के नीचे हो—उसका वास्तविक मूल्य सकल्प की दृढता पर है। सकल्प सिद्ध करने मे वे कुशल थे। 'माणका मुन्शी' भडौंच मे डिप्टी कलक्टर—पटवारियों के मुखिया थे। उन्हे खुश रखने में ही भलाई थी। और वे थे भोले। उन्हे खुश होते देर नही लगती थी—वे मित्रो के आगे अकेले मे कारण भी बताते थे—'माणका मुन्शी लायक न होते, तो मैं कभी झुक सकता था ? कभी नही।'

'माणका मुन्शी' स्वर्गवासी हुए और टीले के मुन्शियो का तेज नष्ट हुआ। मुन्शियो मे बडी उम्र का योग्य पुरुष कोई नही था। स्त्रियो को सीधा करने मे कितनी देर लगती थी! उस कूटनीतिज्ञ ने समझा कि उनकी भीषण प्रतिज्ञा को पूर्ण करने का समय अब आ पहुँचा।

उन कृतनिश्चय महारथी को इसमे जरा भी सन्देह नही था कि वे सत्यनिष्ठ थे। काफी पूछ-ताछ करके, अनेक दस्तावेजो की खोज-बीन करके उन्हे विश्वास हो गया था कि सन् १८०० ई० के लगभग जब पेशवा ने पेशवाई नही खोई थी और नेपोलियन यूरोप को कँपा रहा था, तब टीला मुन्शियो का नही, वरन् उनके अपने पूर्वज जगुभाई देसाई का था। उन्हे यह भी विश्वास हो चुका था कि करसनदास मुन्शी ने अनुचित तरीके से वह टीला जगुसेठ से छीनकर, मुन्शियो का बना लिया था। वरसाई[1] के इकरारनामे की तरह इस इकारारनामे को फाड फेंककर, जगुदेसाई के टीले को उन्ही के वशजो का टीला बनाकर, दुष्कृतो का विनाश करके धर्मसस्थापन करना ही उनका जीवन-मत्र बन गया।

पिताजी के स्वर्गवास के बाद सातवे या आठवें दिन आक्रमण की दुन्दुभि बज उठी। इलियड का वीर नायक एकिलीस जिस प्रकार तम्बू से निकला, था, उसी प्रकार हमारे पडोसी निकले—कहाँ से यह बार-बार

१. Versailles

कहने की आवश्यकता नही—और आँखे फाडकर, छाती तानकर, पैसे वाले जो कुछ पचा बैठे थे, उनके प्रति गुर्राहट-भरा गर्जन किया।

मै था डरपोक। अपने शिरच्छत्र को हाल ही मे खो चुका था। अप-मान कभी सहा नही था। मैं थर-थर काँपने लगा। नीचे उतरा, तो जीजी-माँ को अपशब्दो से पीडित और आँसू बहाते देखा।

इस कथा के नायक 'तन्तुविग्रह' मे प्रवीण थे। मुझे कहना चाहिए कि हिटलर को जो इस प्रकार का विग्रह खोज निकालने का यश प्रदान किया जाता है, वह अज्ञानता की पराकाष्ठा है। इस 'ततुविग्रह' का पहला स्वरूप इस प्रकार का था। आते-जाते छत की ओर दृष्टि जमाकर वे महारथी कहते—'टीला जगुदेसाई का है' या 'पाखाना, खिडकी मेरे हैं, या 'पैसेवालो की खाकर पचाई हुई जमीन उनके रोम-रोम से फूटकर निकलेगी।' इस स्वगत सभाषण मे अपशब्दो की भरमार तो होती ही थी, साथ-साथ वे छाती ठोककर मुहल्ले को गुँजा देते थे। उसे सुनकर मुहल्ले के बच्चे और उनके सगे-सम्बन्धी बाहर निकल आते। हम तो उस समय घर मे घुसकर ही बैठे रहते थे।

थोडे दिनो, आठ-नौ बजे तक अपमान सहन करने के लिए हम लोग कान लगाए बैठे रहते। कभी-कभी यह विचार भी आता था कि इससे तो घर छोडकर चले जाएँ, तो अच्छा।

इस अनुभव की एक विशेषता यह थी कि हमारे उन पडोसी का पुत्र मेरा मित्र था और जब वैसा अवसर आता, तब वह तुरन्त मेरे पास आकर अपना दुखडा रोने लगता था।

आरम्भ किये हुए को पूर्ण करना बुद्धिमानो का दूसरा लक्षण है और इसके अनुसार हमारे पडोसी ने 'तंतुविग्रह' के साथ आक्रमण आरम्भ किया। कभी वे वीर हमारे 'ट्राय के गर्वपूर्ण कगूरे' को ताला लगा देते और मुहल्ले वाले तडप उठते, और कभी लकडियो का गट्ठा खाडी की खुली जमीन पर डलवाकर नया मोरचा खडा करते। मुहल्ले मे तुमुल-ध्वनि होती, वीर कुपित होता, सब काँपने लगते। कभी उन्हे कूटनीति की हवा

लगती और वे जीजी-माँ से आकर मिल जाते। 'मै कनुभाई को कभी दुःख नही दूँगा' इस प्रकार आश्वासन देते और जाते-जाते यह धमकी भी दे जाते, 'पर देखना, मैं बडा खराब आदमी हूँ।' फिर पन्द्रह दिन बीतते कि पुन 'ततुविग्रह' आरम्भ हो जाता।

इस विग्रह के लिए मैं बिलकुल अयोग्य था। बचपन से कभी गाली नही दी थी। कभी किसी से वादविवाद शायद ही किया हो। बडी इच्छा होती थी कि कमर कसकर निकल पडूँ, पर जैसे ही इच्छा होती थी, वैसे ही मर जाती थी। 'मारा केसर भीना कथ हो, सिधावो जी रणवाट' गाकर, कोई जोश दिलाने वाला भी नही था, इससे हिनहिनाता हुआ घोडा आगे बढने की अपेक्षा सामान्य रूप से जहाँ होता था, वही बैठ जाता था।

जीजी-माँ को 'तन्तुविग्रह' से कठोर आघात पहुँचा। उन्होने ठाकुर मामा से सलाह ली। मृत पति की प्रतिष्ठा के लिए और बालक-पुत्र के अधिकार के लिए उन्होने निश्चय किया कि झुका न जाए। उन्होने भगवान् त्रिपुरारि से सहायता माँगी। मैने पुस्तको की खोज-बीन की, प्लुटार्क के जीवन-चरित्र मे, कार्लाईल की प्रोत्साहन जीवन-कथाओ मे, देश-विदेश के महाकाव्यो मे गढ की रक्षा के लिए बाहर निकले हुए अनेक बहादुरो के उल्लेख थे, परन्तु इस प्रकार के गढ के लिए क्या किया जाए, यह किसी स्थान पर भी नही मिला। इस प्रकार की वीरता के उदाहरण के अभाव मे मै जैसा था, वैसा ही रहा।

अन्त मे हमारे पडोसी ने युद्ध आरम्भ किया। उन्होने तीन-चार दिनो तक सवेरे आते-जाते छत पर आँखे गडाकर ऊँचे स्वर मे सिंहनाद किया—'यह जगुदेसाई का टीला है, जिसे न रहना हो, वह यहाँ से चला जाए।' फिर पिछली खिडकी के द्वार पर हमारे ताले के ऊपर अपना ताला जड-कर अपने गाँव चले गए।

हमारी छावनी मे घबराहट फैल गई। अर्जुन के पराक्रम को स्मरण करके, मैं साइकिल पर सवार होकर गाँव के बाहर, जहाँ मेरे मामा रहते

थे, वहाँ उन्हे बुलाने के लिए गया—जिस प्रकार कौन्तेय श्रीकृष्ण को निमन्त्रण देने गया था उसी प्रकार। जाते हुए रास्ते मे एक-दो लडके भी साइकिल से टकराए और कुचले, मरे नही।

ठाकुर मामा कटिबद्ध होकर इस धर्मयुद्ध मे सम्मिलित हुए। द्वार पर लटकता हुआ शत्रु का ताला हमने तोड डाला। 'हमने' का मतलब मामा के हाथ और मेरी उपस्थिति से है।

दुश्मन की सेना आई। उसमे से एक महारथी डडा लेकर आये और मामा को द्वार के साथ दबा दिया। वीर भार्गव के रुधिर की सरिता सरलता से बहती रुक गई। हमारा ताला टूट गया। जिस प्रकार 'ट्राय के गर्वपूर्ण कगूरे' के आगे यूनानी और ट्रोजन वीरो के भाले और ढाल बिखर गए थे, जिस प्रकार लकागढ के भव्य-कोट के आगे द्वापर युग के महारथियो के शस्त्रास्त्र बिखर गए थे, उसी प्रकार मुन्शी के टेकरे के स्थापत्य की इस अविस्मरणीय कलाकृति के आगे दो-दो तालो के टुकडे भूमि पर बिखरे पडे थे। अब यह विग्रह क्षुद्र, अर्वाचीन शौर्य-विहीन हो गया, वह महाकाव्य की वस्तु बनने से रह गया। देव-दानवो के महावीर सहचरो से हम वकील के गुमाश्ते के गुलाम बन गए। शाम को हमारी 'बारात' फौजदार के घर गई। हमने दावा किया, हमारे पडोसी ने 'तन्तुविग्रह' जारी रखने के प्रयत्न किये। 'खिडकी खाली करनी पड़ेगी, हवेलियाँ उठवाकर रहूँगा!' हमारे पडोसी ने कहा। जीजी-माँ ने घर-घर जाकर दस्तावेज इकट्ठे किये। अपने हाथ से उनकी नकल की। वृद्धो मे से कौन गवाही देगा, यह निश्चित् किया। 'पाखाना पुराण' की सुनवाई होने की तैयारी हुई, अतः हम गवाहो के लिए दौड-धूप करने लगे। मैं तो लाडला और सुकोमल था, किसी से विनती करना मुझे आता नही था। और दबाव कैसे डाला जा सकता था! कोई 'नही' कह देता, तो मुझे सिर कटने के सदृश दुःख होता। यदि मामा मुझे किसी के घर ले जाते, तो उसी रात को हमारे पडोसी वहाँ जा पहुँचते, मिन्नतें करते, सिफारिशे करवाते। 'पैसे वालो ने मुझे मार डाला—तुम क्यो हम गरीबो

को मार रहे हो ?' दूसरे दिन गवाह अदालत मे आने से इन्कार कर देता और हम पुन शिकारी कुत्ते की तरह उसके पीछे पड जाते ।

डॉक्टर बरजोरजी गाँव के बडे ही प्रतिष्ठित सज्जन थे। पिताजी के समय म्युनिसिपैलिटी मे साथ थे। अनेक बार वे अहाते के द्वार से आये और गये थे। उन्होने हमे गवाही देने के लिए आने की स्वीकृति दे दी। दूसरे दिन हमारे पडोसी एक सम्बन्धी को लेकर उनसे मिल आये। डॉक्टर बरजोरजी ने गवाही देने की अनिच्छा प्रकट करते हुए मुझे पत्र लिखा। मामा ने कहा—"कोई बात नही, हम इसे ठीक कर लेंगे।"

डॉक्टर बरजोरजी के अस्सी वर्षीय पिता सोराबशा सेठ, बडे काका के पुराने मित्र, शहर के बाहर रहते थे। हम उनके पास पहुँचे। उन्होने 'माणका के भाई' के पुत्र का प्रेम से स्वागत किया। 'कौनसा अहाता ? कौनसा गैरेज ? कौनसी खाडी ?' हमने उन्हे याद दिलाई। हमने बात की और सेठ को गुस्सा आ गया। "बरजोर इन्कार करता है ? 'माणका भाई' के लडके की मदद नही करेगा, तो किसकी करेगा ? मैं कहूँगा उससे बेटा, घबराना मत।"

दूसरे दिन डॉक्टर बरजोरजी हमारे घर आये—"अरे, तुम बाबाजी से क्यो कहने गए ? मैं गवाही दूँगा। इसमे बात ही क्या है ?"

मुकदमा चला। तीन दिन मुझसे उलट-पलटकर जिरह की गई। दीवानी अदालत का, अभियुक्त के रूप मे मुझे यह पहला अनुभव हुआ।

जीजी-माँ घर बैठकर नकलें करती। मिलने योग्य गवाहो से मिलती। 'पाखाना पुराण' से भार्गवो के टीलो मे जोरदार चर्चाएँ चल पडी। हमारे पड़ोसी के मित्र कहने लगे—"अब टीला जगुसेठ का हो जाएगा।"

जीजी-माँ विचार करती—'हार गए, तो क्या होगा ?' मुझे हारने का दु ख नही था। हारने से भी अधिक दु ख तो इस बात से होता था कि अपने पडोसी के समान मेरी जीभ नही चलती थी। मैं अपने-आपको इसके लिए धिक्कारता था कि उसके समान उद्दण्डता से मुझसे बोला नही जाता था।

अन्त मे हम जीत गए। यह फैसला हुआ कि अहाता पाखाना सबके, और द्वार हमारा। पडोसी ने अपील की और वहाँ भी हारा!

यह 'पाखाना-पुराण' १९१३ मे हाईकोर्ट मे समाप्त हुआ। मुन्शियो का स्थान टीले पर निर्भय और अचल रहा। इस प्रकार टीले का अन्तिम-विग्रह समाप्त हुआ। देवताओ ने पुष्पवृष्टि की या नही, यह तो ज्ञात नही, पर विपक्षियो के मुख से तो वह लगातार होती ही रही।

दस

नन्ही, सरल हृदया, विश्वासी लक्ष्मी, जीजी-माँ की योजना मे शामिल हो गई थी। केवल यह प्रश्न सास को उलझन मे डालता था कि उसका अविकसित मानस पुत्रवधू बनने के योग्य कब होगा। परन्तु मै मित्र के समीप हृदय खोलने का अवसर मिलने से घर मे स्वस्थ और सन्तुष्ट रह सकता था। और लक्ष्मी के मूक आत्म-समर्पण मे ऐसा प्रभाव था कि उसके प्रति असन्तोष व्यक्त करना बडे अपराध के सदृश प्रतीत होता था।

१९०९ के अप्रैल मे सत्र पूरा हो गया, इसलिए मुझे बम्बई मे रहने की आवश्यकता न रही। उस समय मेरा स्वास्थ्य अधिक खराब हो रहा था, इससे डॉक्टर ने मुझे पढना छोड देने के लिए कहा। परिणामस्वरूप मैंने हारमोनियम मँगवाया। मनु काका और रामलाल भाई थे ही। अत हम तीनो ने एक ही शिक्षक रख लिया, जिसका वाचाल और विनोदी स्वभाव हमे सगीत से भी अधिक आनन्द देता था।

हमारे शिक्षक सगीत मे बडे निष्णात थे। उनके छोटे लडके बहुत सुन्दर गाते और तबला तथा हारमोनियम बजाते। शहर के लोग इस शिक्षक से बडे खुश रहते थे। उन्हे शिक्षा देने के लिए घर बुलाना तो भडौच मे प्रतिष्ठित नागरिक का लक्षण बन गया था। हमारे मास्टर आते, चुटकुले सुनाते, और जैसे शिष्य थे, वैसी ही शिक्षा देते।

एक शिष्य ने महीनो तक उन्हे पढाने के लिए रख छोडा। वे आते, उनका लडका गाता, खुद बजाते, घर सगीत से गूँज उठता और उन्हें

प्रतिमास वेतन मिल जाता।

मैंने पूछा—"इस शिष्य ने क्या सीखा ?"

मास्टर बोले—"बहुत-कुछ। आठ महीनो मे मैंने उसे 'छोरी बामन की अगिया पे अतर लगा के चली' सिखाया है। रोज ही 'छोरी बामन की' चिल्लाता रहता है। अभी 'छोरी' बनिये की नही हुई।"

मुझे स्वर का ज्ञान नही था, इसलिए मैने 'हारमोनियम शिक्षिका' मँगाई और केवल स्मरण-शक्ति की सहायता से सैकडो गायन फटाफट बजाने शुरू कर दिए। इस यान्त्रिक अभ्यास के बदले स्वर परखना सीखा होता, तो आज वास्तविक सगीत से जिस प्रकार अछूता रहा हूँ, उस प्रकार न रहता।

भडौंच उस समय श्रद्धावान् शहर था। किसी भी धार्मिक ढोग करने वाले नये आदमी को हमारे शहर मे सुविधा मिल जाती थी। यज्ञ, सत्सग, कथा-वार्त्ता आदि जारी रहते थे। शकराचार्य आते और जटाधारी योगी आते। कोई नागा महात्मा आकर गाँव के बाहर ठहरते। उनके दर्शन करने के लिए स्त्री-पुरुषो का ठट्ट जमा होता। किसी के घर कोई योगीन्द्र पधारते तो उनके लिए द्वार से लेकर घर के भीतर तक भूमि पर कपडे बिछाए जाते। वे आते, पीताम्बर और नकली वर्क का मुकुट पहनकर। गली के सामने पहुँचने पर उनके साथ आयी हुई तीन-चार स्त्रियाँ बारी-बारी से चार पैरो पर घोडा बनती और योगीन्द्र उस घोडे पर विराजमान होकर आते।

एक बार शहर मे खबर फैली कि भागेकोट के घाट पर एक मदिर मे महादेव के शिव-लिंग की 'ओम् प्रतिष्ठा' की जरूरत है। सारा शहर उमड पडा। मन्दिर के पुनरुद्धार के लिए चन्दा किया गया। अच्छे-अच्छे लोग कहने लगे कि उस लिंग से गम्भीर शब्द निकलते है। 'ओम् प्रतिष्ठा' के प्रण किये गए। मै भी देखने गया। 'हुँ ·अ ··हुँ···अ' का नाद अवश्य हो रहा था, यह उस भीड के बीच मे से मैंने भी सुना। कुछ दिनो बाद आवाज बन्द हो गई। लोगो ने समझा कि अब चन्दे की रकम से

भगवान् शकर सन्तुष्ट हो गए हे ।

जब मन्दिर बनने लगा, तब पानी निकलने के छिद्र मे-से एक मरे हुए मेढक का शव मिला।

प्रतिवर्ष एक योगिराज अपने शिष्यो-सहित नर्मदा-स्नान करने भडौंच आते और एक महीना रहा करते थे। नगर-निवासी उनका आतिथ्य करते और वे प्रवचन करते थे। वे प्रवचन मुझे सुन्दर, गम्भीर और प्रेरणा-मूलक जान पडे। शिष्य बनने वालो को वे योग सिखाते थे। 'वर्ण-व्यवस्था ईश्वर की बनाई कैसे हो सकती है ?' इस विषय मे शका उठाने मैं एक बार उनके पास गया था।

जीजी-माँ और चार अधेड आयु की विधवाओ का एक भक्त-मडल था। वह रोज़ गीता पढता और आपस मे उसका विवेचन करता था। जीजी-माँ ने एक दिन मुझसे कहा—"योगिराज की एक शिष्या नर्मदा-स्नान करने भडौच आई है, उसने भक्तमडल मे गीता पर बडा सुन्दर प्रवचन किया है।"

तीन-चार दिनो बाद बडे ही भक्तिभाव से जीजी-माँ इस 'महात्मा' के नाम से परिचित होने वाली योगिराज की शिष्या को घर ले आईं।

'महात्मा' लम्बी, सत्ताईस वर्ष के लगभग, और रूपवान् न होने पर भी यौवन से प्रदीप्त महिला थी। शरीर पर उन्होने केवल सफेद वस्त्र पहन रखा था। उनकी बडी और तेजस्वी आँखो मे केवल आध्यात्मिक तेज ही था, यह नही कहा जा सकता था। तीसरी मजिल के अपने बडे कमरे मे बैठकर मैं तबला बजा रहा था, तभी वहाँ 'महात्मा' आई। मैं भी गीता और योग-सूत्र का रसिक था, अत मैंने पूज्यभाव से नमस्कार किया।

मेरे तीसरी मजिल के कमरे के पीछे छत थी। उसके पीछे एक हवा और रोशनी वाली कोठरी थी, जिसमे पुराना सामान पडा रहता था। सारा घर देखने के बाद 'महात्मा' को वह कोठरी पसन्द आई। जीजी-माँ ने उन्हे वहाँ रहने के लिए निमन्त्रित किया।

दूसरे दिन 'महात्मा' भोजन करने आईं। वे तेल-मिर्च नही खाती थी। उनके लिए जीजी मा ने अलग से पकाया। एक सेर दूध के बिना उनका काम नही चलता था। वह भी मँगाया गया। खाते-खाते मैंने योगाभ्यास की बात छेडी।

मैं उस समय 'त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' को समझने के प्रयत्न कर रहा था। योगसूत्र के अनेक सूत्रो को समझ सकने मे मैं असमर्थ था। मैंने प्रश्न किये। 'महात्मा' ने केवल 'शब्दाडम्बरपूर्ण' उत्तर दिये। अन्त मे उन्होने यह प्रतिपादन करना शुरू किया कि सब योगो मे 'प्रेम-लक्षण-भक्ति' का योग श्रेष्ठ है। मैं तत्त्वज्ञान और योग की प्रक्रियाएँ सीखने के लिए उत्सुक था, इससे मेरा समाधान नही हुआ, परन्तु जीजी-माँ और उनकी मण्डली को 'महात्मा' की सुमधुर वाणी ने मुग्ध कर लिया।

जो भी हो, मुझे एक बात तो मान ही लेनी चाहिए, इससे पहले ऐसी विदुषी और वाचाल स्त्री के साथ मैंने कभी बात नही की थी। इससे यह बात पक्की है कि मुझे बहुत आनन्द आया।

उस रात ऊपर की कोठरी साफ नही हुई थी, इसलिए 'महात्मा' जीजी-माँ के साथ पहली मजिल मे ही सोईं।

सबेरे जल्दी उठकर, नर्मदा मे नहाकर, मदिर में सध्या करके, आठ बजे के लगभग 'महात्मा' तीसरी मज़िल पर, जहाँ मैं तबला बजा रहा था, आईं। मैंने उनका हृष्ट-पुष्ट शरीर देखा, तेजस्वी आँखे देखी, और हृदय सिहर उठा। श्रद्धालु माता, छोटी बालिका बहू, एक ही एक जवान लाडला बेटा, बडी हवेली, तीसरी मज़िल, पिछली कोठरी और महीने-भर तक नर्मदा मे नहाना! पैर से लेकर सिर तक मेरे शरीर मे सिहरन व्याप्त हो गई। हमने उल्टी-सीधी बाते की और मुझे घबराहट हुई—'कही इस देवी ने चीख मारी तो मेरी इज्जत मिट्टी मे मिल जाएगी!' यह भय मेरे हृदय में समा गया।

कोई बहाना खोजकर मैं दीवानखाने मे उतर आया और उन्हे भी

बुला लिया । वहाँ हमारी खिडकियो के सामने पडोसी की खिडकियाँ पडती थी । महम्मद आता-जाता रहता था । लक्ष्मी भी आती थी । वहाँ मैं निर्भय हो गया ।

मैंने पुन' 'महात्मा' से उनके अपने विषय मे पूछा—'योगिराज को छोडकर तुम अकेली क्यो आई ?"

"मेरी उनके साथ नही बनती । इस पत्र का मुझे उनको कडा उत्तर देना है ।"

उन्होने मुझे पत्र दिया । उसमे पूज्यपाद श्री महाराज योगिराज की आज्ञा से शिष्या श्री· को आज्ञा दी गई थी कि एक वर्ष के लिए पूज्य-पाद ने उनका बहिष्कार किया है । इसलिए उन्हे किसी तीर्थ-स्थान मे रह-कर, जप-तप करके प्रायश्चित्त करना चाहिए ।

"यह तो दण्ड दिया गया है । तुमने कोई अपराध किया मालूम होता है ।" मैंने कहा ।

यह मेरी मूर्खता थी । 'महात्मा' ने समझा कि मैं उनमे दिलचस्पी ले रहा हूँ, इसलिए उन्होने इस प्रकार बाते करनी शुरू की, जैसे मुझसे बहुत पुराना परिचय हो । "योगिराज योग के अभ्यासी है, साथ ही वैद्य भी हैं और वाममार्गी भी । जब मैं सात वर्ष की थी, तब मेरी विधवा माँ ने मुझे योगिराज को समर्पण कर दिया । उनके आश्रम मे मैं पढी, होशि-यार हुई । उन्होने मुझे मुख्यशिष्या बनाया । मैं उनकी पटरानी भी थी—परन्तु नियमानुकूल, हठयोग के शासन के अनुसार । गए वर्ष योगिराज बम्बई गये । वहाँ किसी और को प्रिया बनाया । मै भी किसी दूसरे पुरुष के साथ हँसी-मजाक करने लगी । योगिराज कुपित हुए । मैंने उत्तर दिया—"तुम दूसरी को पसन्द कर सकते हो, तो मै क्यो न करूँ ? अन्त मे योगिराज ने इस प्रकार बहिष्कार की आज्ञा दी है ।"

घर की स्त्रियो के सिवा मेरा अन्य किसी स्त्री से परिचय नही था । मेरी कल्पना मे जो नारी चित्रित थी, उसकी सर्वगुण-सम्पन्नता मेरे मन मे हमेशा छाई रहती थी । भ्रष्ट स्त्रियो के विषय मे बहुत पढा था, पर

उसे दृष्टि से आज पहली बार ही देखा। जिस प्रकार केकड़े को देखकर कँपकँपी आती है, उसी प्रकार मुझे कंपकँपी आई और वहाँ से भाग जाने को मेरा मन करने लगा।

"तब तो तुम्हे दण्ड मिला है, क्यो?" मैने पूछा, "यह नर्मदा-स्नान के लिए आई हो, यह बात झूठी है न?"

"मुझे दण्ड कैसा? मुझे एक मुँहतोड उत्तर लिख दो। मैं उन्हे समझ लूंगी।"

'महात्मा' की आँखो मे खून उतर आया। ज्यो-त्यो बात खत्म करके मैं भोजन करने गया, और महात्मा ने झूले पर बैठे-बैठे भावपूर्ण स्वर मे 'कन्हैया क्या जाने मेरी प्रीत' (कानुडो शुजाणे मारी प्रीत) यह गीत गाना आरम्भ कर दिया। किसी प्रकार खाना खत्म करके मैं ऊपर जा बैठा। जीजी-माँ से कहने की हिम्मत नही हुई, कही वे मुझे ही खराब समझ बैठी, तो! यह स्त्री यदि मुकर गई, तो मुझ पर ही आ बनेगी।

शाम को चार बजे के लगभग 'महात्मा' फिर ऊपर पधारी। मैंने स्पष्ट कहा—"इस घर मे तुम्हारे लिए स्थान नही है।" जीजी-माँ से यदि यह सब कह दूं, तो सारा भक्त-मण्डल दुत्कारेगा, यह निश्चित् था। मैंने आगे कहा—"सबसे अच्छा रास्ता यह है कि तुम चाँदोद-जैसी जगह पर जाकर रहो। वहाँ प्रायश्चित्त भी कर सकोगी और लोग जान भी नही पाएँगे।"

'महात्मा' को मेरी सलाह पसन्द न आई। उन्होने ऐसी धृष्टता से, जिसकी मैं कल्पना भी नही कर सकता था, सीधी बातें की—"मैं योग करती हूँ और हमारा तो हठयोग है, इसमे स्त्री को पुरुष के ससर्ग की आवश्यकता होती है। तुम मेरी सहायता न करोगे?"

यह निर्लज्जता देखकर मैं दग रह गया। मेरा वश चलता तो पास पडा हुआ तबला मैं उसके सिर पर दे मारता, परन्तु मेरे मन मे यह डर घुस बैठा था कि तनिक-सी भी अवज्ञा करने से यह मेरी फज़ीहत कर सकती है, इसलिए मैं सावधान हो गया। "मुझे इस बात पर विचार

करना चाहिए, कारण कि मैं इतना सस्कारी नही हूँ ।"

"नही, तुम तो सब तरह से योग्य हो ।"

मैं रास्ता खोज रहा था और वह मुझे मिल गया —"अभी तुम चाँदोद चलो । मै तुम्हे वहाँ छोड आऊँ । फिर तुम वहाँ रहना । इतने मे मुझे विचार करने का समय भी मिल जाएगा ।"

"मै चाँदोद में किसी को नही जानती ।"

"परन्तु मै तो जानता हूँ न, मैं तुम्हारे लिए सब तरह की सुविधा करवा दूँगा ।" मैंने कहा । 'महात्मा' खुश हो गई और 'कन्हैया क्या जाने मेरी प्रीत' गाते हुए नीचे उतर गई ।

मैने जीजी-माँ को तीसरी मजिल पर बुलाकर सारी बात कही । उन्हे भी दोपहर से इस स्त्री के तौर-तरीके अच्छे नही लग रहे थे ।

जीजी-माँ से चाँदोद जाने की अनुमति मिलने पर रात को 'महात्मा' तैयारी मे व्यस्त रही । मैं भी तैयारी करने लगा और फिर तीसरी मजिल की सीढी का दरवाज़ा बन्द करके सो गया । सवेरे जल्दी उठा और साढे आठ बजे 'महात्मा' के नदी से नहाकर आने के पहले भडौच के स्टेशन पर पहुँच गया और पौने नौ बजे बडौदा की ट्रेन मे बैठकर नौ-दो-ग्यारह हुआ ।

जब मै मनु काका के घर पहुँचा, तब मेरा कलेजा ठिकाने आया ।

मेरे जाने के बाद जीजी-माँ ने महात्मा से कहा, "भाई तो काम से परदेश गया है, तुम्हे चाँदोद पहुँचाने के लिए महम्मद सिपाही तैयारी है ।"

'महात्मा' की आँखो मे आँसू आ गए ।

इतने मे हमारी जाति के दो आदमी—इस स्त्री ने एक दूसरे गाँव मे भी ऐसी ही लीला की थी—उसके विषय मे बात करने जीजी-माँ के पास पहुँचे । जीजी-माँ ने 'महात्मा' से घर छोडने के लिए साफ शब्दो मे कह दिया । हमारी जाति वालो ने पुलिस का डर दिखाकर उन्हे किसी दूसरे स्थान पर पहुँचा दिया ।

जाते-जाते 'महात्मा' लक्ष्मी से कहती गई—"इस जन्म मे तो 'भाई' मिलेगे नही, परन्तु उनसे कहना कि दूसरे जन्म मे भेट होगी।"

मैंने यह सदेश सुना और मैं निश्चित हो गया। इस जन्म मे तो मै निर्भय हो ही गया था, आगे की बात आगे देखी जाएगी।

यह अनुभव 'अपराधी कौन' के कई परिच्छेदो के लिए पर्याप्त हो गया।

ग्यारह

१९०९-१० मे मैं अपने अध्ययन मे शिथिल हो गया था। मेरा अधिक समय मित्रो के साथ आनन्द मनाने मे, गायन और टेनिस मे, शहर की और जाति की चौधराई करने मे बीतता था। फिर भी मैं अग्रेज़ी में लेख लिखता रहा था और उनमे से अनेक Hidustan Review, Indian Ladies Magazine और East and West मे प्रकाशित भी हुए। अपने कमरे के एकान्त भाषण करने का अभ्यास भी जारी ही था।

उस समय सिविल सर्विस के लिए विलायत जाने के मैंने बड़े प्रयत्न किये। मेरे मित्र धीरजलाल नाणावटी[1] ने मेरे लिए वहाँ पढने और रहने की सुविधा कर रखी थी। बडा प्रश्न केवल यह था कि खर्च के पैसे कहाँ से लाए जाएँ। इस विषय मे मनुकाका के मामा मंछाशकर वकील ने मुझे पूरा प्रोत्साहन दिया।

जब से मैं बम्बई मे आया, तभी से मुझे उनका सहारा था। मुझ पर उस बुद्धिमान् और व्यवहार-कुशल ज्ञानी का बडा प्रभाव पडा। वे स्माल कॉज़ कोर्ट मे प्रमुख वकील थे और पीछे जाकर वहाँ न्यायाधीश नियुक्त हुए। उनका मित्र-मडल विस्तृत था और वे स्वय उसके सलाहकार और सहायक थे। वे व्यवहार मे कभी चूकते नही थे और छोटी-से-छोटी उलझनो को भी सुलझाने मे समर्थ थे। भूलेश्वर मे स्थित 'गुजरात क्लब'

---

१ आधे रास्ते, पृष्ठ १८५।

के वे प्राण थे। वे रोज शाम को वहाँ बिलियर्डस् और चौसर खेलने जाया करते थे। ज्योतिष का उन्हे अगाध ज्ञान था और सारे जीवन को उन्होने वेदान्त की सहायता से एक-रस बनाया था। मुझसे उन्हे बडी दिलचस्पी थी। जब जाता, तब हँसकर बात करते और मेरी मुश्किलो को हल किया करते थे।

१-३-१९०९ के पत्र मे मैंने मनुकाका को लिखा—

"क्लार्क (बडौदा कॉलेज के प्रिंसिपल) ने अभी प्रमाणपत्र नही भेजा। उनसे मिलकर तुम उसे तुरन्त भेजने का प्रबन्ध करना। कल ही मैंने अरजी दी है। टाटा के ऑफिस मे कोई बडा आदमी है, उसे तुम्हारे मामा से कहने के लिए तैयार किया है। परन्तु मुझे 'स्कॉलरशिप' पाने का सौभाग्य मिलेगा, ऐसा मालूम नही होता, कारण कि अनेक उम्मीदवार मुझसे कही अधिक छोटी आयु के और अधिक बुद्धिमान् हैं। परन्तु यह तो नही कहा जाएगा कि छोटेपन से मैंने अपनी आकाक्षा सिद्ध करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न नही किया। क्या तुम जानते नही कि सिविल सर्विस के लिए मैं कितना लालायित हूँ और यह ध्येय सिद्ध न होने पर मुझे कितनी निराशा होगी ?

"सरोजिनी नायडू नाम की कवियित्री के अत्यन्त सुन्दर वाग्वैभवशाली और उत्साहप्रद व्याख्यान सुन रहा हूँ। वास्तव मे यह स्त्री अद्भुत है।"

मेरा सोचा हुआ ठीक रहा। मछाशकर काका मुझे पादशाह के पास ले गए और उन्होने मुझे आशा छोड देने को कहा।

अन्त मे मैं जुलाई १९१० मे एल-एल० बी० की परीक्षा मे पास हुआ।

मनुकाका को मैंने ता० १७ जुलाई के पत्र मे लिखा—

"पास होने का समाचार सुना और मुझे जरा खेद हुआ। सुख हो या दुःख, मुझसे अकेले नही रहा जाता। परन्तु अब ठीक है ''जरा पागल हो गया हूँ और मेरे पागलपन मे पागलो से भी अधिक उन्माद है।

"मैंने कही पर एक कहानी पढी, थी, जिसमे विवाह से अगली रात

को वर खो जाता है। परिणामस्वरूप कन्या पागल हो जाती है और फिर किसी के भी पैरो की आहट सुनने पर उसे जान पडता है कि उसका वर आ रहा है। वह प्रतीक्षा करती बैठी रहती है—अनेक वर्षो तक, जब तक स्वय अनन्त मे विलीन नही हो जाती तब तक।

"मेरी स्थिति उस कन्या-जैसी ही हो गई है। प्रत्येक डाक मे जब बधाई के पत्रो का ढेर आता है, तब मेरा हृदय अप्राप्य के लिए तरसता है। जो बधाइयाँ नही आती, उनको पाने की आशा रखता हूँ। जो पत्र कभी नही आता, उसकी प्रतीक्षा करता हूँ और वह नही आता, इससे दुःख मे डूब जाता हूँ। मुझे वेदनारहित आनन्द कभी प्राप्त नही होता।

"यह आशाविहीन पगला स्वप्न है, मेरे रुग्ण मन की मूर्खतापूर्ण कल्पना है। परन्तु बिना इसके मै कैसे जी सकता हूँ? यह सारी विजय नीरस है। सारा जगत् सूना जान पडता है। जाने दो। भले ही भूतकाल इसके शवो को दफना दे

"कल दक्षिण अफ्रीका के मि० एच० एस० एल० पोलक आये है और हमारे यहाँ अतिथि बनकर ठहरे है। लगभग १५ दिन मे हम दक्षिण अफ्रीका के विषय मे एक सभा करेंगे। मोतीलाल काका सभापति का स्थान लेगे।"

उस समय भारत में गाधीजी का नाम सुनाई पडने लगा था। पोलक और हम बैठकर भारत के महान् पुरुषो के गुणगान कर रहे थे, कारण कि वे अनेक से मिलकर आये थे। मैं अरविन्द का भक्त था। पोलक ने कहा—"मैने तुम्हारे सब महापुरुष देखे हैं। पर उसमे गाधी के जूतो के फीते बाँधने लायक भी कोई नही है।" मुझे इससे बहुत बुरा लगा था, ऐसा याद है।

मछाशकर काका मेरे विलायत जाने के लिए दो तीन आदमियो से पॉच-सात हजार रुपये इकट्ठे करने की योजना बनाने लगे। लगभग पॉच हजार जेवरो और जमीन से इकट्ठे करने का मेरा विचार था। मेरी धारणा थी कि दस-बारह हजार मे मै सिविल सर्विस मे पास हो जाऊँगा, या

बैरिस्टर बनकर आऊँगा। जिस स्टीमर मे जाना है, यह भी मैंने निश्चित् कर लिया। मैंने जीजी-माँ से बात की। उन्होने ठाकुर मामा से कहा। दूसरे दिन, ब्याज के साथ कितना खर्च होगा, यदि फेल हो गया तो क्या दशा होगी, आदि का मसविदा लेकर वे भाई-बहन मेरे पास आये। हिसाब-पर-हिसाब लगे। भविष्य भयकर प्रतीत हुआ और विलायत जाने के मेरे प्रयत्नो पर पानी फिर गया। बहुत दिन तक मैं टूटे हुए हृदय से भाग्य को दोष देता रहा।

मेरे जीवन मे अनेक बार ऐसा हुआ है कि इच्छित वस्तु न मिलने से लाभ हुआ है। कई वर्ष बाद धीरजलाल नाणावटी सिविल सर्विस मे पास होकर, रगून मे 'लीगल रिमेम्ब्रेन्सर' के पद पर पहुँचे। उससे तग होकर वे छुट्टी लेकर बम्बई मे वकालत करने आये। एक बार जब हम बीती बातो का स्मरण कर रहे थे, तब उन्होने विलायत मे मेरे लिए की हुई तैयारी की चर्चा की। मैं जा न सका, इसके लिए मैंने दु ख प्रकट किया।

"वही तुम्हारे लिए धन्य क्षण था।" उन्होने कहा, "आज जो कुछ भी हो, उसी क्षण ने तुम्हे बनाया है।"

२२ जुलाई को मैं डिग्री लेने बम्बई गया। यह विचार करने के लिए मैं मछाशकर काका के पास गया कि अब क्या करना चाहिए। उनके भाई जमीयतराम काका ऊपर रहते थे। अग्रेजी पोशाक पहने हुए एक सज्जन ऊपर से उतरे और उन्होने अन्दर झाँका।

"क्यो, मछाशकर भाई! तबीयत तो ठीक है न ?" कहकर वे हँसे। मछाशकर काका ने उनका स्वागत किया।

"नही, मैं अब जाऊँगा, Good Night" कहकर वे चले गए।

"देखा, इसी का नाम है ग्रहदशा। इनको पहचाना ?"

"नही।"

"ये है भूलाभाई देसाई, एडवोकेट, अहमदाबाद मे प्रोफेसर थे। आज चार हजार रुपया महीना कमा रहे हैं। ये कोई विलायत गये थे ? तुम भी एडवोकेट बन जाओ। जगुभाई से पूछ आओ।" मछाशकर काका ने कहा

"ऐसे सुन्दर भाषण के पश्चात् मुझे जितनी भी जल्दी हो सके भाग आना चाहिए था। मैंने वही किया।

"मुझसे अब बडौदा नही आया जाएगा। डिग्री प्राप्त करने के 'प्रहसन' के लिए बम्बई आया, इससे तबीयत खराब हो गई है। बीमार होकर पडा हूँ। दवाई पीता रहता हूँ। लायब्रेरी के लिए भी कुछ करना है। मि० पोलक फिर आने वाले है।"

नरूभाई थे नर्मदाशकर सालिसिटर, मछाशकर काका के स्वर्गीय बडे भाई के पुत्र, बाद मे मेरे परम मित्र। मामा थे-मछाशकर काका के भाई जमीयतराम काका, जिनके साथ बाद मे मेरा सम्बन्ध पिता-पुत्र की तरह हो गया। परन्तु उस समय उनकी यह धारणा थी कि मै शौकीन और ढीठ लडका हूँ, और रत्न के समान उनके मनु को बिगाड रहा हूँ। मुझे ऐसा खयाल होता था कि उनका तेज स्वभाव पैसे के गर्व के कारण है। इस प्रकार हमारा सम्बन्ध Pride and Prejudice से आरम्भ हुआ।

उन्ही दिनो मैं सख्त बीमार पडा।

"दवा और खूराक घडी की तरह नियमित चल रहे है। दिल खोल-कर बात करने के लिए कोई मित्र नही है, ध्येय-जैसी कोई वस्तु तो है ही नही। चारो ओर अनेक पुस्तकें पडी है, पर पढने की मनाही है। निर्बल शरीर क्षीण हो गया है। घर से बाहर सिर नही निकाला जाता, परन्तु मन छटपटा रहा है, उछल रहा है, शक्ति-प्रदर्शन के क्षेत्र खोजता है। मैं जजीर से बँधे जानवर की तरह हो गया हूँ, जैसे भूखा जगली चीता पिंजरे मे तडप रहा हो। इस प्रकार, सर वाल्टर स्काट ने 'Talisman' मे रिचर्ड को वर्णित किया है, वैसा, जब दूसरे लोग युद्ध मे लगे हो, तब स्वय शैयावश होकर चिल्लाता हुआ।" १४-८-१९१०

"आज सुबह से शाम के पाँच बजे तक पेट मे बडा सख्त दर्द हुआ, और मैं अकेला बिना परिचर्या के पडा रहा। बुढिया-नौमी थी, इससे किसी को मेरी ओर देखने की फुरसत नही थी। शरीर को जब इतना कष्ट हो, तब मानसिक दु ख भी होता ही है। ओठ चबाकर, वेदना की

चीख को दबाकर, अकेलापन सहन करना ही मेरे भाग्य मे लिखा है ।

"यदि मैं शेयर गिरवी रखूं, तो मोतीलाल काका छ हज़ार रुपये दे सकते है । पाँच प्रतिशत ब्याज होगा । परन्तु इतना कर्ज़ सिर पर लेकर बैरिस्टर बनना तो बडा महँगा पडेगा और व्यवसाय जमाते हुए पाँच वर्ष जो प्रतीक्षा करनी पडेगी, तब तक खाऊँगा क्या ?

"दूसरी बात, कोआपरेटिव सोसाइटी के ऑडिटर की जगह खाली है । मोतीलाल काका ने अरज़ी देने के लिए कहा है। उनकी सिफारिश से डेढ सौ रुपये की नौकरी मिलेगी । अक्तूबर, नवम्बर और दिसम्बर के मिलकर पाँच सौ रुपये होगे । वे जनवरी मे सनद के लिए काम आएँगे । नौकरी अच्छी है और एडवोकेट की सत्र-फीस मे बाधा नही पडेगी । अत मे 'नही' कहना भी तो मेरे हाथ मे है ।" २७-९-१९१०

सरकारी नौकरी के लिए इस प्रकार मैंने एक पूरी अरज़ी दी । मैं किससे सलाह लूँ, यह मेरी समझ मे नही आया । बम्बई जाने से मेरा निर्बल स्वास्थ्य बिगडने का डर था । इसलिए जीजी-माँ विरुद्ध थी । ठाकुर मामा मुझे मुन्सिफ बनाना चाहते थे । औरों को भी यह पसन्द था । हमारे यहाँ पहले से ही एक चपरासी आगे और एक पीछे रहते आए हैं । यदि तुम मुन्सिफ बन जाओ तो फिर 'टीले की साहबी कायम रहे ।' कौन कहेगा कि चपरासियो का विश्व मे स्थान नही है !

मेरे पक्ष के सलाहकारो मे मनु काका और बाला (मेरी भानजी) थे। बाला खुले दिल की और बहादुर थी । जीजी-माँ की पाली हुई होने से वह मेरी छोटी बहन के अभाव की मूर्ति थी । उसने कहा—"मामा, तुम हाईकोर्ट मे जुट जाओ । फिर इन सबका बोलना बन्द हो जाएगा ।"

ता० ३-१०-१९१० की रात को मैं बम्बई के लिए चल पडा । सबसे कहा—"मैं सनद लेने जा रहा हूँ ।" मनु काका और मेरी भानजी दोनो जानते थे कि महत्त्वाकाक्षा से प्रेरित मैं मरने के समान होकर पैसे और आधार से हीन—परन्तु फिर भी आशा रखकर—एडवोकेट की परीक्षा की पढाई के लिए जा रहा था । उनको मुझ पर विश्वास था । उनका

प्रात्साहन भी मुझे प्राप्त था। उन्होने मुझे जो हिम्मत और आत्मविश्वास दिया उसके लिए आज भी मैं उनका ऋणी हूँ।

ता० ३-१०-१९१० को मैने नीचे लिखे अनुसार अकित किया है :

"मैं अपना दुख किससे कहूँ ? कहाँ जाकर रोऊँ ? भयकर और सर्वग्राही उद्वेग मुझे कुचल रहा है। जब कि मैं आगे पढने, प्रगति करने जा रहा हूँ, मुझे उत्साह से हँसते-हँसते विश्वास से सशक्त हो जाना चाहिए। इस समय मैं दुख-ग्रस्त हूँ, खिन्नता से निसत्व हो गया हूँ। मुझे सहायता देने वाला या मेरी हिम्मत बढाने वाला कोई नही है। आनन्द के लिए प्रेरणा करने वाला भी कोई नही है। सारा ससार सूने जगल के समान है। जीवन एक वेदना है। दैवी उल्लास मेरे लिए दुष्प्राप्य है। मुझे सहारा देकर चलाने वाली, मुझे प्रेरणा देने वाली मेरी 'देवी' मेरे सग नही है। मेरे भाग्य मे क्या रोना ही लिखा है ?"

चार दिन के बाद मैंने बम्बई से मनु काका को लिखा—

"आरम्भ मे मुझे कोर्ट मे समय पर जाना चाहिए। मैं हाईकोर्ट मे जाने लग गया हूँ और पाँच घण्टे झपकियाँ लेता रहता हूँ। जो काम हो रहा है वह इतना उकताने वाला है कि बैठे-बैठे अकुलाहट होने लगती है और बैरिस्टरो की ओर मुँह फाडकर देखते-देखते थकान हो आती है। अभी तो बेकारी का जीवन बिता रहा हूँ, पर नवम्बर मे कुछ कर सकूँगा।"

हाईकोर्ट का यह प्रथम दर्शन था।

बारह

बडे दिन की छुट्टियो के बाद पहली जनवरी १९११ को मैं बम्बई पहुँचा। उसी रात मैंने लिखा—

"मैं आया हूँ सही, पर ऐसे मानो शाप पाकर आया होऊँ। प्रेरणा देने वाला कोई नही है, इसलिए मेरी दशा दयनीय है। मुझे हिम्मत रखनी चाहिए। बाधाओ के आगे झुकना नही है। घर बसाने आया हूँ।

यह नया प्रयास है और इसे निभाना कठिन मालूम होता है। परन्तु हिम्मत रखे बिना छुटकारा नही है। मनु काका भी मुझे सुखी होने मे मदद देंगे।"

तीसरी जनवरी १९११ के दिन से मुरारजी गोकुलदास की नई चाल मे बीस रुपये के किरायेदार के रूप मे मैंने बम्बई मे रहना शुरू किया। लक्ष्मी को भी घर से बुला लिया। बम्बई की नई दुनिया और पति का साथ मिलने से उसके आनन्द का पार न रहा। फिर साथ मे मनु काका भी थे।

वे हर साल फेल ही होते रहे, और उनके पिता ने हमारे हठ के कारण उन्हे डिस्ट्रिक्ट प्लीडर की परीक्षा की तैयारी करने को बम्बई भेज दिया। वे अपने मामाओ के घर रह सकते थे जो यह सोचते थे कि मेरे कारण ही मनु काका की पढाई खराब हो रही है; उनके पिता को विश्वास था कि मेरे बिना वे आगे नही पढ सकते। हम दोनो को साथ रहने का अवसर मिला, इससे हम बहुत प्रसन्न हुए।

मकान नया था, कमरे हवा-रोशनी वाले थे और नये जीवन का उत्साह था। खर्च का तीसरा हिस्सा मनु काका देने वाले थे और मेरे दो हिस्से ईश्वर पूरे करेगा, ऐसा मुझे विश्वास था। भडौंच से थोडा पुराना फरनीचर, बरतन और गद्दे लाकर हमने घर-बार का श्रीगणेश किया।

ता० ९-१-११ को लिखा है—

"दलपतराम मेरे लिए जी-तोड परिश्रम कर रहे हैं। मेरा सौभाग्य है कि मुझे उनके-जैसा मित्र मिला है, अन्यथा यह घर आदि की सारी व्यवस्था मैं अकेला क्योकर कर सकता था? दुनियादारी का ज्ञान न होना भी एक दोष है। मुझे इसे दूर कर देना चाहिए।"

जमीयतराम काका की मेरे प्रति अच्छी धारणा नही थी, इसलिए उन्होने मनु काका से मेरी सगति छुडाने के प्रयत्न किए। काका का बोलने का तरीका सख्त था और पसन्द न आने वाले आदमी के साथ वे हेठी का

व्यवहार करते थे। मैं अपनी गरीबी और ग र्व की भावना के साथ १२-१-१६११ को उनसे मिला और घर आकर मैंने लिखा—

"मनु काका के मामा से मिला। बडे ही अभिमानी हैं। व्यवसाय मे सफलता मिली है, इससे दिमाग चढा हुआ है। मै चाहता हूँ कि वे बीस वर्ष और जीवित रहे। तभी उन्हे पता लगेगा कि विजय प्राप्त करने का ठेका अकेले उनका नही है। मैं उनके शब्दो को भूल नही सकता। मनु काका मे अकारण आवेश नही है, इससे मुझे बहुत-कुछ सहन करना पड रहा है।"

इन शब्दो मे बेहद अभिमान था। इस अवसर की बलिहारी कि हम दोनो बीस वर्ष जीवित रहे और एक-दूसरे को समझ सके।

जब हम बम्बई आये, तब मनु काका की और मेरी मैत्री का नया अध्याय शुरू हुआ। 'देवी' का दुखडा रोने की अब मुझे जरूरत नही थी। मनु काका को सुशील और समझदार स्त्री का आसरा था, इसलिए माँ के लिए रोने की आदत अब उनमे भी नही रही थी। अब हममे बाल-बुद्धि भी नही रह गई थी। मेरे साथ रहने से मेरी पैसे की कठिनाइयो को वे जान गए, इससे मुझे ऐसा लगा कि उनमे मेरे प्रति कुछ तिरस्कार उत्पन्न हो गया है। प्रशसक के स्थान पर वे आलोचक प्रतिस्पर्धी बनने लगे।

जब मै जीवन-सग्राम मे ज्यो-त्यो करके जूझ रहा था, तब मेरे प्रोत्साहन के लिए आवश्यक था कि कोई मुझ पर आत्मश्रद्धा रखे, किन्तु मनु काका की आलोचनाएँ मेरे इस भाव को ठेस पहुँचाती, और मैं मानो नि सत्व हुआ जा रहा था। हमारा साथ-साथ रहने का मूलत उद्देश्य तो यह था कि मैं उन्हे पढा-लिखाकर होशियार कर दूँ, किन्तु मनु काका को अब यह क्रम खलने लगा। इस प्रकार जिस शौक से हमने साथ-साथ रहना शुरू किया था, वह नष्ट हो गया। और मेरे सकटपूर्ण दिनो मे एक नई वेदना उत्पन्न हो गई।

हम अलग ही हो जाएँ, ऐसा व्यवहार भी हम अपना नही सकते थे। इसके अतिरिक्त इस मित्रता को अपनी नई समझ के अनुरूप बनाने का

न तो मुझमे ही धीरज था, और न ही मनु काका मे शक्ति । फलत' हमने ज़रा-ज़रा सी बात पर एक-दूसरे मे दोष देखना शुरू कर दिया । हमे एक-दूसरे की आदतों और बातो मे वैमनस्य दीखने लगा । मैं उन्हे पढाने बैठता, तो पढाई हो न पाती । हाँ, हममे से एक कुछ कह देता, तो हम लडने बैठ जाते, और घण्टो बाद फिर मेल हो पाता । छोटी-छोटी बात मे मुझे अपमान नज़र आता और बुरा लगता । मैं क्षुब्ध होता, व्याकुल हो-हो जाता और मित्र की कृतघ्नता से उद्वेलित होकर पत्रो, लेखो और डायरियो के पन्ने-के-पन्ने लिख जाता ।

ता० २०-२-१९११ को मनु काका के पिता का स्वर्गवास हो गया और हम दोनो भडौच जा पहुँचे । उस दिन मुझे कठोर आघात पहुँचा । मुझे लगा कि मनु काका मित्र के रूप मे किसी के साथ मेरा परिचय कराने मे शरमाते हैं । ऐसी आपत्ति के समय भी मैं उदार हृदय न रख सका । उन पर आयी हुई नई ज़िम्मेदारी को मैं न्याय की दृष्टि से न देख सका । वे बम्बई आये और मेरी आँखो ने देखा कि जैसे वे भिन्न हो गए हो ।

१९-३-१९११ को मैंने लिखा—

"अधिक खीचा जाएगा तो प्यार का तंतु किसी भी समय टूट जाएगा । प्यार बनाए रहने मे ही सुख है । चाहे कोई प्यार न दे परन्तु मेरी बुद्धि पर उन्होने जिस प्रकार की गुलामी जड़ दी है, उससे मुझे मुक्त होना चाहिए ।"

यह कहानी मनु काका की नही, मेरी है । जिस प्रकार की वृत्ति होती, उसी प्रकार वे बरतते । उनके आचरण और शब्द भले ही निर्दोष होगे, पर मुझे उनसे चोट-पर-चोट पहुँचती । यदि मैं अधिक समझदार होता, तो मैत्री और शक्ति, दोनो को सुरक्षित रखता । परन्तु वह बल कहाँ से लाता !

"इस गुलामी की हद हो गई, इस प्रकार मैं बार-बार लिखता हूँ । मनु काका का पत्र आया—काम का, संक्षिप्त और दर्पपूर्ण ।"

२९-३-१९११ को मैंने लिखा—

"जिसे मेरी आवश्यकता नही है, उसके लिए सहानुभूति रखने वाला भावुक गधा मैं क्यो बना हुआ हूँ ? इस प्यार की शृखला से मुझे अलग होना है। क्यो मैं प्यार की खोज मे निकला हूँ ?"

मेरे पत्रो और लेखो की सरिता बिना सयम के, आकुलता से छलकती और आक्षेपो का कीचड उछलाती बहती जा रही है। फिर भी हम एक-दूसरे के साथ इस प्रकार गुँथ गए थे कि अलग न हो सके।

मनु काका को शायद ही दोष दिया जा सकता है। पिता की मृत्यु से उन्हे आघात पहुँचा था, अपने कुटुम्बजाल मे वे पहली ही बार फँसे थे और वहाँ मेरा स्थान नही था। मै पढने के लिए उन्हे बम्बई आने को लिखता रहता, यह उन्हे अच्छा न लगता। जब मैं लापरवाही के आक्षेप करता, तो यह उनकी समझ मे न आता। मैं उन्हे अपने वास्तविक रूप में दिखलाई पडा—गरीब और अभिमानी, सर्वस्व माँगने वाला मित्र; जिसकी मैत्री की व्याख्या उन्हे जेल की दीवारो की तरह घुटी-सी जान पडी। वे उकता गए थे, परन्तु उससे निकल भागना उन्हे आता नही था। चुप रहने की मन मे आती, पर मौन धारण करने की उनमे या मुझमे शक्ति नही थी। मुझे क्षण-क्षण मे अपमान मालूम होता। मैं क्रोध और दुख के मारे उद्विग्न हो जाता और मेरे शरीर और मन पर इसका बडा बुरा असर पडता।

मैंने गीता की शरण ली। 'य सर्वत्रानभिस्नेह' बोल-बोलकर मैं शक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न करता। परन्तु यह सरल नही था।

"ये दुख आ पडे हैं। मेरी तो कमर टूट गई है।" १५-६-१६११

● ● ●

"मनुभाई के साथ मेरे झगडे चल रहे हैं। स्थिति यह है कि एक शब्द भी बोले बिना मुझे सहना, अपने स्वभाव को जीतना और अपमान को पी जाना है।" ११-७-१६११

● ● ●

'दो दिन बडे खराब बीते। मनु काका जो चाहे, कहते रहे। मैं

हड्डियो का पिंजर हो गया हूँ, कौन जाने मेरा क्या होने वाला है ?"

१६-७-१६११

"मे समय, पैसे और शरीर को व्यर्थ गँवा रहा हूँ । अथवा व्यर्थ ही झगडा कर रहा हूँ या शोक मनाता हूँ । मनु काका अनेक प्रकार से मुझे दोष देते है और अपनी निर्बलता का मूल मेरी मैत्री मे ढूँढते हैं ।"

२०-७-१६११

● ● ●

"मनु काका के साथ बात करते हुए मैं अकारण ही गुस्से मे आ गया । इस प्रकार कब तक काम चलेगा ? मुझे रास्ता ढूँढना चाहिए ।"

४-८-१६११

● ● ●

"मैंने उनके लिए जो हो सका, किया, मैं हार गया, अब मुझ पर जिम्मेदारी नही है ।"

२०-८-१६११

दिसम्बर मे मेरे एक मित्र की माता सख्त बीमार थी । उनके साथ मै डुम्मस गया । मुझे वायु-परिवर्तन और शान्ति की आवश्यकता थी । लक्ष्मी बहन के सम्पर्क मे मुझे खूब शान्ति मिली ।

लक्ष्मी बहन छोटी आयु मे विधवा हो गई थी । केवल एक पुत्र ही उनका सहारा था ।

सम्मिलित परिवार मे उस असहाय विधवा ने अपार दु ख सहन करके लड़के को पढाया । चक्की चलाकर, कपडे धोकर, पराये बच्चो को पाल-कर उसने सबको लज्जित कर दिया । अब बडी आयु मे जब लडका वकील हो गया और सुख के दिन आये, तब प्राणघातक रोग ने उन्हे शैया पर डाल दिया है ।

समाज ने उन पर इतना जुल्म किया था, फिर भी उनके स्वभाव पर उसका एक भी आघात नही लगा था । वे उदार, क्षमाशील और माधुर्य-पूर्ण ही बनी रही थीं । 'लक्ष्मी बहन अर्थात् बुद्धिमत्ता' ऐसा सब मानते थे । सच पूछो तो उनका मीठा, विशाल-हृदयी स्नेह छोटे-बडे सबको

अपना बना लेता था। उन्होने बहुत सहा था, सहा भी था प्रसन्न-मुख से, और इसी मे उन्होने शक्ति और प्यार के तत्वो को पा लिया था।

मैं एक महीना उनके साथ रहा। वे बिस्तर से उठ नही सकती थी, इसलिए मै उनके पास बैठकर विनोदपूर्ण बाते करता रहता। उन्होने अपनी उदारता से मुझे छोटा भाई बनाया। मैंने उनको बडी बहन माना। उन्होने मुझे अपने अनुभव सुनाए। मैंने अपने दु ख रोए। मैं रो पडा— उनकी उदारता से आकर्षित होकर। समाज के दिये दु खो को जिस अटल धीरज से और मिठास से उन्होने सहा था, उसके आगे मेरे दु ख— जिन्हें मैं नोच-नोचकर बडा कर लेता था—तुच्छ मालूम हुए। उन्होंने मुझे सान्त्वना दी, शब्दो से नही परन्तु सहृदयता से—मुझे समझाकर। उनके साहचर्य से मैं अपने मन की व्यथा को कुछ अशो मे भुला सका।

२४-५-१६१२ को लक्ष्मी बहन का देहान्त हो गया। मैंने लिखा—

"यह आत्म-समर्पण की मूर्ति—उदार, पवित्र और उन्नत भावो की स्रोत—मेरी गुरु थी। उन्होने मुझे सुख-दु खानुभव के गौरव की शिक्षा दी।"

शिष्य सीख नही सका, इसमे गुरु का दोष नही था।

लक्ष्मी बहन मानवता के जीवित पराग के समान थी। अत्याचार और दु ख को उन्होने माधुर्य और सहृदयता प्राप्त करने की सीढियाँ बना लिया था। हिन्दू समाज की रची हुई फाँसी पर लटककर, वेदना सह कर जीते-जी मरकर, औदार्य मूर्ति के रूप मे उन्होने पुनर्जीवन पाया था। उनकी सहृदयता हरेक को मोह लेती, उसका उद्धार करती उसे उन्नत करती। यदि हम सहृदयता को स्त्रीत्व का प्रथम अग मानें, तो लक्ष्मी बहन स्त्रियो मे श्रेष्ठ थी।

२० नवम्बर को मैंने डुम्मस से 'बड़े, स्वतन्त्र और लायक बने हुए मित्र मनु काका' को अपने मैत्री-सम्बन्ध मे हुए परिवर्तन के विषय मे स्पष्ट शब्दो मे लिखा। वह पत्र कटु कटाक्ष से भरा हुआ और अन्यायपूर्ण भी था। उस पत्र मे इस प्रकार के शब्द थे—"बीते सुख से मनुष्य व्यथित होता है, उसी प्रकार मेरा भी व्यथित होना स्वाभाविक है। सभी

की रगो मे शीतल और नपा तुला लहू नही बहा करता' तुम्हारा जन्म-दिन है, इसलिए लिख दिया है परदा उठा दिया, अब शायद ही उठेगा। माफ करना।"

१६११ मे अपने जन्म-दिन पर हमेशा की तरह मैंने वर्ष का लेखा लिख डाला। उसमे दिल के अनेक गुबार निकाले। पिता नही थे। पैसे की कमी थी। 'पाखाना-पुराण' के कारण और मनु काका के साथ के सम्बन्ध के कारण अनेक अपमान सहन किये थे। दाम्पत्य-जीवन मे अपूर्णता थी। जीजी-माँ के दुख के प्रत्याघात हो रहे थे। मन और शरीर को निर्बलता खटक रही थी। असन्तुष्ट और आकुल महत्त्वाकाक्षा के शूल हृदय को छेद रहे थे।

जीवन की सीधी चढान पर चढते हुए असीम कठिनाइयाँ मुझे नीचे को खीच रही थी।

१६१२ के आरम्भ मे बडे दिन की छुट्टियो के बाद हम पुन. बम्बई आये। 'मनु काका फिर मित्र-भाव बढाना चाहते हैं', यह मैंने ३-१-१६१२ को लिखा।

सौभाग्य से आचार्य अपने पिता और पत्नी को लेकर हमारे यहाँ अतिथि के रूप मे आये और तीन महीने ठहरे। इससे हमारा सघर्ष कुछ कम हुआ। जून मे डिस्ट्रिक्ट प्लीडर की परीक्षा होती थी, इसलिए मनु काका को तैयार करने का कर्तव्य-पालन मैंने आरम्भ किया। शिक्षक बनने का धीरज मुझमे कभी नही था, तिस पर यह शिष्य कहाँ था—बेकाबू मित्र!

मैंने अपने स्वास्थ्य के लिए गरमियो की छुट्टियाँ हजीरा मे बिताने का निश्चय किया। इस रमणीक स्थान के लिए मुझमे बचपन से ही आकर्षण था। जीजी-माँ, लक्ष्मी, मनु काका और मैं हजीरा के लिए रवाना हुए। सूरत मे कोई मित्र न होने से, रादेर मे पिताजी के कोई पुराने परिचित थे—जिनका नाम जीजी-माँ को याद था—उनको पत्र लिखा। उन्होने हमे निमन्त्रण दिया।

सूरत के स्टेशन पर कोई लेने नही आया था। रात को किराये की

गाडी मे हम अपने परिचित को ढूँढते हुए रादेर पहुँचे। नौ बजे के लग-भग उनके घर का पता लगा। वहाँ सुनसान था, पर सामने के घर से कोई पडोसी जाकर उन्हे बुला लाया। उन्होने कहा—

"आज मेरा एक सम्बन्धी मर गया है। घर मे कोई नही है। जरा रुको, मै छत का दरवाजा खोले देता हूँ। गाडी वाले के साथ मैंने बात पक्की कर रखी है।"

यह सत्कार देखकर हम ठडे पड गए। मैं गाडी वाले से मिल आया। हम भूखे होगे, यह बात हमारा परिचित भूल गया था, इसलिए छोटी छत पर डिब्बा खोलकर, खाने के लिए जो कुछ साथ लाए थे, उसीसे भूख मिटाई और जैसे-तैसे रात बिताई।

सुबह चार बजे हम गाडी मे बैठकर चल दिये। गाडी वाला भी रास्ते से अनजान था, इसलिए वह दो-एक बार रास्ता भूला। फिर अक्षय तृतीया के ज्वार के कारण पैदा हुए कीचड मे गाडी के पहिये धँसने लगे। धूप भी निकल रही थी। चारो तरफ मृगमरीचिका नजर आने लगी। थोडी देर तक तो ऐसा मालूम होने लगा कि गाडी कीचड मे ही समा जाएगी। अन्त मे जैसे-तैसे भरी दोपहरी मे हम हजीरा पहुँचे। दूसरे दिन मैंने लिखा—

"हजीरा एक रमणीक स्थान है। पर मनु काका को पढने की इच्छा नही होती।" २५-४-१९१२

"मनु काका का मन घर की ओर ही लगा है, उनका व्यवहार असह्य है। गीता ही मेरा आश्वासन है।" ५-५-१९१२

"अन्त मे छुटकारा मिला। घर के लिए पागल मनु काका चले गए। मेरे दूर होने से वे बिलकुल नही पढेगे।" ६-५-१९१२

और इस प्रकार हमारी मित्रता का पहला अध्याय समाप्त हो गया।

इस छुटकारे से मुझे लाभ हुआ। अपना शरीर सुधारने और आठ महीनो बाद होने वाली परीक्षा की ओर मैं ध्यान लगा सका। मैंने भगवद्गीता और योगसूत्र का पुनः-पुनः पारायण किया और स्वास्थ्य भी

प्राप्त किया। जब हमने हजीरा छोडा, तब अपरिचित-उल्लास का मुझे अनुभव हुआ।

"हजीरा छोडा, सुन्दर, मनोरम हजीरा! वहाँ का वातावरण जितना प्रेरणा-मूलक था, उससे कही अधिक प्रेरणा-मूलक उसके सस्मरण थे। बरसो पुरानी बाल्य-काल के सपनो से अकित वेदना भावुकता के प्रवाह मे फूट निकली।"

मनु काका और मै अलग तो हुए, पर हमारा बधन अटूट था। जून मे जब वे फेल हुए तो मामा के ऑफिस मे क्लर्क की नौकरी कर ली और मुरारजी चाल मे, उसी मजिल पर अलग कमरा लेकर रहने लगे। जिस प्रकार मित्र-भाव से हम पहले रोज मिलते और बाते करते थे, उसी प्रकार अब भी करते। परन्तु अपनी डायरी मे मै अमित्र-भाव से टीका करता, और वे बिरादरी के लोगो के पास जाकर करते। इस प्रकार मेरे सकट मे वृद्धि होती रही।

ज्यो-ज्यो जीवन बीतता गया, त्यो-त्यो बीच का अतर भी बढता गया, परन्तु प्यार के बन्धन शिथिल न पडे। हम एक-दूसरे का सम्पर्क न छोड सके। मैं हमेशा सोचा करता कि क्या कभी पहले-जैसा अच्छा सम्बन्ध फिर स्थापित होगा?

१९१८-१९ से मनु काका के दिल मे मेरे प्रति फिर सद्भाव उत्पन्न होने लगा। मेरा हृदय इतना चोट खा चुका था कि फिर से पहले की अवस्था लौटाने मे मुझे देर लगी।

जब हम दोनो अधेड आयु के हुए, तब छिछोरेपन से ऊपर उठकर, अपनी मैत्री के अमर तत्त्वो को परख सके।

तेरह

इस सारे समय मे नन्ही लक्ष्मी नि शब्द सेवा से मुझ पर अधिकार किये जा रही थी। उसकी सारी प्रवृत्ति का केन्द्र मै ही था। मेरे उठने से पहले वह उठती और मेरे लिए सारी तैयारी कर रखती। मेरी आदत

ग्रौर रुचि के अनुरूप खाना बनाती। यह कोई सरल काम नही था। मै तो था हमेशा का कमजोर। जब तरग मे आ जाता तो अनजाने ही एक-दो रोटी अधिक खा जाता और बदहज़मी हो जाती। इससे परोसने वाले पर गुस्सा होता। बिना बताए दो मेहमानो को साथ ले आता और उनके लिए भी तैयारी की आशा रखता। दिन-भर का थका-माँदा आता, तो दो-एक झिडकियाँ भी सुना देता।

लक्ष्मी ने इन सबके लिए अपूर्व सहिष्णुता पाई थी। वह बोलती कम थी। मुझसे उसे बडा डर लगता था। वह कभी थकती नही थी और थकती, तो पता नही लगने देती थी। वह कभी रोती नही थी, शिकायत नही करती थी। उसकी कोई सहेली नही थी और पढने का शौक भी उसे नही था। सारा दिन वह घर के कामो मे लगी रहती और कब पतिदेव रीझते हैं, इसी की प्रतीक्षा करती रहती।

उसकी सेवा ने मुझ पर शासन जमाना आरम्भ किया। दिन-भर वह घर मे अकेली रहती, इससे मैं जल्दी घर आ जाता। ट्राम से उतरकर, शाम को जब मैं घर की ओर कदम बढाता, तब रसोई तयार करके, खिड़की से मुँह निकाले मेरी प्रतीक्षा करती हुई वह खड़ी रहती। मुझे भी ऊपर देखने की आदत पड़ गई थी। उसे देखकर मेरे पैरो मे नई चेतना आ जाती और मै तेज़ी से सीढियाँ चढता। अपने लिए उसे इतना अधिक करते देखकर मेरा मनस्वी और स्वार्थी हृदय उसके वश होकर उसकी ओर ममता से झुकने लगा।

१६१२ के जनवरी मास मे आचार्य येनागयोग (ब्रह्मदेश) मे थे। वहाँ से वे अपने वृद्ध पिता से मिलने भारत आये। इस भय से कि कहीं पिता पुन. ब्रह्मदेश न जाने दे, उन्होने अपने पिता दयाशकर भाई को कच्छ से बम्बई बुलाया।

हमारे दो कमरो मे मनु काका, लक्ष्मी और मैं, आचार्य, कमला भाभी, दयाशकर भाई और उनके वृद्ध नौकर ओधवजी, इस प्रकार सात आदमी रहने लगे। पकाने वाली अकेली लक्ष्मी थी।

आचार्य और मैं अनेक वर्षों से साथ नही रहे थे। वह आनन्द मुझे अब मिला। उन लोगो के कच्छी शिष्टाचार इतने नवीन मालूम हुए कि हम लोगो का बडा मनोरजन हुआ।

ससुर और कमला भाभी को एक-दूसरे के साथ कोई बात करनी होती, तो ओघवजी बीच मे चौखट पर बैठ जाते और उन्हें ही सम्बोधन करके भिन्न-भिन्न कमरो मे बैठकर ससुर-बहू बातें करते।

रात को हम लोग इन दो वृद्धो को घर छोडकर चौपाटी पर या नाटक-सिनेमा देखने जाते। कमला भाभी और आचार्य उस समय स्वतन्त्रता से बातें करते। उनकी सगति मे लक्ष्मी और मैं भी खुलने लगे। मैं भी सारा दिन काम करके थकी हुई लक्ष्मी को खुश रखने के प्रयत्न करता।

इस प्रकार आचार्य और कमला भाभी के हमारे यहाँ रहने से हम उनके ऋणी हुए। हमारे बीच का अन्तर दूर हो गया। परन्तु हमारे इस सहचार को न समझ सकने वाले मेरे अनेक सगे-सम्बन्धी व्याकुल हो उठे और पूछने लगे—

"तुम्हारे मेहमान कब जा रहे हैं?"

"आचार्य तो मेरे भाई से भी अधिक हैं। घर उन्ही का तो है," मैं उत्तर देता।

मेरे एक दूर के मामा गुस्से मे आ गए—"कनुभाई, तू तो मूर्ख है। मैं उपाय बताऊँ?"

"क्या?"

"शाम को जब मेहमान घर आने वाले हो, तब चौखट पर खडे हो जाना और उनके आने पर वे सुन सकें, इस प्रकार अपनी बहू से कहना—"अरी, यह क्या कहती है? जानती नही कि आचार्य मेरे भाई हैं?" यह सुनकर तेरे मेहमान तुरन्त पूछेगे—"क्या है, क्या है?" तब माथा ठोक-कर जवाब देना—"अरे भाई, जाने दो। स्त्री की बुद्धि गुद्दी मे होती है। यह मूर्ख समझती नही कि तुम मेरे भाई के समान हो। रोज मुझसे पूछती रहती है कि तुम कब जाने वाले हो, कब जाने वाले हो। स्त्री की जाति,

इतना भी नही समझती, क्या किया जाए ?" इस प्रकार कहकर तू निःश्वास छोडना । इससे तेरे मेहमान दूसरी गाडी से ही खिसक जाएंगे।"

अप्रैल मे अदालत बन्द हुई, इसलिए मेहमानो को घर सौंपकर हम भडौच चले गए ।

इसके पश्चात् कई सप्ताह वहाँ रहकर आचार्य ब्रह्मदेव वापस चले गये । उन्होने यह अनुभव किया होगा कि मुझ पर खर्च का भार बढ गया होगा, अत कुछ दिन बाद उन्होने सोने की एक चेन किसी बहाने से मुझे भेट मे भेजी ।

पहले तो मुझे गुस्से मे चेन वापस भेजने की इच्छा हुई, परन्तु फिर लोभ-वृत्ति की विजय होने से मैंने चेन को वापस न भेजकर बेच डाला और इससे थोडा कर्ज चुकाया ।

इन तीन-चार महीनों मे हमने खूब मज़े किये। लक्ष्मी और मैंने साथ-साथ हंसना, बोलना और आनन्द करना शुरू कर दिया ।

मेरे निर्बल शरीर की वह रक्षक बन गई थी । मेरी निर्धनता की वह हिस्सेदार, और मेरी समृद्धि थी । जब कभी मैं बाहर से जला-भुना, व्याकुल या अपमानित होकर आता, तब विश्वासपूर्वक वह मेरी टोपी पकडने के लिए आगे बढती और जगत् से चोट खाया हुआ मैं एकदम स्वस्थ हो जाता। घर पहुँचते ही वह मेरा हँसते हुए स्वागत करती, इससे मुझमे आत्माभिमान जाग्रत हो जाता ।

मेरे सौभाग्य से मेरी कसौटी के समय मुझे निर्धनता मे लक्ष्मी मिली । उसने मेरी शक्ति मे अपना सर्वस्व देखा । मुझे कवच से परिवेष्टित करने वाली वह मेरी अभेद्यता की सृजन-कर्तृ थी। वह न होती, तो मेरा शरीर कब का टूट चुका होता।

उन दिनो मेरे पास दो अच्छी गरम पतलूने थी । अदालत मे जाते समय मै उन्हे बारी-बारी से पहना करता। उनकी क्रीज़े ठीक रखने के लिए रोज़ रात को जब हम दोनो अकेले होते, तब उन पर ब्रश करके, ठीक से तह लगाकर, तकिये के नीचे रख लेता । यह काम लक्ष्मी करती और मैं

पास बैठकर अगले दिन के लिए जूतों पर पॉलिश करता ।

इस प्रकार के दैनिक नित्य-कर्मो से हमारी हिस्सेदारी नये तन्तु से बंधने लगी। मेरे जीवन मे इस प्रकार आकर लक्ष्मी मेरी बन गई अपने आत्म-समर्पण के अद्भुत जादू से ।

उसका खिडकी के साथ टिका हुआ गोल सुन्दर मुख, अधीर आंखो से नीचे मार्ग पर मुझे खोजता हुआ, आज भी मेरी आंखो के आगे घूम रहा है ।

हम एक साथ रहे, एक-दूसरे से अभ्यस्त हो गए। कुछ हँसे, कुछ बोले, कभी किसी मित्र के साथ रात को चौपाटी पर बैठकर गँडेरियाँ चूसते । इस प्रकार १९११ और १९१२ गुजर गए और वह मेरे जीवन की भागिनी बनती गई ।

'प्रिंस ऑफ डेस्टिनी' (Prince of Destiny) पढा। अच्छी पुस्तक है। परन्तु भारत की समस्या बिना सुलझे ही रह गई। इसे पौर्वात्य बनना है या पाश्चात्य ? इस पुस्तक मे पश्चिम को अच्छी चेतावनी दी गई है । १५-४-१९११

२५ जुलाई को मै चन्द्रशकर के मडल मे गया। कान्तिलाल पड्या ने 'शिक्षित भारतीयो पर सस्कृत का दायित्व' (The Claim of Sanskrit on Educated Indians) विषय पर भाषण दिया। असल मे देखा जाए तो उस समय तक सारा मडल 'गोवर्धनराम मडल' था। प्रत्येक बार 'सरस्वती चन्द्र' से उद्धरण दिये जाते । उनके विचार और सिद्धान्त वेदवाक्य माने जाते। दो-चार ने कान्तिलाल के विचारो की भी पुष्टि की। मैं इस सभा मे बोलते हुए घबराता था। इसका मुझे खयाल नही था कि मैं कैसे बोलूंगा। एकान्त कमरे मे, शीशे के आगे, कॉलेज के हॉल मे, नर्मदा के पुल के नीचे मैंने अनेक भाषण अकेले-अकेले पढे और दिये थे। किस अवसर पर क्या बोलना चाहिए, इस विषय पर सुन्दर वाक्य लिखकर रट रखे थे। बड़ौदा कॉलेज के 'वाद-विवाद-मडल' मे बोलने के लिए मैं प्रसिद्ध था, परन्तु बम्बई के इन वाग्शास्त्रियो के बीच मेरी जबान

नही खुलती थी। कोई सोच ही नही सकता था कि मैं भी कुछ अच्छा बोल सकता हूँ।

आज मेरा दिमाग काबू मे नही। भारत का गरीब युवक स्त्री-बच्चो को पाले या सरकृत पढे ? और गोवर्धनराम भाई ने कह दिया तो क्या हुआ ? मै उठा। वर्षो की तैयारी ने मेरी मदद की। अपनी विचित्र अंग्रेजी मे तीखे तमतमाते ढग से मैंने कान्तिलाल की खबर ली। मैं पौन घण्टे के लगभग बोलता रहा। जब मैंने अपना वक्तव्य समाप्त किया, तब तालियाँ मेरे कानो मे कह रही थी कि मैंने अपनी असीम प्रगति कर ली थी। सबने मेरा अभिनन्दन किया। चन्द्रशकर ने तो मुझे गले से ही लगा लिया। वकील भाजेकर सभापति थे। उन्होने अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशसा की। सभा समाप्त हुई। थोडे दिनो बाद न्याय-मूर्ति चन्दावरकर के सभापतित्व मे पुनर्विवाह कानून के वार्षिक समारोह मे बोलने का मुझे निमन्त्रण मिला। मैंने उसी रात को लिखा—

"सबने मुझे बधाइयाँ दी। बडी जीत हुई। परन्तु अपने आनन्द और विजय का भागी किसे बनाऊँ ? देवी तेरे बिना यह सब किस काम का है ?"

चन्द्रशकर उस समय एल-एल० बी० मे पढ रहे थे। उनके सौजन्य और शीलता का उस समय मुझ पर गहरा प्रभाव पडा। रोज शाम को वे गप्पें लडाने बैठते। फुरसत वाले और मित्र भी आते। उनकी पहली पत्नी वसन्तबा सबको चाय देती और फिर साहित्य की तथा अन्य बहुत-सी चर्चाएँ होती।

चौदह

१९०७ या १९०८ मे जब मैं लॉ-क्लास से ट्राम मे बैठकर घर आ रहा था, तब एक भाई मेरे निकट आकर बैठे।

"क्या पढ रहे हो ?" उन्होने पूछा।

"Guizot's English Revolution," मैंने उत्तर दिया।

"तुम पढने के लिए पढ रहे हो या लिखने के लिए पढ रहे हो ?"

इस प्रश्न से मुझे बडा अचम्भा हुआ। "पढने,—और इच्छा हो तो लिखने के लिए।" मैंने उत्तर दिया। इस प्रकार मेरा और चन्द्रशकर पड्या का परिचय हुआ।

१९११ मे जब मुरारजी गोकुलदास की चाल मे रहने के लिए आया, तब चन्द्रशकर पड्या भी उसी मालिक की साथ वाली चाल मे रह रहे थे।

इन चालो मे नडियाद के अनेक नागरिक रहते थे। तब सुखनराम त्रिपाठी भी चाइनाबाग के बंगले मे रहते थे। इन सबमे चन्द्रशकर गोवर्धनराम के साहित्यिक उत्तराधिकारी माने जाते थे। वे सेठ मुरारजी के पौत्र सेठ रतनशी धरमशी मुरारजी के शिक्षक थे, इसलिए इस रूप मे भी उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी।

चन्द्रशकर मे मित्रता करने और निभाने की अच्छी आदत थी। जो उनके परिचय मे आता, उसके वे सरक्षक बन जाते और उनका सच्चा आकर्षण तो यह था कि जो भी उनके ससर्ग मे आता, उससे इतना मधुर बोलने की कला उन्हे आती थी कि उसकी आत्म-श्रद्धा उनके प्रति अधिक बढ जाती।

आर्यसमाज-मन्दिर मे प्रति रविवार को चन्द्रशकर का मित्र-मण्डल भाषण करने के लिए एकत्र होता, उत्तमलाल त्रिवेदी, नगीनदास मास्टर, मनसुखलाल मास्टर, कान्तिलाल पड्या, अम्बालाल जानी, नृसिंहदास विभाकर आदि उनमे मुख्य थे।

१९११ की १५ जनवरी को आर्यसमाज-मन्दिर की उस सभा मे मैं भी चन्द्रशकर के साथ गया। उस समय उस सभा का नाम 'दि यूनियन' था। बाद मे वह 'गुर्जर सभा' कहलाने लगी। इस सभा के विषय मे मैंने लिखा—

"सभापति ने असबद्ध, अहकारपूर्ण और उकताने वाला भाषण दिया। अन्य लोग ठीक बोले। विभाकर ही अकेले अच्छे वक्ता थे। उनके मुकाबले मे मैं कहाँ ? बम्बई अपनी शक्ति-परीक्षा का अच्छा क्षेत्र है।"

मैं देहाती कॉलेज का था। मुझे अँग्रेज़ी मे बातचीत करना नही आता था, इससे मुझे लगा कि बम्बई कॉलेज के विद्यार्थियो से मैं बहुत पीछे हूँ, और इस हीन मन·स्थिति के कारण मुझे बडा सकोच होता।

मैंने यह सकल्प किया कि मुझे अँग्रेज़ी मे बातचीत करना सीखना चाहिए।

मैं दूसरी बार सभा मे गया—

"मणिशकर रत्नजी भट्ट (कान्त) का भाषण सुना, अच्छा बोलते है, परन्तु अव्यवस्थित। फतहचन्द लालन अच्छे वक्ता हैं।"

परन्तु अपने-आपको इस मण्डल मे शामिल होने लायक न समझकर मैं अलग रहता और उनकी गुजराती तथा अँग्रेज़ी बोलने की कला पर मुग्ध हो जाता। मेरे मन मे रह-रहकर आता कि कब मुझे भी इस प्रकार बोलना आ जाएगा।

मेरा दूसरा मित्र-मडल बडौदा कॉलेज के साथियो मे से था। उसके प्रमुख थे विट्ठलदास अकलेखरिया—जो आगे जाकर एलफिन्स्टन हाईस्कूल के प्रिंसिपल बन गए थे। २६ मार्च को इन मित्रो के साथ मैं दादाभाई नौरोजी के दर्शन करने वरसोवा गया—

"वरसोवा बडी सुन्दर जगह है। उन्होने बडे उत्साह से हमारा स्वागत किया। पचासी वर्ष के होने पर भी वे अभी सशक्त है, पर बोलते हुए हाँफने लगते हैं। वे सादा जीवन बिता रहे हैं। उनका निवास-स्थान बडे कलात्मक रूप से सँवारा हुआ है। बिना आडम्बर के जीवित रहना उन्होने जाना और अब विश्राम लेना भी जानते हैं। सार्थक जीवन और भव्य वृद्धत्व।"

सब पर गोवर्धनराम का गहरा प्रभाव था। सब 'सरस्वती चन्द्र' को धर्मशास्त्र मानते। 'गोवर्धनभाई' ने किस अवसर पर क्या कहा और कैसा बरताव किया, उसके सस्मरण वहाँ ताज़े होते। कभी-कभी वहाँ नरसिंहराव या बलवन्तराव ठाकुर भी आते। किसी ने कुछ लिखा होता, तो वह वहाँ पढकर सुनाया जाता।

चन्द्रशकर उस समय 'समालोचक' का सचालन करते थे। अबालाल जानी 'गुजराती' के उप-सम्पादक थे।

मुझे पहली बार ऐसा मडल मिला, जो साहित्य को जीवन का प्रथम अग मानता था। उत्तमलाल त्रिवेदी आयु मे बडे थे, पर इस मण्डल मे विद्वत्ता की कमी पूरी करते थे। वे मुरारजी गोकुलदास की नयी चाल मे पहली मजिल पर रहते और बकालत करते थे। किसी समय उनके पास खूब पैसा था, परन्तु नये राष्ट्रीय उद्योग शुरू करने की लगन मे उन्होने पैसा खो दिया था। मुख्य रूप से वे सरस्वती के भक्त थे। उनका सारा कमरा पुस्तको से भरा था। साहित्य, तत्त्वज्ञान, सस्कृत, अर्थशास्त्र और राजनीति के वे ज्ञाता थे।

उनका कोमल शान्त स्वभाव जिस प्रकार सबको आकर्षित करता था, उसी प्रकार उसने मुझे भी आकर्षित किया। सीढियाँ उतरते या चढते मेरी आवाज़ सुनकर वे मुझे बुलाते और हम लोग अनेक विषयो पर चर्चा करते। विपक्ष मे बोलने की उनमे अच्छी शक्ति थी। अनेक विषयो मे उन्होने मुझे नये ढग से विचार करने की प्रेरणा दी। उस समय वे तिलक महाराज के 'कर्मयोग' का गुजराती मे अनुवाद कर रहे थे। कभी-कभी उसे भी पढकर सुनाते।

चन्द्रशकर का दरबार रोज़ बडी गम्भीरता और ज़रा आडम्बर से दुनिया के प्रश्नो का निराकरण करने के प्रयत्न किया करता। पर उन सबके पीछे से ऐसी ध्वनि आती रहती थी कि हम शहरी लोग विशेषकर नडियाद के, अन्य सबसे भिन्न और बढकर है। और इसमे उनका दोष नही था। उनके रक्षक हुए, नडियाद के मनसुखराम, मणिलाल नभुभाई, गोवर्धनराम, बालाशकर, दौलतराम पडया, छगनलाल पडया। इन सबके द्वारा गुजराती साहित्य मे युग प्रवर्तित हुआ था। उन्होने गुजराती साहित्य की एक पूर्ण प्रेरक महान् कृति 'सरस्वती चन्द्र' के द्वारा गुजरात का निर्माण किया था। मनसुखराम ने जीवनपर्यन्त काठियावाड के देशी नरेशो पर राज्य किया था। नडियाद ने पुराने विचारो को नया रूप देकर

गुजरात के सस्कारो की रक्षा की थी।

यह मण्डल इस सारी कीर्ति और सिद्धि का उत्तराधिकारी था। इसके सस्कारो का इन साहित्यकारो ने निर्माण किया, उन्हे प्रेरणा दी थी। साहित्यमय जीवन इसकी सृष्टि थी। उच्च अभिलाषाएँ रखना और भावनाओ का पोषण करना इसने अपना धर्म माना था। इसका रचा हुआ वातावरण हीनता या गँवारपन से कलुषित नही होता था। इसमे घुल-मिल जाना मेरा सौभाग्य था।

इस मण्डल मे मैं तुरन्त मिल गया। गुजराती के सिवा अन्य साहित्य भी मैंने बहुत पढे थे। साहित्यिक जीवन मुझे प्रिय था। भावनाओ के अनुसार जीने के प्रयत्न तो मैं करता ही रहता था। सस्कारो की ओर मेरी बडी रुचि थी। जलमुर्गी को जल पाकर जैसा आनन्द आता है, वैसा ही आनन्द मुझे आया।

मैं भी अपने साथ कुछ नवीन तत्त्व लेकर आया। यूरोपीय साहित्य के अध्ययन से एकपक्षी बनी हुई मेरी दृष्टि, वाणी से झरते हुए विनोद, कटाक्ष और विचित्रता कभी स्वच्छन्द और अनियन्त्रित, कभी सुरुचिहीन सर्वग्राही खण्डन-शक्ति, मेरा गुजराती का घोर अज्ञान और अरविन्द की राष्ट्रीयता—इन सबसे मैं भिन्नता उपस्थित करता।

सारा मण्डल, और विशेषकर चन्द्रशकर जब बातो की गम्भीरतापूर्वक चर्चा करते तो मेरी विनोद-वृत्ति जाग उठती और मेरे मुँह से कुछ-न-कुछ भयकर बात निकल जाती। इसमे मास्टर मेरे साथ होते थे। उनकी सयमी परन्तु तीक्ष्ण विनोद-वृत्ति भी मेरी तरह कभी-कभी उग्र हो जाती थी। सबकी स्वस्थ और गम्भीर आत्माएँ इस प्रकार की अरुचिकर बात से बेचैन हो उठती थी। परन्तु फिर भी उन सबने अपने प्रेम और उदार-भाव से मुझे अपना बना लिया।

एक बार चन्द्रशकर, नया कमरा किस प्रकार सजाया जाए, इस विषय मे किसी मित्र से की हुई अपनी बातें सुना रहे थे। चारपाई कहाँ रखी जाए, अलमारी कहाँ खडी की जाए, मेज़ को कहाँ रखा जाए!

चन्द्रशकर ने बढा-चढाकर सारे प्रश्नो की ऐसी चर्चा की कि मेरा सिर चकराने लगा।

"चन्द्रशकर," मैंने कहा, "ये सब व्यर्थ की बाते है। घर की स्वामिनी नवबधू, जिसमे अधिक-से-अधिक आकर्षण मालूम हो, वही सबसे अच्छी सजावट है।"

मण्डल के, जातीय विषयो को बहुत ही दूर से, यथासम्भव सस्कृत काव्य से या 'सरस्वती चन्द्र' की किन्ही पक्तियो से स्पर्श करना, इस नियम को मैंने तोडना आरम्भ कर दिया था।

चन्द्रशकर ने एक कविता लिखी थी। उसमे 'गरम-गरम चुम्बन' ('ऊनाँ ऊनाँ चुबनो') शब्दो का प्रयोग किया था। जब मैं पहुँचा, तब इन शब्दो के औचित्य के विषय मे चर्चा चल रही थी। एक मित्र चुम्बनो के क्या-क्या विशेषण हो सकते हैं, इस विषय पर विद्वत्तापूर्ण विचार प्रकट कर रहे थे। मैंने कहा, "ये शब्द कविता मे होने ही नही चाहिएँ। सारा वर्णन नीरस है। गरम-गरम चुम्बन तो अंग्रेजी कवियो के 'hot kisses' का अनुवाद है। ठडे इगलैड मे गरम चुम्बन आकर्षक लग सकते हैं, गरमी देने वाले हो सकते है, परन्तु गरम भारत मे तो इनसे जलने का दाग बन जाएगा। यदि ये आकर्षक न हुए, तो फिर सरस तो हो ही कैसे सकते हैं? इसलिए ये कविता मे शोभा नही दे सकते।"

एक और भी प्रसग याद है, यद्यपि यह मैं स्वीकार कर लेता हूँ कि उसमे भी मैंने सुरुचि को भग किया था। एक बार चन्द्रशकर मुझे किसी के यहाँ ले गए। वहाँ अनेक मित्र चाय पीने के लिए एकत्र हुए थे। चन्द्रशकर का मैं मित्र था, इससे अनेक लोग मुझे भी नागर समझते थे। उस दिन मेरी आवाज़ बिलकुल बैठी हुई थी, इससे मैं बोल नही सकता था।

बातो-ही-बातो मे किसी ने, 'नागर जाति की सुन्दरियो मे ग्रीक-सौन्दर्य मिलता है', किसी पुरातत्ववेत्ता के इस कथन का प्रतिपादन करना शुरू कर दिया। दूसरे ने अनुमोदन किया। तीसरे ने नाक और आँखो के रंग का वर्णन किया। चन्द्रशकर घबराहट से मेरी ओर देखते रहे, कही मैं न

कुछ कह बैठूं ।

कुछेक को छोडकर समस्त गुजराती जनता के शारीरिक सौन्दर्य के विषय मे मेरा मत बहुत खराब था, और आज भी है । ग्रीक की सौन्दर्य-मूर्तियो पर तो मैं बचपन से ही मुग्ध था । कॉलेज के दिनो से ही मैंने 'वीनस डमिलो' के मुख के चित्र को फ्रेम करवाके रखा था । इसकी भी एक दिलचस्प कहानी है । एक नये परिचित आये, मुझसे बातचीत की और मेरे कमरे की तस्वीरें देखने लगे । टेबल पर वीनस का वह चित्र था । उन्होने पूछा—

"ये कौन है ? श्रीमती मुन्शी ?"

By all the Gods of Olympus ! मुझे ऐसे लगा कि मै अचेत हुआ जा रहा हूँ ।

ग्रीक-सौन्दर्य के विषय मे चन्द्रशकर के इस मण्डल की आजादी से मेरा सिर भन्ना उठा । जैसे-तैसे आवाज़ निकालकर मैंने कहा—

"यदि तुम लोगो की बात सच है और हममे ग्रीक-सौन्दर्य का अश है, तो हम जैसो को पैदा करने के लिए तो बेहद बदसूरती इकट्ठी की गई होगी ।"

चन्द्रशकर और उनके प्रिय मित्र मनसुखलाल मास्टर इस मित्र-मण्डल की धुरी थे । प्रेमी मास्टर को मित्र बनाना और सँभालना आता था । उन्होने मुझे भी अपनाया । उनकी पत्नी तारा बहन मैट्रिक पास थी । ऐसी स्त्री के साथ बातचीत करना उस समय का एक बहुत बडा आनन्द था, इसलिए पहली बार उनके यहाँ साताक्रूज मे बडे शौक से गया । और फिर प्रत्येक शनिवार या रविवार को मास्टर के यहाँ जाना एक विशेष नियम बन गया । तारा बहन के पिता डॉक्टर खाँडवाला अपने समय के एक सुधारक और आर्यसमाजी थे । उनके परिवार का वातावरण स्वतन्त्र और खुश-मिजाज था । मास्टर के साथ का सम्बन्ध मेरे लिए नया अनुभव था ।

मास्टर बडी गरीबी मे पले थे । ट्यूशन करके पढे थे और १९११

मे हाजीभाई लालजी के यहाँ नौकरी करते थे। आज वे भारत मे बेजोड 'सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' के मुख्य सचालक-मत्री हैं। समकालीन भारत के उद्योग-क्षेत्र मे ज्वलत सिद्धि प्राप्त करने वाले सेठ वालचन्द हीराचन्द के पीछे, इनकी प्रामाणिकता, व्यवस्था-शक्ति और निश्चयात्मकता सहायक-रूप बनी है। भारत के औद्योगिक विकास मे इनका बहुत बडा हाथ है। इनका नाम अखबारो मे नही चमकता, परन्तु काबिल गुजरातियो मे इनका अग्रगण्य स्थान है।

१६१३ मे चन्द्रशकर के बडे मण्डल मे एक छोटा मित्र-मण्डल बना। उसका नाम मैंने 'षड्रिपुमण्डल' रखा था। उसमे मैं, चन्द्रशकर, मास्टर, कान्तिलाल पड्या, नृसिंह विभाकर और इन्दुलाल याज्ञिक थे। इन छहों मे मास्टर का और मेरा विचित्र रूप से सम्बन्ध बँध गया। उद्योग मे पडकर मास्टर ने साहित्य छोड दिया, परन्तु उनकी रसिकता स्थिर रही। अनेक बार मैंने उन्हे अपने सुख-दु ख का भागी बनाया है और आज भी हम दोनो परम मित्र हैं। जीवन के एक धन्य क्षण मे, जिसे वे भाजा मानते थे, उसके साथ भी उन्होने ही परिचय कराया। आज हम दोनो समधी हैं।

उस समय न्यायमूर्त्ति नारायण चदावरकर—शायद तब 'सर' नही बने थे—हर रविवार को 'स्टुडेंट्स ब्रदरहुड' मे व्याख्यान दिया करते थे। विद्यार्थियो को उनसे प्रेरणा मिलती थी। वहाँ Social Reform Association का समारम्भ हुआ। मैं विधवाओ की दशा पर बोला और चन्दावरकर ने खुली सभा मे मेरा अभिनन्दन किया। इसके बाद मुझमे कुछ आत्म-विश्वास उत्पन्न हुआ।

चन्द्रशकर के मण्डल ने भी मुझे खूब प्रोत्साहन दिया। 'दि यूनियन' मे होने वाले वाद-विवादो मे मै खूब दिलचस्पी लेने लगा। इस मण्डल मे प्रगतिशील गुजराती साहित्य के प्रति मुझमे प्रेम जागृत होने लगा और मैंने गुजराती मे पत्र-व्यवहार करना आरम्भ कर दिया।

१६१२ के शुरू मे 'स्टुडेंट्स ब्रदरहुड' की ओर से 'Theory and

Practice of Social Service' विषय पर 'मोतीवाला पारितोषिक निबन्ध' की घोषणा हुई। दलपतराम मुझे मोतीवाला के पास ले गए और उन्होने मुझे समाज-सेवा पर प्रकाशित हुई अनेक पुस्तकें दी। मैंने निबन्ध लिखा। अन्तिम तारीख (३१-१-१२) को शाम के सात बजे मैं मन्त्री के यहाँ गया और निबन्ध दे आया। पारितोषिक मुझे मिला। 'प्रेसिडेन्सी एसोसिएशन' लेडी रतन टाटा के हाथो प्रदान किया गया। चन्द्रशकर और मास्टर को बडा हर्ष हुआ।

किसी ने मास्टर से पूछा कि मैं किस कॉलेज से आया हूँ। उन्होंने कहा—'बडौदा कॉलेज।"

पूछने वाले ने तिरस्कार प्रदर्शित किया।

"जब ये बोले, तब सुनना और उसके बाद बडौदा कॉलेज का अन्दाजा करना," मास्टर ने भी चिढकर वैसे ही तिरस्कार से कहा।

एक दिन एक पत्र आया। किसी गुजराती पिता की शिक्षित लड़की मुग्ध हो गई है और मुझसे मिलना चाहती है। पहले तो मैं सोच मे पड़ गया। फिर शब्दो से कुछ मज़ाक का आभास हुआ। विचार मे डूबा हुआ मैं चन्द्रशकर से मिला। वे भी गम्भीर सोच मे पडे थे।

"मुन्शी, भाषण खत्म होने पर हम साथ ही चले थे, नही?"

"हाँ।"

"कौन-कौन लडकियाँ हमे मिली थीं, याद है? · ·बहन थी?"

"मैं ठीक पहचानता नही हूँ।"

"वही होगी। किसी से कहना मत। इसे पढो।"

यह कहकर उन्होने मेरे पत्र-जैसा ही दूसरा पत्र मुझे दिखाया। उसमें वह अज्ञात बाला चन्द्रशकर के सस्कारयुक्त लेखो पर मुग्ध हो गई थी और उनसे मिलना चाहती थी।

मैं अपना पत्र ले आया। हमने दोनो पत्रो का मिलान किया और इस निश्चय पर आए कि यह मास्टर ने ही मज़ाक किया है। यह विश्वास होने पर हम दोनो मे से किसका चेहरा उतर गया, यह मैं नही बता

संकता !

१९१२ मे हमने सभा का पुर्निर्माण किया। उसका नाम 'गुर्जर सभा' रखा और जहाँ तक मुझे याद है, उसका एक मत्री बनने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ था।

साथ-ही-साथ भडौंच, सूरत और माडवी के भार्गवो के तीन विभागो को एक करने के लिए हमने एक मण्डल स्थापित किया और मैं नरुभाई के साथ सह-मत्री बना। अगस्त मे 'भार्गव त्रैमासिक' निकला और मैं सपादक बना। सपादक बनने का यह मेरा पहला अनुभव था। कागज लाने, छपवाने और बन्द करने आदि का सारा काम दलपतराम और मैं करते। सब बिरादरियों के पत्रो के सपादको की परिषद् स्थापित करने मे भी मैंने हिस्सा लिया। 'समाज-सुधार कान्फ्रेंस' का भी एक वर्ष मन्त्री रहा। देवधर के साथ 'सोशल सर्विस लीग' के काम मे भी सहायता दी—इसी वर्ष या अगले वर्ष, यह याद नही।

१९१० मे भडौंच की बिरादरी मे माधुभाई साहब और मैंने मिलकर जो 'शिक्षा फड' खोला था, उसे सुदृढ बनाने के प्रयत्न भी किये। इस प्रकार मैं चारो ओर तन्मयता दिखलाता गया। जातीय कर्तव्यो मे अपनी सक्रियता के कारण मै जमीयतराम काका के निकट सम्पर्क मे आया। जाति-सुधार के प्रति मेरा उत्साह और प्रयास उन्हे जंचा और मेरे विषय मे उनका पहला मत बदल गया।

"भाई," एक बार उन्होने कहा, "यह बी० ए० की परीक्षा नही है कि उडते-उडते पास हो जाओगे। ध्यान रखना।"

पन्द्रह

१९१२ की दीपावली पर जीवन मे नया उत्साह आता जान पडा।

"आज चढता साल है। भविष्य अच्छा होता दीख रहा है। नये जीवन मे नई आशाएँ सचरित हो रही है। यह दीवाली सारे परिवार के साथ सुख और शान्ति से बिताई।" १०-११-१९१२

१८ नवम्बर को परीक्षा की तैयारी करने के लिए लक्ष्मी और मै मछाशकर काका के डुम्मस वाले बँगले पर गये। वहाँ कुछ पुरानी स्मृतियाँ ताजी हुई। दो-एक दिन 'डायरी' रोती रही, व्याकुल होती रही और फिर पढाई के बोझ से समझदार बन गई।

उस समय मै 'नियत कुरुकर्मत्वम्' का जाप सहसा बटोरा करता था।

उस समय की एडवोकेट की परीक्षा युवको का जीवन नष्ट करने के लिए रखी गई थी। क्या पढना चाहिए, इसकी कोई मर्यादा नही थी। किन विषयो के प्रश्न-पत्र साथ-साथ निकलेंगे, यह निश्चित् नही था। नम्बर का भी कुछ ठीक नही था। परीक्षा मे बैठे विद्यार्थियो मे से अच्छे-से-अच्छे एक-दो को परीक्षक चुन लेता था। पहले वर्ष कदाचित् ही कोई पास होता। दो-चार वर्ष बैठे रहना तो साधारण बात थी। मैंने अपनी तैयारी करने मे कोई कसर न छोड़ी। एक महीना डुम्मस मे रहा, दो महीने भडौच मे पढा और २३ फरवरी को परीक्षा देने बम्बई आया। एक विद्यार्थी ने स्वागत किया।

"मिस्टर, पहली बार आये हो? जाओ, दो-चार वर्ष ठहरकर आना।" परीक्षा शुरू हुई।

"बहुत थोडी आशा है। कमजोर तबीयत और उससे भी अधिक कमजोर तैयारी।"
२३-२-१९१३

पहली मार्च की परीक्षा खत्म हुई।

"प्रश्न अच्छे थे। ठीक उत्तर दिये है, परन्तु मुझसे जबरदस्त दबग विद्यार्थी मुझे पटक देंगे।" मैंने लिखा। फिर मैं तुरन्त माथेरान गया।

"माथेरान पहुँच गया। यात्रा खूब मजेदार रही। प्राकृतिक सौन्दर्य मोहक है। निवास-स्थान सुविधाजनक है। करतारसिंह विनोदी सगी है। पेनोरमा-पाइट भव्य है और वहाँ से अद्भुत दृश्य दिखाई देते हैं।"
५-३-१९१३

अपने जीवन मे मैंने यहाँ पहली ही बार पर्वत देखा। उस पर के वृक्षो के जमघट, उसकी एकान्त झाडियाँ, उसकी गाती हुई चिडियाँ और

इसके जगली पुष्पो ने मुझे हमेशा शान्ति और प्रेरणा प्रदान की है। उस पर घूमते-फिरते मैने जीवन के अनेक महासकल्प किये हैं। आज भी यह जीवन-कथा वही बैठकर लिख रहा हूँ।

करतारसिह और मैं दोनो कधे पर कोट डालकर स्वच्छन्दता से बिहार करते, गाना गाते, खूब टहलते और खूब सोते थे।

११ मार्च को बधाई के पाँच-छ तार आये। मैं भाग्यवान् निकला। एक ही छलाग मे इस दुरूह परीक्षा से पार हो गया।

मैं एडवोकेट बन गया। सशय, कठिनाई, घबराहट सब दूर हो गई। खुशी के मारे सारी रात नीद न आई।

जीवन के कठिन-से-कठिन छ वर्ष, १९०७ से १९१३, इस प्रकार समाप्त हुए।

गिरा, लडखडाया और आघात सहे। अत मे सीधी चढान वाली कठिन मजिल मैंने तय कर ही ली, किन्तु इससे भी अधिक कठिन अगली मजिल मेरी आँखो के सामने खडी थी।

१९१३ से १९२२

हाईकोर्ट

सन् १९१५ ई० की १२वी मार्च को, जब मै माथेरान से बम्बई के लिए चला, तब हर्षोन्मत्त-सा हो रहा था। 'सेकण्ड क्लास' मे आया, मैंने नोट किया—"Hurrah for success!"

एडवोकेट की परीक्षा मे उस समय बहुत कम लोग बैठते और उनमे से बहुत कम पास होते थे।

"बैरिस्टर बने बिना एडवोकेट बने, यह कैसे ?
क्यो, चिमनलाल सीतलवाड के जैसे!"

यह प्रश्नोत्तर प्रचलित होने से भडौच-सूरत के लोगो मे इस परीक्षा का बडा मान था। जीजी-माँ की अटल श्रद्धा और तपश्चर्या सफल हुई। उन्होने खबर सुनते ही तुरन्त पत्र लिखा—

१२-३-१३

"चि० भाई कनुभाई,

तापी बहन का आशीर्वाद।...तूने तन और मन से जो परिश्रम किया, उसका फल तुझे पहले वर्ष ही मिला, इसके लिए तुझे बधाई। अब प्रत्येक कार्य मे तुझे विजय मिले, यही मेरी कामना है।"

फिर माता का हृदय आनन्द-विभोर होकर अनायास ही पद्य मे गा उठता है।

'अन्तर आशिष आपतां, हरखे उलटे मन,
जननी जठरे ऊपनी, सफल कर्युं जीवन।
कुलदीपक हो दीकरा, काला मारा कहान,
विद्याभोग तम भोगवो, पामो जग माँ मान।
तन मन धन सुख माँ रहो, करो परमारथ काम;
यश पामो आ जगत माँ, धरो सदा चित हाम।
राज-काज हाथे धरो, मलो आबरू अनन्त,
जोइ ठरे मुज आँखडी, भले मीचे लोचन।'[1]

इसके बाद सगे-सम्बन्धी और मित्रो की बधाइयाँ मिली। मेरे स्व-जातियो ने भी मेरी बिजय मे अपनी विजय देखी।

तीसरे दिन मेरे ही स्थापित किये हुए बम्बई के भार्गव-समाज ने मुझे मान-पत्र दिया। मेरे गुणों का—वे मुझमे थे या नही, इसका विचार किये बिना—वर्णन किया गया। 'तालियों की गड़गडाहट' के बीच मुझे सम्मानित किया गया। 'भडौच के एडवोकेट का बम्बई मे सम्मान' इस शीर्षक से 'मुबई समाचार' ने टिप्पणी लिखी।

मुझ पर लक्ष्मी की कितनी कृपा थी, यह तो ईश्वर, जीजी-माँ और मैं ही जानता था; परन्तु 'हम है आपका उत्कर्ष चाहने वाले' ऐसे लोगो ने तो कालिदास के शब्दो मे लिख डाला—

निसर्गभिन्नास्पदमेकसस्थ अस्मिन्द्वय श्रीश्च सरस्वतीश्च[2]

---

१. हृदय से आशीर्वाद देते हुए हर्ष से मन लोट रहा है; जननी ने जन्म देकर जीवन सफल किया है। मेरा बेटा, मेरा काला कृष्ण, कुलदीप हो और विद्या का उपभोग करके जगत् में मान पाए। तन, मन, धन से सुख भोगे, परमार्थ करे, संसार मे यश पाए, चित्त मे विश्वास रखे। राज-काज हाथ मे रहे और अनन्त प्रतिष्ठा मिले; देखकर मेरी आँखें ठंडी हों और फिर भले ही वे मुँद जाएँ।

२ स्वाभाविक रूप से भिन्न स्थानों में निवास करने वाली लक्ष्मी और सरस्वती इनमे एक ही स्थान पर रहती हैं।

मैंने भडौंच जाकर नोट किया—

'२० मार्च को मैं भडौच आया। स्टेशन पर साठ-सत्तर आदमी लेने आये···रगीलदास सूरत स्टेशन पर मिलने आये·· परन्तु जिससे मिलने के लिए तरसता हूँ, वह कहाँ है ?'

२० मार्च के 'भरुच समाचार' के अक ने 'श्री भृगुपुरनिवासी ब्रह्म-कुलोत्पन्न मान्यवर मुन्शी-कुटुम्ब मे उदित हुए प्रथम एडवोकेट मि० कन्या-लाल माणेकलाल मुन्शी बी० ए०, एल०-एल० बी० का अभिनन्दन' किया।

२१ को बडौदा मे रहने वाले मित्रो और सम्बन्धियो ने समारभ किया। २३ मार्च को दादा भाई नौरोजी 'फ्री लायब्रेरी' के सदस्य और सहायक भी मेरा 'उत्कर्ष चाहने वाले' बन गए और 'परम-कृपालु परमेश्वर' से प्रार्थना की कि श्री नानालाल कवि की आकाक्षा 'महान् उद्देश्य की कर्म-सिद्धि मे जीवन की सार्थकता है, दिव्यता का उच्च प्रस्फुरण जीवन का उद्देश्य है,' यही मेरी भी आकाक्षा हो।

२४ मार्च को भृगुऋषि के वंशजो ने श्री भृगुभास्करेश्वर के पुराने 'नवा दहेरा' के सभामडप मे अँग्रेजी राज्य-कर्ताओ की भाषा मे मान-पत्र प्रदान किया। अँग्रेजी का मेरा बेढगा उपयोग उनकी दृष्टि मे आया।

"All this testify to your masterly command over the English language, to the close intimacy which you have acquired over the Eastern and Western authors !"

आज अँग्रेजी पर मेरा कितना प्रभुत्व है, यह मेरा मन जानता है।

उस दिन भार्गव कवियो ने हद कर दी। हमारी जाति के सगीत-शिरोमणि एक मित्र ने रागिनी जौनपुरी मे छेडी—

'हमरो उमग न माय, कन्हैया'

और गाते-गाते अतरे की एक पक्ति गा डाली—'Godly son of a a Godly father' इस वाक्य की सिद्धि हुई।

मेरा कौनसा लक्षण 'godliness' मे माना गया, यह मैं अब तक निश्चय नही कर सका हूँ।

एक दूसरे कवि ने अपनी भावना व्यक्त करते हुए छेडा—

'थयो थयो प्यारो तुं,
एडवोकेट सारो तु,
भृगुब्रह्म प्यारो तु,
देशीजन भारो तु,[1]

३० मार्च को आर्यसमाज मन्दिर मे 'यूनियन' ने अभिनन्दन-समारम्भ किया। १९ मई को पिताजी के सूरतवासी मित्रो ने नगीनचन्द हॉल मे मान-पत्र दिया। उन्होने इस बात का गर्व किया—'तुम्हारी कॉलेज की कार्य-कुशलता की नीव ऐतिहासिक शहर सूरत मे मजबूती से पडी और सूरत की सन्तानो द्वारा पैदा किये गए बौद्धिक वातावरण का प्रभाव तुम्हारे कॉलेज-जीवन पर कुछ कम नही पडा है।'

मुझे क्या पता था कि खरसाड, दिहेव और वीरआव से सीधे बड़ौदा कॉलेज मे आये हुए मेरे अनाविल मित्रो के प्रताप से मेरी कॉलेज की कार्य-कुशलता बढकर इतनी तेजस्विनी हो पाई थी !

मई मास मे माडवी के भार्गवो ने भी मुझे बुलाकर सम्मानित किया। वहाँ के कवियो ने भी कमाल किया। एक ने होरी बनाई—

'भार्गवनायक अगित जीवन, जनी सुसुमरणा सिरा,
कमल कठ माँ माला अरोपु प्रिय, स्वीकारो सुधीरा।

इन सब प्रथा के अनुसार किये गए समारम्भो और अतिशयोक्ति-पूर्ण मान-पत्रो मे जाति का गर्व था और मेरे परिवार के प्रति सद्भाव व्यक्त किया गया था। उन सबमे समाई हुई विचित्रता पर आज मैं हँस सकता हूँ। प्रत्येक वस्तु के विनोदी स्वरूप को देखने की मुझे बान पड़ गई है, परन्तु उसमे समाया हुआ स्नेह, जो मेरे जीवन की सच्ची समृद्धि है, उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ ?

इन सब अभिनन्दनो और मान-पत्रो मे कही गई बातो मे एक ही

---

१. तुम सबके प्यारे बन गए हो, अच्छे एडवोकेट हो, भृगुब्रह्म के प्यारे हो और मेरे देश के मान्य वासी हो।

बात शब्दश सच थी—यह सारा यश जीजी-माँ के प्रताप से था।

जाति विचित्र वस्तु है। इसके बन्धन टूट जाने पर भी इसकी शक्ति ओझल नही होती, आज वर्षो गुज़रे, मै ज्ञाति के बन्धन त्यागकर बैठा हूँ, जाति से बाहर हूँ, मेरे मन से जातीयता की सीमाएँ मिट गई हैं। फिर भी मेरी समझ मे जाति मेरी है, जाति की समझ मे मैं उसका हूँ।

अन्त मे मान-पत्रो का ताँता समाप्त हुआ। अभिनन्दनो से उपजने वाला गर्व भी चला गया और मै डरते-डरते अपने व्यवसाय की ओर घूमा।

दो

१५ वी मार्च को सवेरे साढे ग्यारह बजे मैं किसी का गाऊन और किसी के 'फर फरियाँ'[1] पहनकर कोर्ट मे न्यायमूर्त्ति बीमन के साथ हाथ मिलाकर, एडवोकेट—ओ० एस०—[2] की पक्ति मे गया। वहाँ से अपनी लघुता और अपूर्णता से घबराया हुआ मैं बैरिस्टरो के बीच मे जाकर बैठा और मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे मैं डूब रहा हूँ।

शामराव, मिनोचहेर और हीरालाल सालिसिटर्ज़ की ओर से मुझे वही पहली 'ब्रीफ'[3] मिली।

सामान्य रूप से एडवोकेट को वर्षों बाद जाकर कही ब्रीफ मिलती थी। यह ब्रीफ मुझे नरुभाई की सिफारिश से मिली थी, परन्तु इसका

१ बैरिस्टर लोग कॉलर पर दो छोटी पट्टियाँ बांधते हैं, उन 'बैंड्स' का मैंने यह नाम रखा था।

२ हाईकोर्ट मे बम्बई शहर के झगड़े जिस विभाग में उपस्थित होते है, उसे 'ओरिजिनल साइड—ओ० एस०' कहा जाता है। उसमें वकीलों के दो विभाग होते हैं; सालिसिटर—जो मुकदमा तैयार करता है और एडवोकेट—(ओ० एस०) जो कोर्ट में काम करता है। अनेक छोटे कामों के अतिरिक्त सालिसिटर कोर्ट में मुकदमा नहीं चला सकता।

३ मुकदमे के वे कागज जो सालिसिटर बैरिस्टर को देता है।

बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। काका और नरुभाई के साथ मेरा सम्बन्ध देखते हुए पहले से ही यह माना जाता था कि जिन सालिसिटर्स ने भूला-भाई देसाई को आगे आने का अवसर दिया था, वे ही मेरे सहायक हैं।

कोर्ट मे इस प्रकार श्रीगरोश करके, एक मित्र का कोट उधार लेकर मैंने फोटो खिचवाया। फोटो खिचवाए बिना बडे कामो की पूर्णाहुति नहीं होती, इस अर्वाचीन मान्यता का मैंने इस प्रकार आदर किया।

जमीयतराय काका ने अपने ऑफिस के पास वाले सालिसिटर के ऑफिस मे पन्द्रह रुपये महीना किराये का एक चेंबर[1] मुझे दिलवाया।

"देखो भाई, और जो जी चाहे करना," काका ने कहा, "परन्तु चेम्बर का किराया हर महीने ठीक समय पर सालिसिटर को दे देना चाहिए, वरना सम्बन्ध टिक नही सकता। चेम्बर का किराया फीस के बदले मे देने का लोभ कभी न करना।"

काका की शिक्षा न मानने वाले अनेक एडवोकेटो को मैंने पीछे से पछताते देखा है।

मैं आगे जाकर बीजापुर जेल की जिस कोठरी मे रहा था, मेरा वह चेम्बर उससे भी अधिक भद्दा था। बिना खिडकी के इस अँधेरे छोटे-से कमरे मे, ऊपर छत मे एक शीशे की छोटी-सी खिडकी थी, जिसमे से थोड़ी-सी रोशनी आती थी। बगल के हिस्से मे पुरानी फाइले पडी रहती थी। बरसात मे उसमे से अनेक कीडे-मकोडे मेरे चेम्बर मे आते और मेरे शरीर पर, सिर मे और भवो मे घुस जाते। इससे मुझे रात को बहुत ही खुजली होती और सारी रात बिना सोए बितानी पडती थी। कभी-कभी तो सोने से पहले फिनायल के पानी से मुझे नहाना पड जाता था।

इस गुफा मे मै अपने कठिन वर्षो की विकट तपश्चर्या करता और उसमे से भूखे भेडिये की तरह 'ब्रीफो' की खोज मे निकलता था।

मेरी असली दुर्दशा तो मेरे क्षुब्ध स्वभाव के कारण हुई। चारों ओर कलफ लगे कपडे, चमकते हुए सफेद कॉलर, सीधी क्रीज़ वाली पतलूनें और

१. बैरिस्टर के ऑफिस के लिए 'चेम्बर' शब्द व्यवहृत होता है।

मुलायम रूमाल देखकर मुझे अपनी दरिद्रता का तीव्र भान होता था।

कपड़े हमारे व्यक्तित्व के अनिवार्य अग बन बैठे है। जब तक मन में यह खयाल होता है कि हमारी पोशाक दूसरे से मामूली है, तब तक हममें आत्मविश्वास उत्पन्न नही होता। मुझे देखकर पास बैठा हुआ बैरिस्टर मेरे विषय मे क्या सोचेगा, ब्रीफ देने वाला सालिसिटर, मुवक्किल और न्यायाधीश क्या सोचेंगे, ये प्रश्न मेरे मन मे उठते रहते। इससे मैं परेशान होता और जैसे ही हाथ मे पैसे आते, अच्छे कपडे बनाने की ओर ध्यान देता। सोने से पहले पतलून की तह लगाकर तकिये के नीचे रखने की और जूतो पर पॉलिश करने की क्रिया मैंने सावधानी से जारी रखी।

मेरी दूसरी कठिनाई थी मेरी अँग्रेजी की। मैं अच्छी अँग्रेजी लिखता और आलकारिक अँग्रेजी मे व्याख्यान देता था, परन्तु बडौदा कॉलेज मे गुजराती मे ही बोलने की आदत पडी होने से मैं अग्रेजी मे बातचीत नही कर सकता था। मेरा उच्चारण भी बेढगा था और सामान्य सरल बात तो मैं कर ही नही सकता था।

१९११ मे मैं न्यायमूर्ति बीमन के कोर्ट मे अपनी हाजिरी देने बैठा हुआ था। उस समय मेरे पास बैठे हुए एक पारसी युवक ने मुझसे पूछा—"तुम यह क्या लिख रहे हो?"

"यह पक्की आढत का मुकदमा है, इसे नोट कर रहा हूँ।"

"क्यो?"

"मैं एडवोकेट की परीक्षा की तैयारी कर रहा हूँ।" मैंने उत्तर दिया। उसने मेरा नाम और पता लिख लिया और रात को वह मेरे पास आया।

इस बरजोरजी रतनजी बामनजी के नाम सेंट लेजर की लॉटरी निकली थी। उस पैसे से इसने भगवानदास परशुराम की आढत के साथ अलसी का बडा सट्टा किया था। उसमे इसे बडा नुकसान हुआ। यह जानना चाहता था कि यदि आढतिया दावा करे, तो स्वय मैंने सट्टा किया है इसे साबित करने के लिए कौन-कौनसे सबूत चाहिएँ।

बरजोरजी के हजारों टन के सौदे मे, पक्के आढतिये ने पक्का व्यापार

साबित करने के लिए तीन सौ टन तैयार अलसी तोली थी। हमने योजना बनाई और मैंने बरजोरजी का 'प्रजामित्र' के संपादक रतनलाल शाह से परिचय कराया। योजना के अनुसार रतनलाल को परदे के पीछे बिठाकर, बरजोरजी ने भगवानदास परशुराम के मुनीम को बुलाया और बात करनी शुरू की।

"तुमने किस लिए तीन सौ टन माल लिया ? मैंने कब कहा था ? हमने तो सट्टा किया था। डिलीवरी न लेने की शर्त थी।"

"अदालत की कार्रवाई के लिए।" मुनीम ने कहा। पीछे बैठे रतनलाल ने सब लिख लिया।

बाद मे भगवानदास परशुराम ने बरजोरजी पर दावा किया।

बरजोरजी के सालिसिटर मेसर्स मुल्ला और मुल्ला थे और उसके सहायक नसरवानजी इञ्जीनियर (आगे जाकर एडवोकेट और न्यायमूर्त्ति) मुकदमे का काम संभालते थे। मैं बरजोरजी के साथ दो-तीन बार उनसे मिलने गया।

१९११ की १२ अप्रैल को मैंने नोट किया—

'हाईकोर्ट बन्द हुआ। बी० आर० बी० के साथ मुल्ला और मुल्ला के यहाँ ईरानी और इञ्जीनियर से मिला। शान्ति के साथ और प्रभाव डालने वाले तरीके से मुझे बात करना नही आता। अपनी बातचीत करने की अयोग्यता से मैं तिरस्कृत-सा मालूम होता हूँ, शब्दो का मैंने बडा दुरुपयोग किया। मुझे शरमिंदा होना चाहिए।'

बरजोरजी के मुकदमे का १९१२ मे न्यायमूर्त्ति बीमन ने फैसला सुनाया। रतनलाल के गवाही देने पर भी बीमन ने यह निर्णय किया कि ये सौदे पक्के हैं, सट्टे के नही।[१] अपील-कोर्ट मे बरजोरजी की जीत हुई[२] और प्रिवी कौसिल मे भी।[३] मेरे परिश्रम के बदले मे बरजोरजी ने मुझे

१ Bhagvandas Parashram v/s Barjorji, 15 Bombay Law Reporter 85.

२ Barjorji v/s Bhagvandas, ibid 617.

३ Bhagvandas v/s Barjorji, 45 Indian Appeals 29

काफी अच्छी रकम दी ।

अपनी वक्तृत्व-शक्ति के अभाव का भान मुझे बहुत खटकने लगा । तलियारखाना, जिन्ना और स्ट्रैंगमेन-जैसे बैरिस्टरो के पीछे खड़े रहकर मैं उनके अँग्रेजी शब्दो के उच्चारण ध्यान मे लाता और उनकी नकल करता । घर मे बैठकर उपन्यास की पुस्तकों के सवाद ज़ोर से पढता । छोटे-छोटे चुटकुले इकट्ठे करके उन्हे लिखता, फिर ज़बानी याद करता और उनमे कुछ परिवर्तन करके भिन्न-भिन्न मित्रो को सुनाया करता । इस प्रकार मैंने अंग्रेज़ी बोलने का अभ्यास करना शुरू किया ।

पहले जिस प्रकार छुट्टी के दिनो मे नाटक पढा करता, उसी प्रकार अब शीशे के सामने खडे होकर प्रिवी-कौसिल के निर्णय पढता, और पुस्तक बन्द करके उसका साराश अच्छे उच्चारण मे बोलता । फिर भी उच्चारण मे काफी अरसे तक भूलें होती रही, विशेषकर उन शब्दो के उच्चारण मे, जो कानून के शब्दकोश मे नही थे ।

छः वर्ष बाद एक बार जब हम दार्जिलिंग जा रहे थे, मैं Juice शब्द का उच्चारण बड़ौदा के ढग पर 'जुइस' कर बैठा । भूलाभाई ज़रा हँसे, मेरे ढग से 'जुइस' कहा और तीसरे आदमी ने आँख का इशारा किया । मुझे लगा कि मैंने कुछ भूल की है । रात को मैंने अँग्रेज़ी शब्द कोश मे देखा, तो उच्चारण 'जूस' था । बहुत दिन तक यह बात मेरे मन मे खटकती रही और इससे बात करने के लिए मुँह खोलने की हिम्मत नही पडती थी ।

एक डायरी मे मै अनेक शब्दो का उच्चारण, कानून के शब्द और चुटकुलो की सूची लिखकर रख छोडता था । बैरिस्टरो मे जो बडी सरसता से चुटकुले कहता, उसका तरीका सीखने का भी मैं प्रयत्न करता था ।

अँग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की कठिन-से-कठिन बेडी है । दुर्दैव से अपनी भूमि मे भी विदेशी भाषा के बिना प्रतिष्ठा नही मिलती । और इस बेडी को सुव्यवस्थित करने मे मैंने अपने जीवन के अच्छे-से-अच्छे वर्ष बिताए है । इसमे मुझे एक लाभ हुआ । इस विदेशी भाषा को सीखते हुए शैली और साहित्य-रचना, वाक्पटुता और वार्तालाप के अनेक सनातन

रहस्य मेरी समझ मे आ गए और जगत् के साहित्य-सम्राटो का परिचय प्राप्त हुआ।

तीन

१९१४ के बाद नियमित रूप से डायरी लिखने की आदत मैंने छोड़ दी, परन्तु जब कोई बडी घटना घटती या मैं कोई आवश्यक संकल्प करता, तब उसे लिख लेता था। अँग्रेज़ी मे भाषण देने का मेरा तरीका कृत्रिम होता था। जब भाषण देना होता, तब मैं अँग्रेज़ी मे साराश लिख लेता, उसे बार-बार ज़ोर से पढ डालता और फिर बोलते समय उन वाक्यों को अपने वक्तव्य मे ज्यो-का-त्यो उतार लेता। कभी-कभी तो सारा भाषण रटकर सभा मे बोल दिया करता था।

इस तरीके से मेरा व्याख्यान बढिया अंग्रेजी शब्दो के प्रयोग से शानदार बन जाता था और थोडी अँग्रेजी जानने वाले श्रोतावृन्द प्रभावित हो जाते थे। असल मे देखा जाए तो यह तरीका शब्द-प्रदर्शन करना-मात्र था। इसमे सजीव वाक्पटुता का अंश नही था।

१९१२-१३ मे 'यूनियन' मे भवभूति पर विवाद था। उसमे बोलने के लिए तैयार किये हुए भाषण का सार मैंने लिख रखा था। इससे मेरी असम्बद्ध विचारधारा और शब्दाडम्बरपूर्ण शैली का परिचय मिलेगा—

'Gentlemen,

Tragedy has been recognised from ancient times as the highest province of poetry It is the poetry of refinement, of noble motion and expression. Human passion can have no better field, human feelings no better theatre, human language no fitter vent than in the tragedy.

Literature begins with the epic, ends with the tragedy. The open-eyed wonder, the strength and fire of a rough age give place to the soft and subtle play of feelings. Homer ended in Euripides, Dante and Milton in Goethe and Hugo.

The vigorous majesty of Vyas and Valmiki saw its culmination in the sweet and ineffable poetry of Bhavabhuti

Let us see where our poet is among these mighty sons of the Muse

Greece war the first to develop the tragedy; and you find two of her poets who have retained their eminence through all the ages Aeschyles and Euripides Then came Bhavabhuti. The fifteenth centuri saw the great dramas of Shakespeare,

The nineteenth century saw the rise of two geniuses—at once the universal type and oracle of modern civilisation, Goethe, and the trumpet-voiced angel of freedom and love, Victor Hugo

Gentlemen, there are tragedies of love and of other human emotion. Aeschyles best work PROMETHEUS treats of Freedom and Tyranny—a favourite theme with the Greeks

Shakespeare is great in tragedies of both kinds. KING LEAR, MACBETH and HAMLET are not tragedies of love, but of other emotions which stir the human breast. Herein you find ADBHUTA, BHAYANAKA, and KARUNA Rasas, all blended. And when one reads of Saudamini's description of Mountains, forests and the terrible temple of Chamunda, where Kapalkundala presided, one hears the echo from the Caucasus where Prometheus lay bound by the fiat of Jove. One only wishes that Bhavabhuti had pursued this line more thoroughly

But love tragedies are preferred to tragedies of the other sort. They touch the chords of every heart, the universal touch every man feels. This kind of tragedy

can also be divided into two classes. The first class deals with anti-nuptial love; of its disappointments, its failures. It is a touching theme, comparatively easy ROMEO & JULIET is an instance Another still better is HERNANI. Revenge, love and fiery heroism, all have their play in it by turns, carrying you to the highest intensity of experience MALATI-MADHAVA is in this class, though the happy end mars the climax

The other sort of love-tragedy is more difficult to write You know, Gentlemen, that overwhelming love rarely survives the marriage tie, and our poets well knew it Two only wrote such tragedies. Shakespeare wrote OTHELLO, Bhavbhuti UTTARRAMCHARITAM

सज्जनो, पुरातन काल से दु:खान्त नाटकों ने काव्य के प्रदेश मे उच्च स्थान प्राप्त किया है। यह सस्कार की कविता है, उत्तम भावो और उनके आविष्कार की कविता है। इस प्रकार की कृतियों के सिवा मानव रागोद्रेक के लिए अन्य अच्छा क्षेत्र नहीं है; मानव-अनुभूतियों के व्यक्त होने के लिए योग्य स्थान नहीं है, मानव-वाणी के लिए अधिक योग्य वाहन नहीं है।

महाकाव्य से आरम्भ होकर साहित्य दुःखान्त नाटकों मे बदल जाता है। एक स्थूल युग के आश्चर्य, शक्ति और तेज के स्थान पर अनुभूतियो का सुकुमार और सूक्ष्म व्यापार शुरू होता है। इस सत्य की प्रतीति तब होती है, जब होमर से आरम्भ हुआ साहित्य-युग युरिपिड्स में बदलता है, जब दाँते और मिल्टन का युग गेटे और ह्यूगो की कृतियों मे उतरता है, जब व्यास और वाल्मीकि की भव्यता भवभूति की मधुर और अनिर्वचनीय कविता में परिवर्तित होती है।

अब हमे यह देखना है कि हमारा कवि, मयूरवाहिनी देवी सरस्वती के इन प्रतापी पुत्रों में अपने स्थान को किस प्रकार सुशोभित करता है।

सबसे पहले दु खान्त नाटकों का विकास ग्रीस में हुआ और आप

जानते हैं कि वहाँ के दो कवियों—एस्काइलिस और युरिपिड्स—का अग्रणी-पद अनेक शताब्दियों से अब तक सुरक्षित है। इसके बाद भवभूति आये। फिर पन्द्रहवी शताब्दी मे शेक्सपियर के महान् नाटकों की रचना हुई।

उन्नीसवीं सदी में दो प्रतिभाशाली रचयिता उदित हुए—व्यापक लक्षणों वाले। एक अर्वाचीन संस्कृति की देववाणी उच्चारण करने वाला गेटे और दूसरा स्वातन्त्र्य तथा प्रणय का उद्घोषक ह्यू गो।

सज्जनो, प्रणय-भाव की दुःखान्त कृतियों के अलावा अन्य भावों का स्पर्श कराने वाली कृतियाँ भी हैं। एस्काइलिस की उत्तम कृति 'प्रोमिथियस' ग्रीक लोगों के अतिप्रिय स्वातन्त्र्य और अत्याचार के विषय को स्पर्श करती है। शेक्सपियर दोनो प्रकार की कृतियों मे सिद्धहस्त है। 'किंग-लियर' 'मेकबेथ' और 'हेमलेट' प्रणय व भावो का नहीं, परन्तु मानव-हृदय को आन्दोलित करने वाले अन्य महाभावों का आलेखन करने वाली कृतियाँ हैं। उनमे अद्भुत, भयानक और करुण रस का सुन्दर मिश्रण है। और जब सौदामिनी का किया हुआ पर्वतो, जगलों और कपाल-कुडला से अधिष्ठित चामुण्डा के भीषण मन्दिर का वर्णन पढ़ते हैं, तब तो जहाँ जुपिटर की आज्ञा से प्रोमिथियस बँधा पडा था, उस काकेसस से उठती हुई प्रतिध्वनि ही सुनाई पडती है। भवभूति ने साद्यत यही प्रणाली रखी होती, तो कितना अच्छा होता! इसे पढ़कर पाठक के मन मे यह भावना आ जाती है।

परन्तु अन्य दु खान्त कृतियों की अपेक्षा प्रणय-भाव की दु खान्त कृतियाँ अधिक आदर प्राप्त करती हैं, कारण कि वे प्रत्येक हृदय के तारो को स्पर्श करती हैं। इस सर्वव्यापी स्पर्श को प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है।

इस प्रकार के दु खान्त नाटको के दो विभाग हो सकते हैं—प्रथम विभाग विवाह से पूर्व के प्रणय, प्रणय-निराशा, प्रणय-निष्फलता आदि को स्पर्श करता है। यह विषय हृदय-स्पर्शी है और तुलनात्मक दृष्टि

से आलेखन के लिए कुछ सरल भी। 'रोमियो और जुलियट' इसका उदाहरण है। दूसरी कृति 'हरनानी' इससे भी अधिक सुन्दर है; इसमें वैर, प्रणय और ओजस्वी वीर-भावना का क्रमशः उल्लेखन है। 'मालती-माधव' को इस श्रेणी में रखा जा सकता है, यद्यपि इसका सुखान्त इसकी पराकाष्ठा के लिए हानिकारक सिद्ध होता है।

दूसरे विभाग की प्रणय-भाव की दुःखान्त कृति लिखना दुष्कर है। सज्जनो, आप जानते हैं कि उछलता हुआ प्रणय-भाव विवाह-बन्धन के बाद मुश्किल से ही टिक सकता है। हमारे कवि इस वस्तु से सुपरिचित थे। दो ही कवियों ने ऐसी दुःखांत कृतियों की रचना की है—शेक्सपियर ने 'ओथेलो' की और भवभूति ने 'उत्तररामचरित' की।

नोट के बाकी पृष्ठ खो गए है। रविवार के सवेरे लगभग तीस साहित्य-रसिक युवको के सम्मुख इस प्रकार का व्याख्यान मोहक साबित होगा ही, इसमे कोई आश्चर्य नही था। वाग्-वैभव की सेवा मे मैं निमग्न रहता था। परन्तु वाग्पटुता का उद्देश्य प्रशसा प्राप्त करना नही, वरन् अभीष्ट कार्य कराना है, इसका ज्ञान तो मुझे तभी हुआ जब मैं हाईकोर्ट मे गया। मेरा शब्दाडम्बरपूर्ण वाग्वैभव कानून के अभ्यस्त न्यायमूर्तियो के आगे व्यर्थ था।

मैने नई पद्धति सीखनी शुरू की और उसके सूत्र लिखकर मेज पर सामने रखता :

१—भाषा की सादगी का अभ्यास करना, हमेशा सरल शब्द पसन्द करना।

२—छोटे वाक्य व्यवहार मे लाना।

३—शुद्ध उच्चारण करना।

४—अपने ध्येय ठीक है या नही, इसकी पहले से जाँच करना; उसमे दूसरो द्वारा दोष निकाले जाने की प्रतीक्षा न करना।

५—विषय का इतना ज्ञान प्राप्त करना कि उसमे लीन हो सका जाए और इस प्रकार सिद्ध की हुई एकरूपता को अपने-आप ही शब्द प्रेरित करने देना और शब्दो की पहले से तैयारी न करना।

६—श्रोता का हृदय जीतना हो तो बोलने के तरीके की अपेक्षा इस बात का ध्यान रखना कि वह किस प्रकार जीता जा सकेगा।

७—श्रोता को थकने न देना, या तो उसके थकने से पहले बोलना बन्द कर देना, या ऐसी सामग्री उपस्थित करना, जिसमे उसे दिलचस्पी पैदा हो।

१६१७-१८ तक इन सूत्रो का मैंने अभ्यास किया, परन्तु पुरानी आदतें इससे उलटी थी, वे एकदम जा न सकी और नया तरीका पूर्णतया आ न सका।

चार

मछाशकर काका मुझमे पहले से ही दिलचस्पी ले रहे थे, अब जमीयतराम काका भी लेने लगे। उन्हें अपनी जाति के प्रति बहुत प्रेम था। कोई भी स्वजातीय उनसे सहायता मांगने आता, तो शायद ही खाली हाथ वापस जाता। फिर मैं तो उनकी जाति का, भडौंच की जाति के युवको मे अग्रणी और आशाप्रद, जाति का कार्यकर्ता और सामाजिक प्रतिष्ठा का स्वामी था।

भड़ौंच और सूरत के भार्गवो मे 'कन्याव्यवहार' एकपक्षीय था। हम सूरत की कन्या ले लेते पर देते नही थे। इस रिवाज को दो-पक्षीय करके जाति का सगठन करने का मैं प्रयत्न कर रहा था। इस सुधार के विषय मे दो वर्ष से हम परिचय मे आए थे। इससे मेरे प्रति उनका आकर्षण बढ गया था और जब मुझे अचानक पहले ही प्रयत्न मे पास हुआ देखा, तब तो उन्होने मुझे अपना ही लिया।

वे मेरा भविष्य इस प्रकार बनाने लगे कि मुझे उसका पता न लग सके। पहली मई को जब उनकी ओर से पहली 'ब्रीफ' मिली, तब मैंने नोट किया—

'जमीयतराम काका की ममता मुझ पर बढ़ती जा रही है। आज 'ब्रीफ' भेजी। मुझे आशा नही थी।'

बात यह थी कि मै उन्हे भली-भाँति पहचानता नहीं था। उन्होने और नरुभाई ने छोटी-छोटी 'ब्रीफ' भेजनी शुरू की और यह निर्णय हुआ कि मैं भूलाभाई जीवनजी देसाई के चेम्बर मे पढा करूँ। मुझे मि० जिन्ना के प्रति बडा आकर्षण था। उनका नाम बडा, देखने मे सुन्दर और उनके कपडे मोहक थे। परन्तु काका टस-से-मस न हुए।

"भूलाभाई के पास अच्छी तरह सीख सकोगे," उन्होने कहा।

विलायत मे बैरिस्टरी की 'चेम्बरिंग-पद्धति' बडी सुन्दर है। जो नया बैरिस्टर बनता है, वह पुराने बैरिस्टर के चेम्बर मे शामिल होता है, उसका 'डेविल', उसका 'भूत' बनता है, जब से वह शामिल होता है, तब से चेम्बर का अग बनता और गुरु की वकालत की पद्धति सीखना शुरू करता है। चेम्बर गुरुकुल के समान बन जाता है। गुरु और शिष्य कुटुम्बी के समान हो जाते है। गुरु शिष्यो की प्रगति मे दिलचस्पी लेता है; उनके समस्त जीवन मे प्रवेश करता है। सहपाठी परस्पर बन्धु-भाव से व्यवहार करते हैं, गुरु के जाने पर भी गुरुकुल के महत्त्व और कीर्ति को व्यवसाय मे कायम रखते है और अपना समय आने पर नये शिष्यों को यह उत्तराधिकार मे सौंप जाते है। इस प्रथा का अधूरा अनुकरण हाईकोर्ट के एडवोकेट (ओ० एस०) भी करते हैं।

भूलाभाई विलायत से आये और १२ जून की शाम को काका मुझे हाईकोर्ट की तीसरी मजिल पर उनके चेम्बर मे ले गए। काका ने मेरा परिचय कराया। भूलाभाई हँसे। छोटे बालक को गुरु के घर पढने के लिए छोड़ आने पर उसकी जो मनोदशा होती है, वैसी ही कुछ-कुछ मेरी हुई। काका मुझे छोड़कर चले गए।

"देखो, लाउन्ड्स ने (भूलाभाई सर जार्ज लाउन्ड्स के शिष्य थे) मुझसे पहले दिन जो कहा था, वही मैं तुमसे कहता हूँ—'यदि तुम मेरे लिए उपयोगी बनोगे, तो मैं तुम्हारे लिए उपयोगी बन जाऊँगा।' और देखो तुम साढ़े छः बजे के लगभग आना।" भूलाभाई ने कहा, और आगे बोले—"कान्फ्रेंस मे किसी तीसरे का होना सालिसिटर लोग पसन्द नही

करते, इसलिए उन सबके जाने पर मुझसे मिलना। जाओ कल आना।"

बम्बई के हाईकोर्ट के नियम के अनुसार जब कोर्ट खतम हो जाता है, तब सालिसिटर एडवोकेट से सलाह लेने आते हैं, उस अवसर को 'कॉन्फ्रेंस' कहा जाता है।

भूलाभाई के 'गुरुकुल' मे उस समय 'कॉन्फ्रेंस' मे 'भूतो' को न बैठने देने का नियम था। दूसरे गुरुकुलो मे ऐसा नियम नही था। रात को मैने डायरी मे लिखा—

'भूलाभाई के यहाँ काम करना आरम्भ किया, देखना चाहिए, मुझे क्या लाभ होता है! ऐसा चपल और चचल मनुष्य मेरे लिए कुछ करेगा कि नही, इस विषय मे मुझे सचमुच बडा सन्देह होता है।'

दूसरे दिन से मेरे जीवन की कठिन तपश्चर्या आरम्भ हुई। मैं सुबह दस बजे घर से निकलता, सारा दिन हाईकोर्ट की लाइब्रेरी मे पढता, कोर्ट उठने पर अपने चेम्बर मे बैठता और साढे छ बजे भूलाभाई के चेम्बर के बाहर उपस्थित हो जाता। उनकी कॉन्फ्रेंस सात-आठ बजे तक चलती रहती। कभी-कभी तो जब आठ बजे उनकी गाडी उन्हे लेने आती, तब तक वे फँसे रहते। इसके बाद मैं चेम्बर मे जाता; एक-दो साधारण प्रश्न पूछकर उनका ध्यान खीचने का निष्फल प्रयत्न करता। वे हैट उठा लेते—"अच्छा मुशी, अब कल आना, कुछ दूँगा।"

सवा आठ पर मैं टावर पर से ट्राम पकडता और थका-माँदा ब्रीफ की राह देख-देखकर अकुलाया हुआ, चोट खाये हुए अभिमान से रुआँसा होकर घर पहुँचता। रोज-रोज इस प्रकार के अनुभव से मैं क्षुब्ध हो उठा।

भूलाभाई के चेम्बर मे जाना छोड देने की रोज इच्छा होती, फिर भी मैं जाता। उनकी शिक्षा बिना मुझसे हाईकोर्ट में वकालत नही हो सकती थी, इसलिए इस घानी मे पेरे बिना छुटकारा कहाँ था! रोज शाम को जब मैं उनके चेम्बर मे जाता, तब मन समझाने के लिए विचार करता—'किसलिए भूलाभाई को मुझसे बात करनी चाहिए? किसलिए

मेरे प्रति दिलचस्पी लेनी चाहिए ? वे तो अब वकालत के शिखर पर पहुँच गए हैं। हजारो रुपये कमाते है। मैं उनके किस काम आता हूँ, जो वे मेरी परवा करें ? काका का वे लिहाज करते हैं, इसके सिवा उन पर क्या अधिकार है ?' इस प्रकार अपने जीवन को सान्त्वना देकर, ठीक साढे छः बजे मैं पहरेदार की तरह उपस्थित हो जाता।

रात को अपने आकुल हृदय के भाव मैं डायरी मे अंकित करता। परन्तु गुरु के मुझे दिये हुए दान के आगे इन अंकनो का क्या मूल्य है ? वे तो विसर्जन करने के ही योग्य हैं।

थोडे दिनो बाद भूलाभाई ने अरजी दावा का जवाब तैयार करने की एक ब्रीफ मुझे दी। मैंने अपनी आडम्बरपूर्ण अंग्रेजी मे पहले जवाब मसविदा तैयार कर दिया। तीसरे दिन भूलाभाई ने कहा—"इस प्रकार की अंग्रेजी काम नही देगी।" हताश होकर मैंने पन्द्रह घण्टो की मेहनत से तैयार किये हुए मसविदे को अन्त मे रद्दी की टोकरी मे पडा हुआ देखा।

उस समय भूलाभाई मुझे प्रगति का मार्ग दिखलाने मे दिलचस्पी नही लेते थे, इसलिए मैंने अपने तरीके पर तैयारी करनी शुरू की। मैंने बडे बैरिस्टरो और भूलाभाई के लिखे जितने भी मसविदे मिल सके, उन्हे इकट्ठा किया, उनकी नकले की, और उनकी भाषा का अनुकरण करना शुरू किया, उनमे कौनसी फरियाद किन शब्दो में की गई थी, इसकी डायरी बनाई। साथ-ही-साथ भूलाभाई के लिए भी बार-बार मसविदे तैयार करता रहा। इस परिश्रम मे मुझे तीन बेजोड पुस्तको[१] से बड़ी सहायता मिली। और बाद मे मैंने नियम बनाया कि किसी विषय का मसविदा तैयार करना है तो उस पुस्तक मे से उक्त विषय के सम्बन्ध मे लिखा हुआ सब पढ जाना, उसे नोट करना और फिर चीज तैयार करने का काम आरम्भ करना।

---

१. Roscoe, Nisi Prius, Daniell, Chancery Practice, Seton, Decrees.

हाईकोर्ट के क्षितिज पर भूलाभाई नवोदित सूर्य की ज्योति की तरह चमकते थे। बडे-बडे बैरिस्टर उनसे ईर्ष्या करते थे। गुजराती सालिसिटर तो उनके सिवा अन्य किसी को देख ही नही सकते थे। पारसियो मे वे पारसी तुल्य बन गए थे और 'भूला' का प्रेम-भरा उपनाम उन्होने पाया था। न्यायाधीश भी उनकी मीठी वकालत से पानी-पानी हो जाते थे।

हाईकोर्ट की सारी दुनिया को किसी अन्य धारा-शास्त्री पर इस प्रकार पागल होते मैंने नही देखा। विजय-प्राप्ति के इस शिखर से एक काँपते हुए निर्जीव नौसिखिये की ओर वे अधिक ध्यान मे देखे, मेरी यह आशा दो वर्ष तक तो बिलकुल निष्फल रही। दूसरे व्यक्ति के भावो को सहानुभूतिपूर्वक समझने की शक्ति, उनकी अन्य शक्तियो के मुकाबले मर्यादित थी।

सर बेसिल स्कॉट उस समय मुख्य न्यायाधीश थे। वे थोडा बोलते थे और वह भी गम्भीरता से। जरा उकताने पर धारा-शास्त्री की टीका-टिप्पणी करने बैठ जाते। परन्तु नये धारा-शास्त्री की ओर वे धैर्यपूर्ण और प्रोत्साहक प्रवृत्ति दिखलाते थे। बडे धारा-शास्त्रियो के पलडे मे बैठने की वृत्ति अनेक न्यायाधीशो मे देखने को मिलती है। परन्तु स्कॉट इसके विपरीत थे। बडो को छोटो पर वे जरा भी आक्रमण नही करने देते थे।

८ जुलाई को थाना-कोर्ट की एक अपील मे मैं पहली बार उनके कोर्ट मे उपस्थित हुआ। बहुत दिन से मैंने तैयारी की थी। कई नोट तैयार करके मैंने फाड डाले थे। घबराहट के कारण पिछली रात को नीद भी नही आयी थी। जब मैं कोर्ट मे खडा हुआ, तब मैंने जाना कि मेरे सामने एडवोकेट-जनरल स्ट्रैंगमेन खडे है।

स्ट्रैंगमेन (बाद मे सर टॉमस) उस समय सारे कोर्ट को कँपाते थे। वे पतलून की जेब मे हाथ डालकर उसमे रखी हुई चाबियाँ खनखनाते, जोर से हँसकर बीच मे बोल पडते और विपक्षी की जरा-सी भूल पर

उसकी सख्ती से खबर लेते थे। अनेक न्यायाधीश भी उनसे डरते थे। उन्हे अपने सामने आया देखकर मेरे होश उड गए।

जब मैं अपील चलाने के लिए खडा हुआ, तब मेरी दृष्टि के आगे कोर्ट घूमता मालूम होता था। मेरी आवाज़ गले से बाहर नही निकल सकती थी। कानो मे जोर से घण्टे का नाद-सा सुनाई दे रहा था। पन्द्रह-बीस मिनट के बाद मुझे होश आया और मै ठीक-ठीक बोलने लगा।

सम्भवत मैं कुछ गलत बोल गया हूँगा, इससे स्ट्रैंगमेन कूदकर बीच मे बोल उठे। स्कॉट कठोरता से स्ट्रैंगमेन की ओर देखते रहे।

"Mr Advocate-General, your innings are still to come"[१]

उन्होने निश्चयात्मक आवाज मे स्ट्रैंगमेन की वाग्धारा को काट दिया। वे ज़रा उलझन मे पडकर वाक्य अधूरा छोड़कर बैठ गए।

"Mr Munshi, you may now proceed"[२]

स्कॉट ने मुझे आगे बढने की अनुमति दी और नोट लेना शुरू किया।

मेरे पैरो मे जोर आ गया और मैं आगे बढा। स्ट्रैंगमेन ने फिर बोलने की हिम्मत नहीं की।

स्कॉट के साथ न्यायाधीश बेचलर थे। वे बडे मितवादी थे। मैं अपनी दलीलो के सिलसिले मे कह बैठा—"There is almost no evidence"[३]

बेचलर ने तुरन्त कहा—"There is no 'almost' in evidence; either there is or there is not"[४]

---

१ मि० एडवोकेट जनरल, आपके बोलने की बारी अभी आने वाली है।

२ मि० मुन्शी, अब आप आगे बोल सकते हैं।

३. सबूत तकरीबन है ही नहीं।

४. सबूत मे 'तकरीबन' हो ही नहीं सकता, सबूत या तो होता है, या नही होता।

मेरे अनिश्चित बोलने के तरीके को इससे चाँटा लगा।

मैने उसे समाप्त करते हुए हिम्मत से कहा—

"My lord, this is my first appearance before your Lordship As I felt nervous while placing my first point, may I have your Lordship's Permission to repeat it ?"[1]

स्कॉट ने अपने शान्त और शुद्ध उच्चारण मे कहा—

"You may repeat "[2]

मैंने अपना पहला आशय पुन दुहराया।

उसके जवाब मे स्ट्रैंगमेन ने फिर उछल-उछलकर अपना दृष्टि-बिन्दु उपस्थित किया। रात को मैंने अकित किया—

'मैंने अपील चलाई, थाना से आयी थी—जीत गया। मै कितना घबराने वाला हूँ! यह क्षोभ कब दूर होगा? मुझे इसे जीत लेना चाहिए।'

थोडे दिनो बाद कागा (अब सर जमशेदजी) मुझे लाइब्रेरी में मिले।

"आप मि० मुशी हैं?"

"जी हाँ।"

"कुछ दिनो पहले स्कॉट के सम्मुख आपने ही केस चलाया था?"

"जी हाँ।"

"आपके लिए उनका अच्छा मत बन गया है, कल क्लब मे उन्होने मुझसे बात की। लॉ कॉलेज मे जब प्रोफेसरो की नियुक्ति करनी थी, तब आप उन्हे याद आए थे, परन्तु आप एकदम नये हैं।"

---

१. माननीय महोदय, आज मै आपके सामने पहली ही बार खड़ा हुआ हूँ, इसलिए घबराहट के कारण मै अपना पहला आशय ठीक-ठीक उपस्थित नहीं कर सका। यदि माननीय अनुमति दें, तो मैं उसे फिर से उपस्थित करूँ।

२. आप उसे दुहरा सकते हैं।

मैं बडा खुश हुआ और जब शाम को मैं भूलाभाई के चेम्बर मे गया, तब अपने गुरु को अपनी प्रसन्नता का समभागी बनाने के लिए अधीर हो रहा था। मौका देखकर मैंने बात की।

भूलाभाई अनमने-से सुनते रहे और बोले—"These fellows always talk like that"[1]

मुझे जो अभिमान-ज्वर चढ गया था, वह उतर गया।

इसके बाद मैं अनेक बार स्कॉट के कोर्ट मे छोटी-छोटी अपीलो के लिए उपस्थित होता था। धारा-शास्त्रियो के बीच-बीच मे गुर्राने न देने की उनकी आदत से मुझे सकोच को जीतने के अनेक अवसर मिले।

दूसरे न्यायाधीश जो मेरी मदद को आते थे, वे थे सर दीनशा दावर। उनका मिज़ाज बडा तेज था। उनके कोर्ट मे बडे-बडे काँपते थे, परन्तु मेरे-जैसे घबराने वाले को देखते ही, वे तुरन्त उसकी मदद करते थे। एक सज्जन विलायत से हाल मे ही आये थे। वे करारदाद (Consent Decree) लेने के लिए गोब के साथ खडे हुए। बस बहुत हो गया। दावर तनकर खडे हुए, ऐनक ठीक से लगाया और उन्हे झाड़ दिया।

"जाओ, तैयार होकर फिर आना।"

एक बार स्ट्रैंगमेन ने चाबियाँ खनखनाकर, कूद-कूदकर एक साक्षी से असभ्यता से जिरह करना शुरू कर दिया। दोपहर की छुट्टी के बाद जब न्यायाधीश दावर आये, तब ऐनक साफ करके उसे ठीक तरह लगाकर, उन्होने ओठ पीसकर कहा—

"मि० एडवोकेट जनरल, सुबह से मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि केस चलाने का यह तरीका कुछ गलत है। मेरी बीमारी के कारण मेरा स्वभाव खराब हो गया है या आपके इस जिरह करने के तरीके से, इसका मुझे अब तक पता नही लगा था, पर अब मुझे निश्चय हो गया है कि आपका यह तरीका ही इसके लिए जिम्मेदार है। जिरह के इस ढग से आपकी प्रतिष्ठा नही बढती और आपके 'बार' (Bar) को भी इससे गर्वित

१. इन लोगों के बात करने का ढंग हमेशा ऐसा ही हुआ करता है।

होने का आधार नही मिलता।"

मैंने अपनी डायरी मे लिखा—

'दूसरो की अपेक्षा मैं अधिक सौभाग्यशाली हूँ, परन्तु कुछ भी कमाए बिना रोज़-रोज बैठे रहने से मुझे बहुत दु:ख होता है। और कितनी अधिक बातों मे मैं अभी पिछडा हुआ हूँ! मुझे अधिक योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। मैं ज्यादा परिश्रम नही करता। मैं मूर्ख हूँ। मुझे जल्दी-जल्दी सब सीख लेना चाहिए, परन्तु मैं क्या करूँ? मेरे साथ बात करने वाला भी कोई नही है। मेरी मुसीबत का अन्त नही है।'

१८-७-१९१३

अक्तूबर मे छुट्टी आई। मुझे माथेरान जाना था, पर पास पैसे नहीं थे। मेरी फ़ीस के लगभग डेढ सौ रुपये काका की फर्म मे जमा थे; उन्हे लेने मैं काका के पास गया। काका ने सदा की तरह त्रस्त करने वाले रौब से मेरी ओर देखा और बोले—

"देखो भाई, मेरे फर्म से अगले महीने की दस तारीख को फ़ीस मिलेगी। सालिसिटर्स से समय से पहले फीस नही माँगी जाती।"

मुझे बहुत बुरा लगा और जैसे-तैसे अपने रोष को काबू मे करके वहाँ से चल पडा। मुझे इस व्यवहार से कठोर आघात पहुँचा। इसे सहन करने की अपेक्षा भूखो मरना अच्छा, ऐसा सकल्प करके मैंने काका के नाम एक कठोर पत्र लिखकर डाक मे डाल दिया।

एक मित्र से थोडे रुपये उधार लेकर दूसरे दिन मैं माथेरान चल दिया।

सारे समय मैं अपना प्रिय श्लोक गुनगुनाता रहा—

अम्भोजिनीवन निवासविलासमेव हसस्य हन्ति नितरा कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धा वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थ ॥[1]

---

१. हस पर कुपित ब्रह्मा, उससे कमलवन में रहने के सुख को अवश्य छीन सकते है, परन्तु दूध और जल को भिन्न करने में प्रसिद्ध हंस के चातुर्य की कीर्ति को वे नहीं छीन सकते।

भर्तृहरि नीतिशतक, १८

दूसरे दिन काका का उत्तर मिला। उन्होने लिखा कि आवेश में आकर पत्र लिखकर डाक मे डालने की इच्छा यदि मैने एक रात के लिए रोक ली होती, तो ठीक होता। उनकी कही बात मे पैसे का सवाल नही था, पैसे तो वे जितने चाहिए, देने को तैयार थे। परन्तु वे मुझे यह पाठ पढाना चाहते थे कि सालिसिटर से फीस माँगने जाना, बैरिस्टर के लिए अनुचित कहा जाता है। इससे मेरी मान-हानि होती है। इतने सम्बन्ध के बाद हम लोगो के बीच अपमान का सवाल पैदा होना सम्भव ही नहीं है। अन्त मे उन्होने थोडा-सा अश बडे प्रेम से लिखा था। पत्र के पीछे छिपे हुए स्नेह और ममता को देखकर मै लज्जित हो गया।

इस पत्र-व्यवहार के पश्चात् काका और मेरे बीच का अन्तर दूर हो गया। उन्होने मेरा पितृ-पद स्वीकार कर लिया।

साढे नौ महीनो मे मैने ग्यारह सौ रुपये कमाए थे।

इस तरह १९१३ का वर्ष पूरा हुआ।

पाँच

जिन युवक सालिसिटरो ने मेरी मदद की, उनमे प्रथम थे नर्मदाशकर पार्वतिशकर वकील, जमीयतराम काका के स्वर्गीय भाई के पुत्र। १९०९ से १९३३ तक, जब उनका स्वर्गवास हो गया तब तक मैं उनका अत्यन्त स्नेह-पात्र बना रहा। नरुभाई स्वभाव के शान्त और सौम्य थे। वे शौकीन भी थे, परन्तु अपने ढडे और मीठे तरीके से। उनके साहचर्य मे मुझे शान्ति मिलती थी। उनकी सयमशीलता बहुधा उलटे मार्ग पर जाने से रोक लेती थी।

पास होने से पहले मैं सालिसिटर की परीक्षा देने वालो के मडल[१] का सदस्य था। उनके संचालको मे थे दौलतराम कृपाराम पड्या के भतीजे नयन सुखलाल, मेरे मित्र धीरजलाल नानावटी के बडे भाई मणिलाल नानावटी, बालगगाधर खेर (बाद मे काग्रेस की बम्बई सरकार के मुख्य

१. Articled Clerk's Association.

मन्त्री) और धनजी शा नानावटी (वर्तमान भारत सरकार के सालिसिटर)।

सप्ताह मे एक दिन कानून की समस्याएँ सुलझाने के लिए हम सब एकत्र होते और वहाँ का काम-काज समाप्त होने पर हम अधिकतर चौपाटी से पैदल चलते हुए घर आते थे।

१९१२ के मार्च मे नयन सुखलाल पड्या सालिसिटर बने और उन्होने नई फर्म शुरू की। मेरे पास होने के बाद पंद्रह वर्ष तक हमने साथ-ही-साथ अनेक कडवे-मीठे अनुभव किये।

सितम्बर १९१२ मे मणिलाल सालिसिटर बने और अपने बडे भाई की फर्म मे शामिल हुए। तीनो भाइयों ने तिगुने सम्बन्ध से मुझे अपनाया। मणिलाल के मीठे स्वभाव, गहरी सहानुभूति और अटल स्नेह से उनके साथ मेरा तीस वर्ष का सम्बन्ध आज तक उज्ज्वल बना हुआ है।

१९१८ मे जब खेर सालिसिटर हुए, तब मणिलाल ने अपने भाई की फर्म से मुक्त होकर 'मणिलाल एण्ड खेर' की नयी फर्म बनाई। उसमे मेरा भी थोडा-बहुत हाथ था। खेर के साथ मेरी मैत्री अनेक क्षेत्रो मे अटूट रूप से बनी रही। अन्त मे यह मैत्री १९३७ मे बम्बई मे प्रथम कांग्रेस मन्त्रिमडल की स्थापना मे कुछ अंशो तक कारण बनी, पर यह तो पीछे की बात है।

धीरे-धीरे अन्य मित्र सालिसिटर बने। कई जो बने हुए थे, उन्होने मैत्री स्थापित की। सबका नामोल्लेख करना यहाँ अनुपयुक्त है। इस पुस्तक मे मैं केवल उन्ही का उल्लेख कर रहा हूँ, जिन्होने मेरे निजी विकास मे सहायता प्रदान की है।

इन सालिसिटर मित्रो के यहाँ जब कोई भी उलझनपूर्ण काम आ जाते, या कोई गरीब मुवक्किल न्याय के लिए अकुलाता हुआ आ जाता, तब मैं उसकी सहायता के लिए उपस्थित हो जाता था।

अनेक बार सुबह, शाम या रात को देर तक मेरे सालिसिटर मित्र और मैं 'धूल-धोयो' के समान धूल और सोने को अलग करके बैठते और कोर्ट के समय मैं सारे कानूनी आधारो को देख डालता। १९१३ से

१९१८ तक मैं इस प्रकार 'सात-आठ मित्रों' की सहायता करता रहा।

हम सब नये व्यवसायी थे। हम हँसते, चाय पीते, भूलें करते और उलझनें जितनी सुलझ सकतीं, सुलझाते थे। कितना काम करते, इस पर ध्यान नही देते थे, और पैसा तो जैसा मुवक्किल और जैसी मल्कियत होती, वैसा मिलता।

उस समय खेर न्यायमूर्ति बीमन के मन्त्री के रूप मे थे। बीमन की आँखें कमजोर थीं, इसलिए वे उनके पढने का काम करते, उनके साथ घूमते, और छुट्टी में उनके साथ यूरोप भी जाते। खेर के कारण उस न्यायाधीश के साथ मेरा निजी परिचय हो गया। और कोर्ट मे वे मेरे प्रति बड़ी ममता का बरताव करने लगे।

न्यायाधीश बीमन मे अनेक अद्भुत शक्तियाँ थी। वे ठीक से देख नहीं सकते थे, इसलिए मुकदमे के नोट्स कोर्ट मे टाइप करते थे। उनकी स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र हो गई थी कि लम्बे मुकदमे मे भी एक-एक दस्तावेज के अक और सारे बयान उन्हें याद रहते थे। लम्बा-से-लम्बा फैसला होता, उसे भी धाराप्रवाह टाइप करा डालते थे।

'फाँकडो फितूरी' (बाँका फितूरी) नाटक मे मुख्य अभिनय करने वाले मास्टर मोहन के लाभार्थ एक खेल होने वाला था। उसका सभापति-पद न्यायमूर्ति बीमन ने स्वीकार किया था। खेर, मणिलाल और मैं उनके साथ गये। उस नाटक मे मास्टर मोहन अपनी प्रियतमा की छतरी को सबोधित करके जो गुजराती गाना गाते थे, वह उस समय बम्बई मे बडा लोकप्रिय हो गया था—

"जुओ जमाना नी शोधो नवी,
आ छत्री छे भारी वैरी नी।
सारी छत्रीओ सोहाय,
हैयु ते देखी हरखाय;
पण जुगते थी बापरो जेम,
तो बोलो बरसाद आवे केम?"

इस पाचे के लिए अनेक बार 'वन्स मोर' (एक बार और) होता। प्रत्येक बार मोहन उसमे समयानुकूल बातें जोड देता और लोग उछल-उछल कर तालियो की गडगडाहट से उसकी सराहना करते। उस दिन भी उसने हम लोगों के विषय मे यह गढकर 'बीमन जेनु सुदर नाम, ते आव्या छे अहीया ठाम' अपना गाना गाया। साथ-साथ 'सेक्रेटरी सेर' और 'एडवोकेट मुन्शी' को भी बीच मे लपेट लिया।

न्यायमूर्ति बीमन के कोर्ट मे अपने पहले बडे केस के साथ मैं उपस्थित हुआ। एक अनपढ घाटी[1] ने बम्बई मे घास बेचने का काम करके दो-चार लाख की मल्कियत बना ली थी। वह दो स्त्रियो और एक 'रखैल' को छोडकर मर गया। रखैल के एक लड़का था। उसने यह कहकर लडके की ओर से दावा किया कि 'मैं उसकी विवाहित स्त्री हूँ और मेरा लडका उसकी मल्कियत का वारिस है।'

यह दावा न्यायमूर्ति बीमन के पास आया। उस समय उनके कोर्ट मे प्रत्येक मुकदमे मे बैरिस्टर रुस्तम वाडिया अवश्य होते थे। शकरभाई अमीन सालिसिटर ने रखैल के पुत्र की ओर से वाडिया के साथ मुझे 'जूनियर'[2] 'ब्रीफ' दी।

इस मुकदमे की तैयारी करने के लिए मैं रोज सुबह-शाम शकरभाई से मिलता था।

"अजी शकरभाई, इसमे तो कुछ भी तैयारी नही है।" मैने कहा।

"वह तो हो जाएगी। बिना तैयारी के मुकदमा थोडे ही चलाया जाएगा!" शकरभाई पान चबाते जाते थे और सारे कागजात मेरी

---

१ दक्षिण की एक जाति के लोग, जो कपड़े धोने, बरतन माँजने आदि मजदूरी के काम करते हैं।

२. हाईकोर्ट की 'ओरिजिनल साइड' पर लम्बे झगडों में दो एडवोकेटों को नियत किया जाता है। जिसकी वकालत दीर्घकालीन हो, उसे 'सीनियर' कहा जाता है, जिसकी थोड़े समय की हो उसे 'जूनियर' कहा जाता है।

तरफ करके शान्ति से प्रश्न करते जाते थे।

गवाह लोग घर आयेंगे और क्या-क्या बयान देंगे, यह मैं पूछता जाता और लिखता जाता था। एक दिन मैंने कहा—

"पर शंकरभाई, यदि हमारे मुवक्किल की माँ विवाहिता हो, तो विवाह के सबूत की भी तो आवश्यकता होगी न ?"

"विवाह तो हुआ ही होगा," शंकरभाई ने कहा—"क्यो भाई, विवाह का सबूत कहाँ है ?" उन्होंने अपने क्लर्क से पूछा।

"साहब," उसने उत्तर दिया, "रात को गवाह लेकर आयेगा।"

रात को जब हम फिर मिले, तब क्लर्क उन दोनो आदमियो को ले आया, जो विवाह मे उपस्थित थे।

"परन्तु शंकरभाई, यदि विवाह हुआ होगा, तो उसकी निमन्त्रण-पत्रिका होगी, विवाह कराने वाला पुरोहित और बराती भी होंगे।"

"हाँ-हाँ, यह बात ठीक है," शंकर भाई ने कहा, "क्यों जी, इनके बारे मे क्या कहते हो ?"

"हाँ साहब, ये गवाह तो हाज़िर हैं ही। कल सुबह उन सबको भी ले आऊँगा।"

दूसरे दिन पुरोहित, बैंडवाले और बरात के आदमी आये। मैंने उनके बयान लिखाए और वे सब कोर्ट मे उपस्थित हुए।

कोर्ट मे रुस्तम वाडिया मुझसे रोज़ कहते थे—"मुन्शी, इसमे कुछ गड़बड़ है।"

एक के बाद एक गवाह आते, जाते, कल्पना मे भी न आने वाली बाते उपस्थित करते और दूसरे पक्ष वालो को चकित कर देते थे।

अंत मे निर्णय हो गया और हमारे मुवक्किल को काफ़ी अच्छी रकम मिली। यह कहने की आवश्यकता नही कि सालिसिटर्स का सारा ही खर्च मिला।

मैं एकदम नया था, इसलिए लोग कुछ-न-कुछ सलाह-मशविरा देते ही रहते थे। कोई कहता मुझे न्यायाधीशो को सलाम करना चाहिए;

कोई कहता मुझे बडे-बडे सालिसिटरो के यहाँ जूतियाँ रगडनी चाहिएँ।

न्यायाधीश के यहाँ जाना तो मुझे न भाया, पर सालिसिटरों से नया-नया परिचय प्राप्त करने की सलाह को मै अमान्य न कर सका। पिताजी के एक मित्र से बम्बई के एक प्रतिष्ठित सालिसिटर के नाम पत्र लिखाकर मँगाया। उसे लेकर मै उक्त सालिसिटर के घर पहुँचा। उन्होने बडी ही शिष्टता से मेरा स्वागत किया और मेरी सहायता करने का वचन दिया। मैं खुश होता हुआ घर आया।

तीन सप्ताह तक मैंने उनकी ओर से 'ब्रीफ' आने की राह देखी, फिर पुन उनसे मिलने गया। उनके शिष्टाचार को सीमा नही थी। केवल मुझे यह स्मरण कराना पडा कि मैं कौन हूँ।

"मुन्शी," उन्होने कहा, "मेरे ऑफिस से निकली हुई पहली ब्रीफ तुम्हारी होगी।"

उस 'पहली ब्रीफ' की मैं चातक की तरह राह देखने लगा। रोज उसकी ध्वनि सुन पडती थी, परन्तु पर-स्त्री के घर पर पडे हुए पति की पग-ध्वनि के समान वह केवल ध्वनि ही रहती।

मैं तीसरी बार फिर गया। फिर वही शिष्टाचार का प्रदर्शन। इस बार मुझे पुन. उनको यह याद दिलाना पडा कि मैं कौन हूँ। हम केवल मीठी बाते करके एक-दूसरे से अलग हुए। खाली वचन देने की मुसीबत से मैने उन्हे बचा लिया।

कुछ वर्षो से काम कर रहे एक सालिसिटर के पास मुझे मछाशंकर काका ले गए। उन्होने मेरा परिचय कराके मेरी सहायता करने के लिए उनसे कहा। "बहुत अच्छा, आपकी कही हुई बात पर भला इनकार हो सकता है!" सालिसिटर ने उत्तर दिया।

उनके भाव से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मैं घास का तिनका हूँ।

जब मैं मिलता, तभी मंछाशकर काका मुझे टोकते—'तुम बडे शरमीले हो। तुम्हें उनसे फिर मिल आना चाहिए। क्लब मे भेट होने पर मैंने उनसे फिर बात की है।"

मंछाशंकर काका को खुश करने के लिए मैं एक रविवार को उक्त सज्जन के यहाँ गया। सालिसिटर साहब ने मेरा अभिभावक-पद ले लिया और स्वयं सर्वगुणसम्पन्न हो, इस प्रकार रोब से कहने लगे—

"देखिए, मि० मुन्शी, एडवोकेट का व्यवसाय बड़ा कठिन है। यह काम ऐसा-वैसा नहीं। आपको लॉ-रिपोर्ट्स बराबर पढ़ते रहना चाहिए, सालिसिटरों को खुश रखना चाहिए; अन्यथा आपके समान नये व्यक्ति को वे काम कैसे दे सकते हैं? न्यायाधीशों के साथ भी अच्छा व्यवहार रखना चाहिए। मुकदमा चलाने की योग्यता आनी चाहिए। अंग्रेजी लहजे में बोलना चाहिए। यह सब आपको आता है न?"

यह सब सुनकर मैं अकुला गया। मैंने कहा—

"देखिए मि०— मैं तो मंछाशंकर काका के—जो आपके भी पूज्य हैं—दबाव डालने से आपके परिचय को ताजा करने आया हूँ, आपकी कृपा और 'ब्रीफ' की याचना करने नहीं आया। इस व्यवसाय के लिए आपने जिन-जिन योग्यताओं की आवश्यकता का वर्णन किया है, उन सबको मैंने ध्यान में रख लिया है और जब मैं उन्हें प्राप्त कर लूँगा, तब मुझे आपको जरा भी कष्ट देने की जरूरत नहीं पड़ेगी नमस्कार!"

मैंने विदाई ली और व्यवसाय चमकाने के इस प्रकार के प्रयोगों को तिलांजलि दे दी।

हरसिद्ध भाई दिवेटिया और अन्य एक-दो मित्रों ने एपलेट साइड पर ताजी वकालत शुरू की थी। उनके साथ मैं भी उस कोर्ट में उपस्थित होने लगा।

भड़ौंच-सूरत के मित्र मेरी प्रसिद्धि के लिए परिश्रम कर रहे थे। रांदेर म्युनिसिपलिटी के चुनाव के सम्बन्ध में कुछ झगड़ा हो गया। सूरत के डिस्ट्रिक्ट जज के कोर्ट में एक मित्र ने मुझे बुलाया। ग्रांट रोड से मैं सेकंड क्लास में बैठकर गया। बगल के फर्स्ट क्लास के डिब्बे में मैंने स्ट्रैंगमेन को बैठे देखा। उसके सामने आने में मुझे घबराहट होती थी।

कोर्ट में चार घण्टे बोला, स्ट्रैंगमेन आधा घण्टा। मैं बहादुरी दिखा-

कर वापस आया और जीत गए स्ट्रैगमेन। लौटने समय किराया मैंने स्वय खर्च किया और मुवक्किल ने बरफी की 'पोटली' बँधवा दी।

मेरा नियम था कि चाहे जिस प्रकार का मुकदमा हाथ मे आए, उस पर टूट पडना। भडौच मे आते हुए गाडी मे एक मुसलमान मिले। उनके बक्स पर मौलवी.. . बी० ए० (ऑक्सन)[1] लिखा था। उनकी दाढी और कुरता उनकी आध्यात्मिक महत्ता के परिचायक थे। हम दोनो ने धर्म की चर्चा छेडी। मौलवी साहब ने यह कहकर कि वे 'बहाई' है, अच्छी तरह बाते की। ट्रेन से उतरते हुए उन्होने मेरा पता लिख लिया।

दूसरे दिन मौलवी साहब मेरे घर आये और अपना दुःख रोने लगे। मद्रास इलाके मे अनन्तपुर नाम का एक गाँव है। वहाँ मौलवी साहब धर्म-प्रचार करने के लिए गये थे। अन्त मे वे 'बहाई' है, यह बात प्रकट हो गई और वहाँ के मुसलमानो ने धर्म-द्वेष के कारण उन पर फौजदारी का मुकदमा चला दिया। 'होम करते हाथ जले' की कहावत चरितार्थ हुई। वे धर्मगुरु थे। दो-तीन नवाब और निज़ाम हैदराबाद मे एक-दो बडे आदमी उनके शिष्य थे। उन्होने मुझे उनके तार दिखलाए। तार मे लिखा था कि मुकदमे की तारीख पर यदि वे बैरिस्टर लेकर नही पहुँचे, तो उनके नाम वारट निकल सकता है। उन्होने अपनी ओर से मुझे अनन्तपुर चलने को कहा।

१९१३ के अक्तूबर की यह बात है। मेरे हृदय मे गर्व की लहरे उठी। बहाई मौलवी, बी० ए० (ऑक्सन), कौमी झगडा और मद्रास इलाके का अनन्तपुर गाव। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो इस प्रकार के जरूरी मुकदमे मेरी प्रतीक्षा कर रहे हो। मैने १००) प्रतिदिन की फीस माँगी। मौलवी ने स्वीकार कर लिया। परन्तु उस समय उनके पास पैसे नही थे। उन्होने मुझे विश्वास दिलाया कि जब वे हैदराबाद पहुँचेगे, तब शिष्यो के पास से पैसे इकट्ठे करके रास्ते मे गुटेकल जक्शन पर मुझसे फीस के साथ मिलेंगे।

---

१. विलायत के ऑक्सफोर्ड विद्यापीठ का स्नातक।

क्षण-भर के लिए भारत के एक अग्रगण्य वकील की कीर्ति मेरी आँखो के सामने नाच उठी। दो-तीन मित्रो ने कौमी झगडे मे न पडने की और फीस मिलने से पहले काम न करने की सलाह दी। पर मुझे मौलवी की मान-भरी दाढी और ऑक्सफोर्ड की बी० ए० की उपाधि की याद आई। धर्मान्धता के चक्कर मे फंसे हुए निर्दोष बहाई शहीद का दु ख-निवारण करने के लिए मैं अधीर हो उठा और जिस उत्साह से निराश्रित स्त्रियो की रक्षा करने के लिए डान कीकोट[1] 'रोजिनात' पर बैठकर आगे बढा था, उसी उत्साह से बहाई मौलवी की रक्षा के लिए मैंने अनन्तपुर का टिकट कटाया और बोरीबन्दर से गाडी पकडी।

दूसरे दिन शाम को गुटेकल जक्शन पर मौलवी साहब मुझे मिले। उनके बडे लम्बे, झब्बे और इस्त्री किये हुए कुरते की जगह मैला पाजामा और फटी हुई जाकट देखकर मैं विचार मे पड गया। मैंने अपनी फीस माँगी। उत्तर मे मौलवी साहब ने गहरा नि श्वास छोडा। उनके शिष्य लोग हैदराबाद मे नही थे, इससे वे फीस के पैसे प्राप्त नही कर सके थे। अनन्तपुर मे उन्होने मेरे ठहरने का स्थान निश्चित नही किया था, परन्तु डाक-बँगला तो था ही।

इस सारी बातचीत के बाद मुझे अपनी मूर्खता का खयाल आने लगा, परन्तु वापस लौटने की हिम्मत नही हुई। गुटेकल से अनन्तपुर जाने के लिए मैं छोटी गाडी मे बैठा। डिब्बे मे एक मद्रासी ब्राह्मण मेरे साथ थे। उनके साथ बात करने पर मालूम हुआ कि वे अनन्तपुर के डिप्टी कलक्टर थे। ब्राह्मण-सस्कार के विषय मे बात करते-करते हमने परिचय बढा लिया। जीवन मे पहली ही बार मैं मद्रासी ब्राह्मण से मिला और ब्राह्मणत्व की सारे भारत मे फैलाई हुई समान-सस्कृति का मुझे ज्ञान हुआ। गोत्र और प्रवर, वेद और शाखा तथा पुराणो की मान्यता आदि के विषय मे हमने बडी देर तक बाते की।

---

१. स्पेन के लेखक सर्वेंटिस की जगद्विख्यात व्यंग कहानी Don Quixote का नायक।

मौलवी के विषय मे मैंने उनसे बात की। उनसे मुझे काफी जानकारी प्राप्त हुई, क्योकि आरम्भ मे यह मामला उन्ही के हाथ मे था। वस्तुतः वे न मौलवी थे, न बी० ए० और न तो उन्होने ऑक्सफोर्ड या कोई दूसरी युनिवर्सिटी देखी थी। उन्होंने मस्जिद बनाने के लिए पैसे इकट्ठे करने शुरू किये थे, पर वे उनका हिसाब नही दे सके, इसलिए लोगो ने उन पर विश्वासघात का मुकदमा चला दिया था। महीनो से मुकदमे की तारीख पर मौलवी हाजिर नही रहते थे, इसलिए इनके नाम वारट निकालने की तजवीज हो रही थी।

मेरा रोष शान्त हो गया, मेरे सुनहले स्वप्न मिट्टी मे मिल गए। मेरा चेहरा इस समय देखने ही लायक था।

उनसे मुझे मालूम हुआ कि अनन्तपुर का डाक बँगला भी खाली नहीं है। साथ ही यह गाडी बारह-एक बजे रात को अनन्तपुर पहुँचती है और गाँव लगभग तीन मील दूर है। रात कहाँ बिताई जाए, इसकी मुझे चिता हुई। मैंने उनसे बात की। उन्होने स्टेशन पर वेटिंग रूम मे मेरे लिए व्यवस्था कर देने का वचन दिया।

बारह बजे के लगभग मैं अनन्तपुर पहुँचा। डिप्टी कलक्टर ने स्टेशन मास्टर से कहकर मेरे लिए वेटिंग-रूम मे सोने का प्रबन्ध करा दिया। मौलवी साहब तो मेरे लिए डाक-बँगले मे प्रबन्ध कर वापस आने की बात कहकर अदृश्य हो गए थे।

वेटिंग रूम मे मैं दो आराम कुरसियाँ आमने-सामने रखकर उन पर लेट गया। सामने वाली सीट पर रेलवे का वेतन देने वाला—'पे-क्लर्क'—एक बडा बक्स पास रखकर सोया हुआ था। मेरे वेटिंग-रूम मे जाते ही उसने स्टेशन-मास्टर के पास जाकर अपना विरोध प्रदर्शित किया। उसकी भाषा मेरी समझ मे नही आती थी, फिर भी मैंने यह जान लिया कि वह स्टेशन-मास्टर से मुझे वेटिंग-रूम से बाहर निकालने के लिए कह रहा है।

स्टेशन-मास्टर ने उसे समझाकर कहा कि मैं बम्बई का बैरिस्टर हूँ, पर फिर भी पे-क्लर्क को चैन न आया। उसने एक चपरासी को

बुलाकर बक्स के पास सुलाया। मुझे स्पष्ट समझ मे आ गया कि उसे यह सशय हो गया होगा कि मै कोई डाकू हूँ।

ढोंगी मौलवी, बिना फ़ीस के उठाया हुआ यह जोखिम, निर्जन स्टेशन, धान के खेतो मे पाले-पोसे मच्छरो के सगीत और दशन, कुरसियो मे घुसे भूखे खटमल, शकालु वेतन-क्लर्क और खुर्राटे मारता हुआ उसका गदा चपरासी! बस क्या था, निद्रादेवी रूठ गईं। तिस पर मैं १००) अपने साथ लाया था और वसीयत मे मिली हुई पिताजी की सोने की घडी भी मैं अपनी शान के लिए साथ लाया था। इस जोखिम को मैंने तकिये के नीचे सुरक्षित रखा। परन्तु नीद का ज़रा-सा झोका आते ही मैं बार-बार यह जानने के लिए सिरहाने के नीचे हाथ डालकर देख लेता था कि वह सुरक्षित है या नही।

वेतन-क्लर्क को भी नींद नही आ रही थी। वह लगातार करवटे बदल रहा था और बीच-बीच मे ओढी हुई चादर मे से हाथ निकालकर बक्स के ताले को टटोल लेता था।

पहली ही दृष्टि मे हम लोगो को एक-दूसरे की ईमानदारी पर जो विचित्र अविश्वास उत्पन्न हो गया था, उसे देखकर मेरी विनोद-वृत्ति वश मे न रह सकी। एक बार नीद का झोका लेकर मैं जागा, तकिये के नीचे हाथ डाला, ताले की खड़खड़ाहट सुनी, वेतन-क्लर्क के हाथ को उसे टटोलते देखा। मै अपने को रोक न सका और ठठाकर हंस पड़ा।

"व्हाट मिस्टर, व्हाट इज दि मैटर?"[१] कहकर वेतन-क्लर्क तुरन्त उठकर बैठ गया।

मैं भी खूब हंसते हुए उठ बैठा। हंसी रुकने पर मैंने कहा—"मिस्टर, घबराइए नही। आप समझते हैं कि मैं चोर हूँ, इसलिए ताला टटोलते है, और मैं समझता हूँ कि आप चोर हैं, इसलिए मैं अपनी घडी टटोलता हूँ।"

"बट व्हाई डु यू लाफ?"[२]

---

१ क्यों भाई, क्या बात है?

२. पर तुम हँस क्यों पड़े?

"तेरा सिर फोडने के लिए—" इस प्रकार बडबडाकर मैं फिर लम्बी तानकर सो रहा।

पौ फटने तक हम दोनों मे से कोई भी नही सो सका। जल्दी से, उठकर मैं तैयार हुआ। गुस्से के मारे बडबडाता हुआ वह क्लर्क अपनी द्राविडी बोली मे स्टेशन-मास्टर को डाँट बता आया।

मौलवी साहब आये और 'डाक बँगला खाली नही था, शहर मे जाने के लिए गाडी नही मिल सकती थी,' आदि बाते बनाकर माफी माँगने लगे। मैंने भी अपना गुस्सा उन पर अच्छी तरह उतारा।

अन्त मे हम वकील के यहाँ गये। उसका मुवक्किल बम्बई से बैरिस्टर लाएगा, इसकी उसे स्वप्न मे भी आशा नही थी। परन्तु अपनी आँखो के आगे यह घटना घटते देखकर वह बडा खुश हो गया। मैजिस्ट्रेट को विश्वास था कि अभियुक्त नही आयेगा, इसलिए वारंट निकालने का हुक्म देकर वे दौरे पर चले गए थे और कह गए थे कि अभियुक्त आये, तो उसे दौरे मे उनके पास भेज दिया जाए, वे तारीख दे देगे।

"वे कितने मील दूर गये है?"

"बाईस मील।"

"मैं वहाँ नही जाऊँगा। शाम की गाडी से मैं वापस लौट जाऊँगा।" मैंने कहा और मौलवी साहब मैजिस्ट्रेट के पास तारीख डलवाने चले गए।

वकील ने मेरी बडी खातिरदारी की। नहाते समय इतने बडे देग मे उन्होने मुझे पानी दिया कि नहाते-नहाते मेरे हाथ थक गए, पर पानी खतम नही हुआ।

भोजन करने बैठे, तो 'एलुवे'-जैसा लाल भात और मेरी खातिरदारी मे बनाई हुई गेहूँ की मोटी और कच्ची रोटियाँ सामने आईं। मिर्च का तो पार ही नही था। वकील ने मुझसे रोटी खाने के लिए आग्रह करते हुए कहा—"आपके लिए खास तौर से बनवाई हैं।" परन्तु मेरा हाथ न उठा। उनके आग्रह पर भी मैं टस-से-मस न हुआ। अन्त

मै मैंने दही माँगा और दही के साथ लाल भात खाया।

शाम को मैंने बम्बई की ओर विजय-प्रस्थान किया।

मैंने अपने मुवक्किल को इस प्रकार छोड दिया, पर वह मुझे छोडने वाला नही था। उसने अपने मित्रो को मेरा पता बता दिया था और वह स्वय भी तार के सिवाय सदेश नही भेजता था। इसलिए हाईकोर्ट की लाइब्रेरी मे मेरे नाम या मेरे 'केयर आफ' इतने तार आने लगे कि मुझे शर्मिन्दा होना पडा।

आ रहा हूँ, आज इस 'हाईनेस' से, कल उस 'हाइनेस' से फीस जमा कर रहा हूँ, मेरे केस मे आने के लिए तैयार रहिए—आदि सदेश आते रहे। परन्तु अनन्तपुर की हवा खाकर मेरे मुँह का पानी जो सूख गया था, वह फिर आ नही सका।

एक दिन मेरे पास लगभग बारह वर्ष का एक लडका, अठारह वर्ष की एक लडकी और लगभग पच्चीस वर्ष का एक युवक आया और मौलवी साहब का पता पूछा।

उन्होने तीन तार दिखलाए, मैंने तेरह तार उनके आगे रखे। मौलवी ने अपनी बहन, बहनोई और लडको को बम्बई बुलाया था, आठ दिन से वे बम्बई आकर होटल मे ठहरे हुए थे, पर मौलवी साहब का कोई पता न था। अपना बम्बई का पता 'केयर-आफ के०एम० मुन्शी, हाईकोर्ट' के सिवा और कुछ तो वे बतलाने ही क्यो लगे!

पाँच-सात दिन के बाद वह लडका और लडकी दोनो फिर मेरे घर आये। दोनो के मुँह कुम्हलाये हुए थे। मेरे कुछ प्रश्न करने पर लड़की रो पड़ी। मौलवी का पता नही। जितने पैसे साथ लाए थे, वे खत्म हो गए। वापस जाने के लिए पैसे नही थे, होटल वाले नें निकाल दिया था और रात से कुछ खाया नही था।

उस कोमल मुख पर आँसू टपकते देखकर मैं अकुला उठा। मैंने तुरन्त दोनो को खाने के लिए बिठाया और घर वापस जाने के लिए लगभग तीस रुपये दिये। 'Your need is greater than mine,' एक अंग्रेज वीर

के इन ऐतिहासिक शब्दो को मैंने झिझकते हुए अपने जीवन मे उतारा।

थोडे दिनो बाद मौलवी सपरिवार मेरे यहाँ आये और बिना फीस लिये अनन्तपुर चलने की उन्होने मुझसे प्रार्थना की।

मैंने अपनी डायरी मे नोट किया—

'मौलवी अपने परिवार के साथ आया। उसकी बहन ने रोकर मुझमे दयाभाव जाग्रत करने का स्त्री-चारित्र्य दिखलाया। यह मनुष्य तो लुटेरा है। इसके लिए मैं अपने हित की बलि कैसे दे सकता हूँ?'

१४-११-१३

कुछ महीनो बाद अनन्तपुर का पुलिस-अधिकारी उसकी खोज करता हुआ मुझे हाईकोर्ट मे मिला और मौलवी साहब मेरे जीवन-पट पर से विलुप्त हो गए।

छ.

जमीयतराम काका की व्यावहारिक दृष्टि अद्भुत थी। प्रत्येक वस्तु पर उनकी नज़र रहती थी। जो काम वे करते, उसमे अधूरापन या अनिश्चितता बिलकुल नही होती थी। छोटे बच्चो ने जीभ साफ की है या नहीं, इसकी भी उन्हें रोज़ चिन्ता रहती थी। जब कही विवाह मे जाना होता, तब परिवार की सब स्त्रियाँ उनके पास आकर गहने पहनकर जाती और बरात वापस होते ही फिर उन्हें सौंप जाती थी। 'बैरिस्टर का काम न बन पडे तो कोई बात नही, परन्तु चपरासी से लेकर सालिसिटर तक का काम तो मुझे आना ही चाहिए,' इस प्रकार वे कहा करते थे। आवश्यकता की वस्तु की ओर ध्यान न दिया गया हो, यह हो ही नही सकता था। अपनी सावधानी पर उन्हे बडा गर्व था। उसी से वे विपक्षी को मात करते थे। जितने ट्रस्ट और जितनी मल्कियते उनके हाथ मे थीं, उनकी व्यवस्था एकदम सही होती थी। रात को सारे काम से निश्चिन्त होकर प्रत्येक बही के खातो की देखभाल स्वय करके ही वह सोते थे।

बाह्य दृष्टि से उनका स्वभाव कठोर मालूम होता था, परन्तु आन्त-

रिक दृष्टि से समझदार और ममत्वपूर्ण था। ज़रा-ज़रा-सी बात में चिल्ला पड़ते, पर उनका हृदय मुश्किल से ही व्याकुल होता था।

अच्छा काम करना और पर्याप्त पैसे लेना, यह था उनका सूत्र। कोई थोड़ी फ़ीस की बात करता कि उन्हें गुस्सा आ जाता। मुवक्किल की दुकान पर कुछ खरीदने जाते, तो उसे मुँह-माँगे दाम देते और ऐसे मुवक्किल से वे हमेशा कहते, 'तुम भी मेरा कास्ट्स (फ़ीस की रकम) पूरा-पूरा देना, मेरे भाव में कमी न करना।'

पैसे प्राप्त करने और खर्च करने, दोनों ओर उनकी दृष्टि तलवार की धार के समान थी; इसमें जरा भी कमजोरी या ढीलापन नहीं आता था। अनुचित तरीके से मिले हुए धन को वे शिव-निर्माल्य समझते। झूठे व्यवहार के वे कट्टर शत्रु थे। वे मंदिरों में जाति के लिए, सगे-सम्बन्धियों की सहायता के लिए और ब्राह्मणों के लिए पैसे खर्च करते; इसके सिवाय उनकी मुट्ठी बन्द रहती थी।

काका स्पष्ट धर्माभिमानी थे। नये ज़माने की दृष्टि उन्हें चुभती थी। मंछाशंकर काका की तरह धर्म-ग्रन्थों के पाठक नहीं थे; जन्म से भार्गव ब्राह्मण होने के कारण उसकी उचित रूढ़ियों का पालन करने में उन्होंने अपना कर्तव्य माना था। जवानी में खाने-पीने में तूफान मचाए थे, बलवा भी किया होगा। जब मैं उन्हें जानने लगा, तब तो उन्होंने बारह ज्योतिर्लिंगों के दर्शन करके आने में जीवन की सफलता मान ली थी। वे कहते—"भाई, जब बड़े होंगे, तब इसकी खूबी समझ में आएगी।"

मैं उनके लिए अनबूझी पहेली के समान था। निर्धन होने पर भी मैं अभिमानी था। समय खराब करने पर भी परीक्षा में पास हो गया था। वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध भाषण करने पर भी जाति को सुधारने के प्रयत्न करता था। उनकी दृष्टि में मैं धर्म-भ्रष्ट था, फिर भी वेद और पुराण से परिचय बढ़ाता और ब्राह्मणों द्वारा की हुई जगत् की सेवा की बातें करता था। उन्हें आशा थी कि कभी मैं सुधर जाऊँगा।

मैं व्यवसाय में किस प्रकार आगे बढ़ूँ, इसकी उन्होंने सावधानी से

योजना बनाई थी। भूलाभाई के पास उन्होंने मुझे सीखने के लिए भेजा, इसमें उनकी दूरदर्शिता थी। एक बात तो यह थी कि मैंने थोड़ा-बहुत सीखा और दूसरी बड़ी बात यह थी कि साथ-साथ भूलाभाई को काम देने वाले सालिसिटर को आकर्षित करने का क्षेत्र मिला। काका ऐसा काम नहीं देते थे, जिसमें मुझे केवल कमाई हो, बल्कि ऐसा काम देते थे जिसमें परिश्रम करना पड़े।

हाईकोर्ट के अनेक बड़े सालिसिटर रोज़ दोपहर को लाइब्रेरी में मिलते थे। यह काका का दरबार कहलाता था। जब कोर्ट खुला होता, तब रोज़ दरबार लगता। वहाँ कोर्ट की बातें होतीं, नये फैसलों की छान-बीन की जाती, किसी सालिसिटर को कोई उलझन मालूम होती तो उसे काका सुलझाते। कोई कठिनाई में पड़ जाता तो काका उसे हाथ पकड़कर पार लगाते। नगर की बातें भी होतीं। किसी समय किसी की इज्ज़त भी लुट जाती। अश्लीलता का रंग भी कभी-कभी जमता। काका इस दरबार में एकछत्र राज्य करते, योजना बनाते, दूसरे सालिसिटरों को कमाने के रास्ते बतलाते। सब उनसे प्रेम करते थे और साथ ही डरते भी थे कि कहीं काका के आगे कान न पकड़ना पड़े।

मुझे काम देने के लिए काका ने अपने किसी मित्र से कभी नहीं कहा था, परन्तु मुझे धीरे-धीरे दरबार का अंग बना लिया और इतना ही नहीं, उन्होंने ऐसे प्रसंग खड़े किये कि जिनमें मैं प्रतिष्ठित सालिसिटरों की नजरों में खरा उतरूँ। इनमें से काका के पश्चात् स्वर्गीय विजभूखनदास पकवासा (कबलभाई) का प्रेम प्राप्त करने का मुझे सौभाग्य मिला; और उनके कारण उनकी फर्म मेसर्स तैयबजी डाह्याभाई के सब हिस्सेदार मुझमें दिलचस्पी लेने लगे।

१९१४-१५ में एक बड़ा ही मनोरंजक अनुभव मुझे हुआ। तब मैं अनुभवहीन था। उस समय एक गिनी[1] पन्द्रह रुपये की नहीं थी

---

१. हाईकोर्ट की ओरिजिनल साइड पर फीस की गणना पन्द्रह रुपये की एक गिनी के हिसाब से होती है।

परन्तु दो सो चालीस अमूल्य आनो की थी, और प्रत्येक आने की उपयागिता की सीमा नही थी। कोर्ट मे जब मैं खडा होता, तब कानो मे धम-धम आवाज़ होती, उँगलियाँ इस तरह काँपती जैसे हवा मे पत्ता काँपता है और पैर मोटर के हवा निकलते हुए टायर की तरह मुडने लगते।

मैंने एक दावा-अरज़ी लिखी थी। मेरी समझ मे वह रत्ती-रत्ती सही थी और उसमे गलतियाँ न थी। मेरे मुवक्किल की यह फरियाद थी कि उसकी प्रिय-पत्नी उसके साथ रहने के बदले अपने काका के घर चली गई थी। हमने प्रार्थना की थी कि माननीय कोर्ट उस क्रूर-हृदय पत्नी को हमारे आतुर हाथो मे पुन. सौप दे और साथ ही पचास हज़ार रुपयो की कीमत के जो गहने वह ले गई थी, वे भी पुन. दिलवा दे।

यह बिना बचाव का लम्बा झगडा—Undefended Long Cause कहा जाता था, इसलिए प्रतिपक्षी उपस्थित हो ही नही सकता था। मुझे तो केवल अपने मुवक्किल का बयान लेकर हुक्मनामा प्राप्त करना था। ब्रीफ पर भी मेरे सालिसिटर ने मेरी फास के तीन गिनी अर्थात् पैतालीस रुपये लिख दिये थे, इसलिए वसन्त मे अह्लादित सृष्टि कोकिलगान करती मुझे सुनाई दे रही थी। सवा दो बजे न्यायाधीश बीमन के कोर्ट मे एक अगली कुरसी पर जाकर मैं बैठ गया। अपने मुवक्किल की दाम्पत्य-जीवन की अभिलाषा को सन्तुष्ट करने की उत्कठा मेरे हृदय मे उठ रही थी। काका सामने सालिसिटर के बेंच पर बैठे हुए थे। ढाई बजे जब कोर्ट उठा, तब काका मेरे पास आये।

"इस झगडे में तुम हो ?"

"जी हाँ।"

काका ने डराती हुई आवाज़ मे पूछा, "तुम इसका हुक्मनामा लेने वाले हो ?" तीन गोल्ड मुहरे और बिना प्रतिपक्षी के लिया जाने वाला हुक्मनामा, इन दोनो के कारण मैं इतने उत्साह मे था कि काका के गले लगने को तैयार था।

'जी हाँ," मैंने कहा।

'लो भाई, लो" काका ने भयकर आवाज मे कहा, "देख लेगे, ले लो।"

यह आवाज़ सुनकर मेरा हृदय क्षण-भर के लिए धडकना बन्द हो गया।

साढे तीन बजे न्यायाधीश बीमन के सामने मै फिर उपस्थित हो गया। ऋद्ध और हँसमुख रजिस्ट्रार कमलाकर मेरा पक्ष लेता था। उसने मेरी ओर आँख से सकेत करके मेरे झगडे के पक्ष वालो के नाम पुकारे। काका की ओर विजय-भरा नयन-तेज फेककर मैंने कोर्ट को सूचित किया कि मैं वादी की ओर से हाज़िर हुआ हूँ।

कमलाकर ने फिर से प्रतिवादी का नाम पुकारा। कोई नहीं आया, परन्तु कमलाकर ने उठ कर न्यायाधीश से कहा कि प्रतिवादी ने माननीय को एक पत्र लिखा है। काका के मुख पर हास्य चमका और मेरे हृदय मे हिमालय की ठडक फैल गई। फिर कमलाकर ने पत्र पढा। पत्र से प्रतिवादी कृतघ्नता की मूर्तिमान-सी प्रतीत हुई। उसने लिखा था कि उसका पति और मेरा मुवक्किल विषयी मनुष्य है, कोई काम-धन्धा नही करता। जब वह उसके साथ रहती थी, तब वह हमेशा कोकीन खाकर बच्चो को मारता-पीटता रहता था। थोडी सम्पत्ति, जो उसके पिता छोड़ गए थे, वह उसने फूंक डाली थी। और इस कारण उसने अन्त मे लडके के साथ शहर मे अपने काका के यहाँ शरण ली थी। प्रतिवादी स्त्री ने अन्त मे कहा था कि यदि मेरे मुवक्किल के साथ रहने का मुझे माननीय हुक्म देंगे, तो यह घातक कृत्य कहलाएगा, और इतना ही नहीं, इससे अधिक पाप करना माननीय के लिए असम्भव हो जाएगा।

न्यायाधीश बीमन ने कहा, "मि० मुशी, आपका मुवक्किल तो ब्रह्मराक्षस मालूम होता है।"

"ऐसी बात नही है।" मुझे तो बिना देखे मुवक्किल का वर्णन करने के लिए पैसे मिलने वाले थे, इसलिए मैंने उत्साह से कहा "माननीय!

मेरा मुवक्किल अभी जब गवाह के कठघरे मे आएगा, तब आप ही देख सकेंगे कि ये सब आक्षेप झूठे है।"

वादी का नाम पुकारा गया। पत्नी के बिना तडपते हुए अपने विरहाकुल प्रणयी मुवक्किल को माननीय के सामने उपस्थित करने की मेरी इच्छा थी। परन्तु 'बाप रे! ' मेरे हृदय से ध्वनि निकली।

गवाह के कठघरे मे वादी आया—पान चबाते हुए, सिर पर कोनेदार टोपी लगाकर गहरी आँखो से हमे देखते हुए, बाहर निकली हुई जीभ से अपने मुख की शोभा की अभिवृद्धि करता हुआ! उसने किसी और का कढा हुआ कोट पहना हुआ था। उसकी इस्त्री से स्पष्ट पता लग रहा था कि कोर्ट मे पहनने के लिए किसी परिचित धोबी से किराये पर लाया गया होगा।

अपने मुडते हुए घुटनो को मैने ज्यो त्यो करके रोका।

"तुम इस दावे मे वादी हो?" मेरे मुवक्किल को मेरी ओर देखने की परवाह नही थी, वह तो कठघरे के पास सालिसिटर की बेच पर बैठे हुए काका की ओर आँखे फाडकर देखता रहा। उसने गला खँखारा। मानव-जीवन का प्रवाह बदल डालने वाली कोई भीषण प्रतिज्ञा वह करने जा रहा था, ऐसा स्पष्ट मालूम होने लगा। उसने माननीय की ओर देखकर बोलना शुरू किया। उसकी आवाज घुट रही थी—या तो पान का रस निगला न जाने से या पत्नी-विरह व्यक्त करने वाले प्रणयी के भग्न हृदय मे छाये हुए एकाकीपन से। एक-एक बोल पर पान के करण चारो ओर उड रहे थे।

"माई लार्ड, खून हो गया—मेरे ससुर का, क्षण—और...नगर के दीवान और जमीयतराम जीवनराम सालिसिटर, बम्बई हाईकोर्ट, ने सारे पैसे ले लिये।"

काका के मुख के भाव से प्रतीत हुआ कि वे उपहास कर रहे है। अब मुझे होश आया कि काका किसलिए यहाँ बैठे थे। परिस्थिति सुधारने के लिए मैंने एक भगीरथ प्रयत्न किया—

"माननीय, वादी को अंग्रेजी अच्छी तरह नही आती, दुभाषिये को आज्ञा दीजिये कि इसमे गुजराती मे प्रश्न करे।"

न्यायमूर्ति बीमन को इस प्रसग मे बडी दिलचस्पी पैदा हो गई थी।

"नही, मि० मुशी,' उन्होने कहा 'हम इस समय दिलचस्पी से भरी खून की रहस्यमयी बातो की दुनिया मे है। ठीक, मि० वादी, फिर तुम्हारे खून का क्या हुआ ?"

पढाये हुए तोते को शोभा देने वाले ढग से वह फिर बोलने लगा—

"माई लार्ड, खून हो गया—मेरे ससुर का, क्षज्ञ—और · नगर के दीवान और जसीवतराम जीवनराम सालिसिटर, बम्बई हाईकोर्ट, ने सारे पैसे ले लिये।"

न्यायमूर्ति की स्थिर मुखमुद्रा पर हास्य छा गया। मेरे निकट ही रुस्तम बाडिया बैठे थे। उनके हँसने की आवाज मेरे कानो मे पडी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मेरे चारो ओर धुध छा गई है और उसमे से मैने सौ मुख हँसते हुए देखे। पसीने की बूँदे मेरे माथे पर उभर आई। अपने हाथो को कहाँ डालूँ, यह न सूझने से मैने उन्हे पीठ के पीछे ले जाकर उँगलियो को मिलाकर मरोड डाला और मै खडा रह सकूँ, इतनी स्वस्थता प्राप्त करने का मैने प्रयत्न किया।

न्यायाधीश बीमन निर्दयता की मूर्ति बनकर बैठ गए।

"ठीक, ठीक, मि० वादी, तुम कोकीन खाते हो ?"

"नही, माई लार्ड !" मेरे मुवक्किल ने कहा, "मै सवेरे भात खाता हूँ, दाल खाता हूँ और दो बार चाय पीता हूँ।"

वहाँ इकट्ठे हुए लोगो के गलो से निकली हुई आवाज मेरे कानो से इस प्रकार टकराई, जैसे तोप के धडाके हो। मुझे यह सूझ न पडा कि क्या करूँ। अपने सालिसिटर मे प्रेरणा पाने के लिए मैने पीछे देखा। वे कब के अन्तर्धान हो चुके थे और मैं रह गया था अकेला—मित्र-विहीन, सालिसिटर से परित्यक्त, और मुवक्किल के द्रोह से व्यथित।

मनोरजन की आशा रखकर बैठे हुए समूह के बीच मैने शकुन्तला

की तरह प्रार्थना की—"भगवति वसुधरे देहि मे विवरम् ।' परन्तु कोर्ट की भूमि अपनी क्रूर-हृदयी निश्चलता से न डिगी । न्यायाधीश बीमन ने मुझसे मजाक मे पूछा—

"मि० मुशी, अब आपके मुवक्किल का क्या किया जाए ?"

क्या किया जाए, यह जाने मेरी बला ! यह मैं जानता हूँ, ऐसा न्याय मेरे साथ करने की यह अन्याय-वृत्ति इस न्यायाधीश मे भला कहाँ से आ टपकी !

रुस्तम वाडिया की कुहनी मेरी पसलियो मे चुभी ।

"दावा वापस ले लो । दावा करने की आज्ञा के साथ दावा वापस ले लो," सारा कोर्ट सुन सके इस प्रकार ऊँची आवाज मे उन्होने मेरे कान मे कहा । बिजली गिरने और बादल गरजने के समान भयकर अट्ट-हास से मेरे कान फट गए ।

अपने दावे को, अपने मुवक्किल को या अपने-आपको मैं किस प्रकार वापस ले लूँ, इसका मुझे ज़रा भी होश नही था । यह कला तो अकेले मेरे सालिसिटर मित्र को आती थी और वे उसका कब से उपयोग भी कर चुके थे । आधे होश मे मैने वाडिया की सलाह का उच्चारण किया—

"फिर दावा करने की आज्ञा के साथ वादी को दावा वापस लेने की आज्ञा दे ।"

न्यायमूर्ति ने तटस्थता से फैसला किया ।

"मि० मुशी, इससे अधिक अच्छा आप इस समय और कुछ नही कर सकते ।" न्यायाधीश बीमन के टाइपराइटर पर इस हुक्म के टाइप होने से पहले ही मैं वहाँ से पलायन कर चुका था ।

इसके पश्चात् बहुत दिन तक लाइब्रेरी मे जाना मेरे लिए बहादुरी की पराकाष्ठा पर पहुँचने के समान हो गया था । इतनी हिम्मत यदि मैं रणक्षेत्र मे काम मे लाया होता, तो मुझे कितने पदक मिलते !

इस प्रकार यह रस-भरा अनुभव पूर्ण हुआ, जिसकी रसहीनता

कितने ही समय तक मुझे बेधती रही।

बात

भूलाभाई का विद्यार्थी-जीवन बडा तेजस्वी था। १८६६ मे इतिहास का विषय लेकर बी० ए० मे फर्स्ट क्लास मे पास हुए। गोकुलदास तेजपाल बोर्डिंग और एलिफन्स्टन कॉलेज के सहाध्यायियो को उन्होने मुग्ध कर दिया था। खेल-कूद मे भी वे बेजोड थे। विद्या-व्यसनी लडको को उनके लिए बडा मान था। शरारती पारसी लड़के भी उनका सम्मान करते थे। पास होने के बाद, कुछ समय वे एलिफन्स्टन कॉलेज मे इतिहास के प्रोफेसर रहे और सन् १६०० ई० मे अहमदाबाद के गुजरात कॉलेज मे प्रोफेसर नियुक्त हुए। वहाँ उस समय 'सेटलमेट आफिसर' के रूप मे भीमभाई किरपाराम की बडी प्रतिष्ठा और प्रभाव था। भूलाभाई उनके स्वजातीय और उनके पुत्र और भतीजे के मित्र थे; इसलिए जितनी प्रतिष्ठा उन्होने अपनी शक्ति से प्राप्त की, उतनी ही उनके साथ के सम्बन्ध से भी प्राप्त कर सके।

बाद मे वे छुट्टी लेकर बम्बई आये। हाईकोर्ट मे हाजिरी लिखी। सन् १६०४ के मार्च मे एडवोकेट बने।

अग्रगण्य गुजराती सालिसिटर इस बुद्धिशाली गुजराती युवक पर मुग्ध हो गए और पहले दिन से ही उनकी मदद करने लगे। भूलाभाई की प्रत्येक व्यक्ति को रिझाने की शक्ति जादू-सा चमत्कार दिखलाने लगी। उनका शरीर भी कसा हुआ था, इसलिए परिश्रम करने की शक्ति भी असीम थी। बोलने की छटा भी प्रभावित करने वाली थी। इसलिए वे हाईकोर्ट मे आये, उसे परखा और उसे जीत लिया।

पारसी सालिसिटरो के भी वे प्रिय बन गए। उनमे से अनेक तो उन्ही के पुराने सहाध्यायी थे। पारसियो के ढंग की उद्धतता, या विनोद-पूर्वक बोलने और आचरण करने की कला को अपनाकर उन्होने अन्य लोगो को अपना लिया।

आगा खाँ के विरुद्ध उन्ही की एक सम्बन्धी का किया हुआ दावा न्यायमूर्ति रसल के आगे महीनो तक चला था। उसमे बहादुरजी और भूलाभाई उस स्त्री की ओर से खडे हुए थे। मुकाबले मे आठ-दस होशियार बैरिस्टर थे।

इस केस का मेरा कुछ स्मरण तो माननीय न्यायमूर्ति के विषय मे है। वे खास तौर पर बनवाये हुए छाती तक ऊँचे टेबल पर हाथ रखकर ऊँघते रहते। इन्वेरारिटी[1] थोडी थोडी देर बाद जब टेबल पर किताबे पटकते, तब माननीय चौककर जागते, आँखे मलते और कहते—"ठीक, मि० इन्वेरारिटी, फिर आगे ?" और इन्वेरारिटी आगे चलते।

१९१३ मे जब मै आया, तब तक भी भूलाभाई की इस केस मे दिखलाई हुई कुशलता और कीर्ति का गुजन सुनाई दे रहा था।

माननीय रसल के कोर्ट मे हुई एक मनोरजक घटना को अनेक धारा-शास्त्री अब तक याद करते है। एक बार वे सेशन्स मे खून के आरोप का मुकदमा चला रहे थे। ग्राटरोड पर, जहाँ वेश्याएँ रहती हैं, उस गली मे खून हुआ था और वेश्या गवाह के रूप मे बयान दे रही थी।

गवाह के सामने नक्शा रखा गया। बैरिस्टर ने उससे कहा—

"मरा हुआ आदमी कहाँ पडा था, यह इस नक्शे मे बताओ।"

वेश्या ने यह बताने का प्रयत्न किया।

"तुम्हारा घर कहाँ पर है ?"

वेश्या को नक्शा देखना किसी ने नही सिखलाया था, इसलिए उसने स्वय भरसक प्रयत्न किया। सवाल भी ठीक-ठीक उसकी समझ मे नहीं आया। माननीय क्रुद्ध हुए और दुभाषिये से कहा—

"Tell the witness, if one comes to your place how would he identify your house ?"

---

१. उस समय के एक कुशल वकील, जिनका परिचय पीछे मिलेगा।

दुभाषिये ने तीर फेंका—"देखो बाई, माननीय पूछ रहे हैं कि यदि वे वहाँ आयें, तो उन्हें कैसे पता लगेगा कि यह घर तुम्हारा है?"

वेश्या इस प्रश्न में निहित मान से नम्र और शरमीली बन गई। उसने दृष्टि झुका ली और आकर्षक नयनों और मीठे स्वर में उत्तर दिया—"माननीय से कहिए कि मेरा घर खोजने में जरा भी देर नहीं लगेगी। खिड़की में मैंने तोते का पिंजरा टाँग रखा है, इससे तुरन्त पता लग जाएगा।"

मैं भूलाभाई के चेम्बर में शिक्षा लेने लगा। लगभग बारह महीनों के बाद उन्हें मालूम हुआ कि यह लड़का उनके पास से चले जाने योग्य नहीं है। धीरे-धीरे मैं उनकी मदद करने के जो प्रयत्न करता, वे भी उनके लिए सहायक सिद्ध होने लगे। भूलाभाई और उनकी पत्नी इच्छा बहन ने मुझे अपना लिया।

धारा-शास्त्री के रूप में भूलाभाई की विशिष्टताओं में मुख्य थीं उनका अथक परिश्रम, पृथक्करण-शक्ति और न्यायाधीश का मन जीत लेने का कौशल। सवेरे से लेकर बड़ी रात तक वे लगातार परिश्रम कर सकते थे, घंटों तक बोल सकते थे और फिर तुरन्त परेशानी में डालने वाले प्रश्नों की ओर भी ध्यान दे सकते थे। रात को कभी-कभी दो बजे सोते। फिर भी सवेरे स्वस्थता से उठकर काम आरम्भ कर देते थे। खाने पर नियंत्रण रखते थे, परन्तु इच्छा होने पर सभी कुछ खा सकते थे। व्यायाम की ज़रूरत नहीं थी। परन्तु छुट्टियों में जब बाहर जाते तब रोज़ मीलों पैदल चलते थे।

उनकी बुद्धि का मुख्य लक्षण था सूक्ष्म पृथक्करण की शक्ति। १९१५ में हमारा निजी सम्बन्ध बढ़ा। इसके बाद इच्छा बहन और भूलाभाई रोज शाम को अपनी गाड़ी में मुझे रायल ओपेरा हाउस तक छोड़ जाते। अनेक बार मैं उनके घर भी जाता, भोजन करता और फिर हम किसी उलझन-भरे केस के विषय पर बैठकर बातें करते। वे पान चबाते हुए सोफे पर बैठते और मैं सामने कुरसी पर काग़ज़ लेकर बैठ

जाता । वे मुझसे सवाल करते जाते और 'नही'''नही' '' बोलते माथे पर बल डालते, जरा-जरा बात मे अधीर होते, एक ही अभिप्राय को कभी किसी प्रकार गठित करते, कभी किसी प्रकार करते। कभी एक पुस्तक मँगाते और कभी दूसरी तलाश करते। पृथक्करण करते-करते उस अभिप्राय को नया और स्पष्ट स्वरूप प्रदान करते।

"मुशी काका, अब यह हो गया ठीक।"

और वह इस्तगासा, जब दूसरे दिन लिख डालते या कोर्ट मे उपस्थित करते, तब बिलकुल स्पष्ट हो जाता था।

इस मानसिक कसरत की सूक्ष्मतम और चपल प्रक्रियाओ के मुझे दर्शन हुए, और उस दर्शन से मुझे अपनी अशक्तियो का भान हुआ। इस शक्ति के कारण भूलाभाई अपने केस मे प्रतिपादन करने वाले इस्तगासो की अपेक्षा विपक्षियो के मुद्दे की ओर पहले देखते थे, फलस्वरूप विपक्षी की ओर से कदाचित् ही ऐसा मुद्दा प्रकट होता था जिसका जवाब उनके पास तैयार न हो।

भूलाभाई की स्वाभाविक कथन-शक्ति शब्द-वैभव पर निर्मित थी। जब वे बोलने के लिए खडे होते, तब शब्दो का स्रोत बहने लगता था। उसमे व्याकरण के दोष होते, सामान्यतया क्रिया-पद आने से पहले दूसरा वाक्य शुरू हो जाता; परन्तु जब बोलना आरम्भ करते, तब धीरे-धीरे वाक्य घोटते-घोटते उनकी शक्ति स्थिर हो जाती, उस पर पृथक्करण-शक्ति काबू पा लेती और फिर उनकी वकालत चमक उठती।

उनकी कथन-शक्ति की अपेक्षा उनकी यह देखने की दृष्टि अद्भुत थी कि कौनसा मनुष्य किस ढग से बोलने से उनका कथन स्वीकार करेगा। और परिणामस्वरूप दस-पन्द्रह मिनट मे जो पानी पिलाते, उसे पीने के लिए न्यायाधीश आतुर हो उठता था। परन्तु अनेक बार विपक्षी मे इस प्रकार की सरक्षक-वृत्ति उत्पन्न हो जाती थी कि कही वह भूलाभाई की चतुराई में न फँस जाए। 'भूलो बनावी जशे' (भूलाभाई बना लेंगे) यह वाक्य अनेक बार पारसी सालिसिटरो के मुख से निकलता।

१६२२ के पश्चात् उनकी वकालत की पद्धति मे एकदम परिवर्तन हो गया। सिद्धहस्त धाराशास्त्री के उभरते हुए आत्मविश्वास से उसमे अनेक भिन्न लक्षण पैदा हो गए। वे उपस्थित होते, कि गर्जन-तर्जन शुरू हो जाता। न्यायाधीश, विपक्षी एडवोकेट और साक्षी को कुचल डालने की उनमे प्रबल इच्छा दीख पडती। उनसे सब दग हो जाते। परन्तु पुरानी पद्धति का चमत्कार इसमे न रहा।

उनकी दावा-अरज़ियो, जवाब और सबूतो की ढेर-सी कच्ची लिखाइयाँ मैं तैयार करता, और उनमे से अनेक मेरे लिए भी उपयोगी सिद्ध होती रही। उनकी ब्रीफो का सारांश भी मैं निकालता, यद्यपि भूलाभाई लिखित साराश को अवलम्बन न मानकर कुछ तारीखें लिख रखते और बाकी जानकारी के लिए स्मरण-शक्ति पर निर्भर रहते थे।

१६१६ के पश्चात् तो हमारा सम्बन्ध प्रगाढ़ हो गया। मुझे वे परिवार का व्यक्ति समझने लगे। इच्छा बहन लक्ष्मी को लडकी की तरह योग्य बनाने लगी। उनके साथ घूमने जाना, नाटक देखना, भोजन करना, यह तो मेरा प्राय हमेशा का कार्यक्रम बन गया। सद्भाव से जो उनकी बात सुने, ऐसे मनुष्य की भूलाभाई को हमेशा भूख रहती थी, उस भूख को मैंने सन्तुष्ट किया। इन वर्षों मे मैं उनका शिष्य और भक्त दोनों बन गया।

जमशेद कागा भूलाभाई के सच्चे प्रतिस्पर्धी थे। उनका और मेरा परिचय १६२२ के पश्चात् हुआ, इसलिए इस विषय के सस्मरण यहाँ दिये हुए समय के बाद के हैं।

कागा रोज़ शाम को मान्जिनी के रेस्तराँ मे जाकर बैठा करते। उनका यह नियम बन गया था कि जो कोई यहाँ मिलने या ब्रीफ़ देने आता, उसे उनका आतिथ्य अवश्य स्वीकार करना पड़ता था। भूलाभाई अनेक बार साढे सात बजे के करीब मान्जिनी मे कागा के साथ यह निश्चय करने के लिए जाया करते थे कि किस काम का प्रबन्ध किस प्रकार किया जाए। उस समय मैं भी उनके साथ ही होता था।

भूलाभाई के निकट-सहवास मे उनके स्वभाव के भिन्न-भिन्न पहलुओ से निकलते रगो को मैं प्रशसा-मुग्ध होकर देखा करता। मै उनके सान्निध्य से यूरोपीयन सस्कृति के अनेक अगो के पाठ पढने लगा। उनकी अनेक विशेषताएँ और दृष्टि-बिन्दु अनजाने मे ही मुझ पर अधिकार जमाते जा रहे थे।

आठ

यूरोपीय सभ्यता का एक मुख्य लक्षण शराब पीना है। इसके बिना अतिथि का सत्कार सत्कार ही नही माना जाता, गृहस्थ को गृहस्थ मे स्थान नही प्राप्त होता, रँगीलापन सिद्ध नही होता। यदि आप इसे नही पीते तो आप 'Jolly good Fellow' हरगिज़ नही है, कजूस, नालायक, असभ्य और पढे-लिखे पशु मे ही आपकी गिनती हो सकती है।

बम्बई के पारसियो ने और पाश्चात्य सभ्यता के पक्षपाती हिन्दुओ ने शराब के प्रति इस दृष्टि को अच्छी तरह पोषण दिया है। जहा एक बार यह दृष्टि पनपी कि फिर शराब के प्रति अप्रियता दूर हो जाती है, और वह निर्दोष, आनन्द प्राप्त करने और दिल बहलाने का जरूरी साधन बन जाती है। उसे पीना फिर किसी प्रकार का पाप या अपराध नही माना जाता। शराब जीवन के उल्लास का केन्द्र बन जाती है। पाश्चात्य लोगो के जीवन के ज्यादातर सम्बन्ध शराब पीने और पिलाने की विधियो पर निर्मित है। हमारे 'वॉर' के भोजन मे इसका माहात्म्य ब्रह्मभोज के मोदक से भी विशेष है।

मान्जिनी क्लब मे जाते रहने से पाश्चात्य-सस्कृति की इस महाविधि के दर्शन करने का मुझे अवसर मिला। मै ब्राह्मण का लडका, शराब को मैंने कभी छुआ तक नही था। जीवन-भर भावनाशीलता को धर्म माना था। जिसके सेवन को बचपन से अधम माना था, उस अपरिचित वस्तु का सेवन करने वाले मित्रो को देखकर मुझे रज हुआ था। परन्तु मेरे हृदय मे पाश्चात्य सभ्यता ने घर कर लिया था। मुझे भी पश्चिमी

संस्कार प्रिय लगने लगे और आर्य संस्कृति के निषेध संकुचित मनोदशा के लक्षण प्रतीत होने लगे। कुछ-कुछ यह भी खयाल हुआ कि यदि मेरे आचार-विचार एडवोकेट ओ०एम० को शोभा देने वाले न हुए, तो प्रतिष्ठा नही मिलेगी।

जब मैं मान्जिनी क्लब में जाता, तब 'कुछ' लेने के लिए ज़रूर दबाव डाला जाता। एक-दो मित्र मज़ाक भी करते। शुरू मे मैं लेमन, रेस्पबेरी या ऐसी कोई चीज माँग लेता था। परन्तु मेरे मित्र पाश्चात्य सभ्यता के पुजारी थे। उनमे दूसरे को भ्रष्ट करने का उत्साह था। उस सभ्यता की कंठी बाँधने के लिए मुझ पर हास्य, उपहास और कटाक्ष, सबका प्रयोग होता था। एक दिन मैंने दो चम्मच 'काकटेल' पिया। उसके स्वाद के विषय मे मैंने 'भयंकर' शब्द का इस्तेमाल किया। अनेक पारसी मित्र अभी तक उसकी याद दिलाते है।

पाश्चात्य सभ्यता को मैंने इस प्रकार अपना तो लिया, पर उससे मुझे जरा भी आनन्द न हुआ। बहुत दिन तक मन मे दुविधा होती रही। 'मैं अधम होता जा रहा हूँ, मुझे शराब पीनी पडी,' इस प्रकार मैंने डायरी मे लिखा। परन्तु उस समय मुझमे इस दुनिया से दूर हो जाने की हिम्मत नही थी। सुरापान को मुझे शिष्टता का लक्षण मानकर अपना लिया। जब कोई जोर डालता, तब दो चम्मच ले लेता। परन्तु आर्य संस्कृति ने तो इस मौज की आड मे शरम की दीवार खडी कर रखी थी। शराब पीना हो तो पी ले, परन्तु पीने वाला हमेशा चोरी-चुपके से शरमाकर पिये। अब मैं इस दीवार से बाहर कूद गया। शराब पीने और पिलाने को मैंने गृहस्थ के लक्षण के रूप मे स्वीकार किया।

हाईकोर्ट ओ० एस० के 'बॉर' का वातावरण उस समय पारसी निश्चित करते थे। माँस-भक्षण भी होशियारी का लक्षण माना जाता था। तुम 'मीट' (माँस) नही खाते, तो स्वराज्य कैसे लोगे, यह रोज सुनना पड़ता था। 'चिकन (मुर्गी) के बिना ताकत नही आ सकती। इसे

तो कमजोर पेट भी हजम कर सकता है।' जहाँ अग्रेजी ढग का खाना होता, वहाँ मित्रो से मुझे अनेक बार यह सीख सुनने को मिली है। यह सब मजाक मे कहा जाता था, परन्तु इसके पीछे हमेशा यह ध्वनि होती थी कि जब तक साहबी खानपान नही सीख लेते तब तक तुम सच्चे बैरिस्टर नही हो सकते।

माँस-भक्षण करने से मैंने इनकार किया, परन्तु कही मेरी पाश्चात्य सभ्यता मे खामी न रह जाय, इसलिए मैंने मुर्गी खाने वाले दो मित्रो के बीच बैठकर शाक-भाजी खाने की आदत डाली।

चिमनभाई, जो कि भडौंची पगडी पहना करते थे, जब बडे एडवोकेट हो गए, तब पगडी हटाकर हैट पहनने लगे। उनके पद-चिह्नो पर भूलाभाई ने भी पगडी की जगह हैट पहनना शुरू किया। उनके बाद मैंने भी हैट धारण किया। १६१६ से तो मै 'एसक्विथ एण्ड लार्ड' की अग्रेजी दरजियो की दूकान के सिवा और कही से शायद ही कपडे खरीदता था। इस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता के बाह्य अगो को मैंने अपना लिया।

अनेक मित्रो की ओर से मुझे ब्रिज सीखने की सलाह मिली और अवसर भी प्राप्त हुआ। अग्रेजी सभ्यता मे 'Drinks' और 'Bridge' प्रतिष्ठाजनक हैं, परन्तु इन शब्दो के भारतीय नाम 'शराब' और 'जुआ' को हमारे सस्कारो मे दुर्व्यसन माना गया।

मैंने ब्रिज सीखना अस्वीकार किया।

नौ

भूलाभाई के परिचय मे मैंने बहुत-कुछ सीखा और अनेक के परिचय मे आया। यदि मैं भूलाभाई के परिचय मे न आया होता तो वास्तविक बम्बई और उसके जीवन के अनेक स्वरूपों को भी कभी न जान सका होता।

१६१७ मे विख्यात सुनार नरोत्तमदास भाउ की स्पर्धा मे किसी

दूसरे ने 'सोनी (सुनार) नरोत्तमदास भानजी' के नाम से दूकान खोली। नरोत्तमदास भाउ ने अपने व्यवसाय मे व्यवहृत होने वाले नाम के सदृश नाम न व्यवहार करने के विषय मे मनाही हुक्म प्राप्त करने के लिए नरोत्तमदास भानजी पर दावा किया। दावा चलने तक मनाही हुक्म दिया जाए, ऐसी अरजी जब भूलाभाई वादी की ओर से पेश कर रहे थे, तब मैं पास ही बैठा था।

न्यायमूर्ति काजीजी ने एक कानून का सवाल उठाया।

भूलाभाई ने मुझसे कहा, "मुन्शी काका, लाइब्रेरी मे जाकर इसे रद्द करने वाला कोई फैसला हो तो ले आओ। अभी मैं घण्टे तक तो बोलूंगा ही।"

मैं लाइब्रेरी मे गया, केस देखे और सौभाग्य से मुझे मतलब का केस मिल गया। मैं कोर्ट मे वापस गया। भूलाभाई ने फैसला पढकर सुनाया। मेसर्स अरदेशर होरमसजी दीनशावाला शावकशा नरीमान इस काम मे वादी की ओर से सालिसिटर थे। दूसरे दिन वे लाइब्रेरी मे मेरे पास आये।

"मि० मेहता, मेरी ब्रीफ मिल गई ?"

"मैं मेहता नही हूँ और मुझे आपकी ब्रीफ नही मिली," मैने कहा।

"पर तुम्ही ने कल भूलाभाई को केस लाकर दिया था न ? तुम्हारा नाम के० एम० मेहता नही ?"

नरीमान के दिमाग मे यह बात नही घुसी कि उन्होने भूल की होगी।

मैंने कहा, "केस मैंने लाकर दिया था, यह बात ठीक है, पर मेरा नाम के० एम० मुन्शी है।"

"भाई शकर सालिसिटर के साथ वाला ऑफिस तुम्हारा ही है न ?"

"नही, वहाँ एम० जे० मेहता का ऑफिस है।"

श्वास का धुआँ निकालते हुए नरीमान मेहता के पास जा पहुँचे। ब्रीफ वापस ले ली, उस पर मेरा नाम लिख दिया और आज्ञा दी—"Do your best"

मुझे इस अपरिचित बडे सालिसिटर से यह पहली ब्रीफ मिली थी। उसमे नरोत्तमदास भाउ के मुकदमे मे उपस्थित होने वाले अनेक कानूनी सवाल पूछे गए थे। मैंने बहुत दिन तक लाइब्रेरी मे बैठकर उस विषय पर विस्तार से अपना अभिप्राय दिया।

जब मुकदमा सुनवाई पर आया, तक नरीमान ने नौ के करीब एडवोकेट रोके हुए थे, उनमे अंतिम नम्बर का एडवोकेट मैं था। ब्रीफ पर चार गिनी प्रतिदिन की लिखी हुई थी। मेरी समझ मे रोज के साठ रुपये बहुत थे। यह मुकदमा बहुत दिन तक चला और अन्त मे फैसला हुआ हमारे पक्ष मे।

यह पहला ही ऐसा बडा दावा था, जिसमे अपरिचित स.लिसिटर ने मुझे रोका था। उसकी फीस से मैंने अपने घर के लिए पहली अलमारी और पहला आभूषण खरीदा।

दस

१९१७ के मई मास मे भूलाभाई और इंच्छा बहन मुझे दार्जिलिंग ले गए। उनका इकलौता पुत्र धीरूभाई और छोटूभाई सालिसिटर भी साथ थे। रास्ते मे जब कलकत्ता उतरे, तब सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के दर्शन कर आए।

छोटूभाई, धीरू के काका थे, इसलिए सब छोटू काका कहते थे। मुझे लगभग एक महीना उनके साथ रहने का सौभाग्य मिला।

छोटू काका अग्रगण्य सालिसिटर थे। मुझे उनके हृदय की सुकुमारता, सदैव आर्द्र स्नेहशीलता और गहरी रसिकता का परिचय मिला। जब सब सो जाते, तब हम लोग मेघदूत, गीत-गोविन्द और अमरूश तक पढते। जब हम साथ-साथ घूमने जाते, तब रस का आदान-प्रदान करते। 'वेरनी वसूलात' (वैर का बदला) के प्रति उन्हें बड़ा आकर्षण था।

उनकी पत्नी-भक्ति मे जो विह्वलता थी, वैसी मैंने और किसी हिन्दू पति मे नही देखी। अनेक बार, जब अपने कमरे मे हम अकेले बैठते, तब

'पाली बहन' के विषय मे अपनी प्रणय-विह्वलता की कथा जो वे मद-भरी आँखो से कहते, मैं उसे भूल नही सका हूँ। जब वे स्वर्गवासी हुए, तब तक हम प्रगाढ स्नेह-सम्बन्ध मे बँधे रहे। व्यवसाय के विषय मे भी मैं उनका और उनके हिस्सेदारो का विश्वासपात्र बन गया।

उस समय दार्जिलिंग मे सर जगदीशचन्द्र बोस ने हम लोगो को चाय पीने के लिए निमंत्रित किया और भारत के अग्रगण्य वैज्ञानिक के योग्य पूज्य भाव मन मे लेकर हम उनके यहाँ गये। लेडी बोस ने हमारा स्वागत किया और अन्य दस-पन्द्रह स्त्री-पुरुषों के साथ हमे बिठाया। इसके बाद बीच का दरवाज़ा खुला। ब्रीचिज पहने हुए नेपोलियन की धुँधली आकृति के समान सर जगदीश निकले और सबसे मिले।

वे हम लोगो को अपनी प्रयोगशाला दिखलाने ले गए। वहाँ उनके पट्टशिष्य बोशीसेन (आजकल अलमोडा मे विवेकानन्द रसशाला के सचालक) ने हँसते, रोते, शराब पीकर लडखडाते हुए मनुष्य के समान पौधो के भाव सूक्ष्मदर्शक यन्त्रो द्वारा हमे दिखलाए।

सर जगदीश हमे एक वृक्ष के पास ले गए और उसके नीचे रखी बेंच दिखलाई—"इस वृक्ष के नीचे बैठकर ऋषियो की विश्व-बंधुत्व की भावना का स्मरण करते हुए मुझे सत्य का ज्ञान हुआ और यह खोज करने का मार्ग मिला।"

छोटू काका और मैं श्रद्धा-भाव से गद्गद् होकर घर आये। परन्तु १९१९ मे जब हम दार्जिलिंग गये तो पुनः जाकर चाय पी, शराब पिये हुए पौधे देखे और 'बोधिवृक्ष' की कीर्ति सुनी। तब महत्ता और कला के बीच का भेद मालूम हुआ और मुझे आघात पहुँचा।

उन्ही दिनो बाद मे शकरलाल बैंकर वहाँ आये। वे अधिकतर भूला-भाई के साथ घूमते, इससे मुझे और छोटू काका को साथ फिरने का बहुत समय मिल जाता। शंकरलाल ने एक नया शिगूफा छोडा। जब हम बगालियो से मिलते, तब उनमें से कोई-न-कोई दुनिया का कुछ-न-कुछ महान् कार्य कर रहा है, यह हमसे कहा जाता। 'ये दुनिया के प्रखर

अर्थ-शास्त्री हैं,' 'ये जगद्विख्यात इतिहासकार है,' 'ये बगाल के कवि शिरोमणि हैं,' आदि।

धीरे-धीरे, जिस बगाली से हम मिलते, वह फ्रास और रूस के विप्लव के विषय मे मानपूर्वक मेरे साथ बातें करता और सवाल पूछता। अपने ज्ञान पर होने वाले इन अचानक आक्रमणो से मैं उलझन मे पड गया। एक बार भोजन करते-करते मैंने आश्चर्य प्रकट किया कि फ्रास और रूस के विप्लव के विषय मे ये लोग मुझसे किसलिए प्रश्न किया करते है ? शकरलाल ने इसका खुलासा किया—

"यदि बगाल मे दुनिया के बडे-से-बड़े विद्वान रहते हैं, तो क्या बबई मे नही रहते ? जो मुझे मिलता है, उससे मैं कहता हूँ कि भूला-भाई दुनिया के श्रेष्ठ धाराशास्त्री है और मुन्शी फ्रास और रूस के विप्लव के भारत मे सबसे बडे अध्ययनकर्ता हैं।"

शकरलाल द्वारा प्राप्त हुई इस कीर्ति को, जब कोई उन विप्लवों की चर्चा छेडता, तब उसे किसी भी तरह उडा देने की अपनी चपलता से मैंने शविन-भर जैसे-तैसे सुरक्षित रखा।

ससार के रमणीक स्थानो मे भी दार्जिलिंग अद्भुत है। उसके स्वच्छ मार्ग, सुगठित बंगले, गुलाबो से लदी चारो ओर फैली हुई बाडे, प्रशान्त परन्तु चेतनप्रद हवा और क्षितिज पर निर्मित हिमालय के शिखरो की मेखला—इन सबको दीप्त करती सनातन हिम से भव्य कचन-गगा की शिखरावलि—मानो भगवान् शकर लेटे हुए ससार को अपने स्मित से ही कल्याणमय कर रहे हो। मैं सारा दिन कालिदास के 'कुमारसभव' मे से 'अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज.' की रटना करता रहता था।

हिमालय ने अपने स्थूल और सूक्ष्म जीवन को किस प्रकार स्वपोषित किया, विकसित किया और अभेद्य बनाया, इसका कुछ ज्ञान हुआ। हिमालय शंकर का आवास है। ये गिरिजा के पिता है, और शंकर की जटा से निकलती पतित-पावनी गगा के भी पिता हैं।

हिमालय शभु की स्थूल देह है, शभु हिमालय के अधिष्ठाता हैं. और इन दोनो के सकलन से जगदुद्धारिणी आर्यत्व की भावना-नदी बहती है। ब.द मे विकसित हुई मेरी इस विचारधारा के मूल इस दार्जिलिग के दर्शन मे है।

१६१६ मे जब हम फिर दार्जिलिंग आये, तब भूलाभाई, मोतीलाल सीतलवाड और मैं, तीनो थे। परन्तु इच्छा बहन की सार-सँभाल और छोटू काका की रसिकता के बिना यह छुट्टी पहले की तरह स्मरणीय न हो सकी।

१६१६ मे मैंने दार्जिलिग मे गुरुदक्षिणा दी, जो गुरु को न जाने कब तक सँभाले रखनी पडी।

भूलाभाई यह मानते थे कि दोपहर मे भोजन के बाद सो जाने से फेफडा खराब होता है और मैं बचपन से ही यह मानता था कि दोपहर मे भोजन के बाद रीढ की हड्डी सीधा रखने से आयु बढती है। परिणाम-स्वरूप जब हम लोग भोजन कर चुकते, तब मैं बिस्तर मैं सोने का प्रयत्न करता और भूलाभाई मुझे जगाए रखने के प्रयत्न करते। वे मेरी खाट पर आकर बैठ जाते और कभी-कभी हमारी कुश्ती भी हो जाती। एक दिन हम लोगो ने बडा तूफान मचाया। मेरी छाती पर उनका भार इस प्रकार आ पडा कि मेरा दम घुटने लगा। अनजाने मे उनकी एक उँगली मेरे हाथ मे आ गई और किसी भी प्रकार उनका भार दूर हटाने की स्वाभाविक सरक्षण-वृत्ति से मैंने उनकी उँगली मरोड़ डाली। उन्होने अधिक-से-अधिक ज़ोर डाला। अन्त मैं मैंने इतने ज़ोर से उँगली मरोडी कि उनकी हड्डी नही टूटी, यही आश्चर्य हुआ।

वेदना के मारे भूलाभाई उठ गए, मेरा दम घुटने से बच गया और वर्षों तक उनकी उस उँगली ने उन्हें दु ख दिया। ऐसी विचित्र थी मेरी दी हुई गुरु-दक्षिणा।

ग्यारह

बम्बई के हाईकोर्ट मे जॉन डकन इन्वेरारिटी का नाम पुराण के

महापुरुष के समान है—सदा स्मरणीय और पूजनीय नही तो प्रशस्य तो अवश्य ही। बम्बई के आज के अनेक होशियार धारा-शास्त्री जब पैदा भी नही हुए थे, तब बम्बई के धारा-शास्त्रियो के मडल के वे नेता थे।

जब सर नार्मन मेक्लाउड (जो पीछे मुख्य न्यायाधीश बन गए) बैरिस्टर हुए, तब उनके पिता ने मौसेरे भाई इन्वेरारिटी को बुलाकर कहा, "नार्मन को बम्बई ले जाओ, इसे अपने हाथ के नीचे रखकर शिक्षित करो।"

"यह मुझसे कैसे होगा ?" जानभाई ने उत्तर दिया, "मैं तो बुड्ढा हो गया। थोड़े समय मे व्यवसाय से अलग हो जाऊँगा। मेरे साथ नार्मन को भेजने का क्या फायदा ?"

परन्तु बुड्ढे ने ज़िद की। इन्वेरारिटी मेक्लाउड को बम्बई ले आए। मेक्लाउड ने वकालत की, नौकरी की, न्यायाधीश का पद प्राप्त किया, मुख्य न्यायाधीश की पदवी पाई, परन्तु जानभाई तब तक भी वकालत करते ही रहे। १९२५ मे मेक्लाउड ने जब मुख्य न्यायाधीश का पद छोडा, उसके कुछ महीनो पहले वे गुज़र गए।

इन्वेरारिटी ने सरलता से एकाध करोड रुपया इकट्ठा किया था, परन्तु भायखला क्लब की एक छोटी-सी कोठरी मे वे पड़े रहते। अपनी पत्नी को उन्होंने कभी हिन्दुस्तान मे बुलाया ही नही। क्लब मे कोई उन्हें चाय का प्याला देता, तो वे चार आने पहले देते, फिर प्याला पकडते।

हिन्दुस्तान मे उन्होने किसी के साथ स्नेह-सम्बन्ध जोडा हो, ऐसा स्मरण नही। व्यवसाय के सम्बन्ध मे वे दूसरो के ससर्ग मे आते थे, बस इतना ही उनका जगत् के साथ सम्बन्ध था। कानून के क्षेत्र मे बम्बई मे सर्वोपरि होना ही उनका ध्येय था। मानव-हृदय के प्रति उनमे पूर्णतया तिरस्कार के भाव थे। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और मानव-निर्बलता के अगाध ज्ञान से वे कही भी श्रेष्ठ स्थान पा सकते थे, परन्तु छः महीने

बम्बई मे वकालत करना, पाँच महीने स्कॉटलैण्ड मे शिकार खेलना, एक महीना भारत मे आने पर सिंह का शिकार करना, इनके सिवाय जीवन मे उन्हे और कोई आकाक्षा नही थी।

उनकी वकालत मे जादू की तरह चमत्कार था। उनकी स्मरण-शक्ति असीम और सतेज थी। कोई वृत्तान्त सुनाने की उनमे ऐसी कला थी कि केवल उसके सकलन-मात्र से ही वे उसे मनचाहा-स्वरूप प्रदान कर सकते थे।

एक मुकदमा, जिसमे मैं स्ट्रैंगमेन के साथ था, हमे बडा कमजोर लग रहा था। हमारा दावा यह था—मकान खराब अवस्था मे होने से किरायेदार उसे खाली कर दें। दूसरे दिन हमारे साथ इन्वेरारिटी को रोका गया और दावे वाली मल्कियत देखने मैं उनके साथ गया। दो घटे तक उन्होने सारे मकान के कमरो की जाँच की और अगले दिन ऐसा मालूम होने लगा कि हमारी विरोधी परिस्थिति हमारे अनुकूल हो रही है। वे कोर्ट मे आये, विवरण फिर उपस्थित किये और पिछले दिन जो मुकदमा खराब था, वह अच्छा हो गया।

धारा-शास्त्र उनके जीवन की ज्योति था। कानून के सिद्धान्तों का उनका ज्ञान विशुद्ध था। अँग्रेजी और हिन्दुस्तानी फैसलो के सारे हवाले वे अन्त तक लगातार पढते थे। मुकदमा चलते समय अधिकतर एक ही दृढ आधार लेकर वे आते थे। उनकी जाँच-पडताल के ढग मे नाटकीय रूप नही था। कदाचित् ही वे ऊँची आवाज निकालते थे। उनकी आँखें हमेशा बाघ की तरह स्थिर और तेजपूर्ण होती। वे न हाथ पटकते थे, न गुस्सा करते थे, छोटे प्रश्नो को धारा-प्रवाह, बन्दूक की गोली की तरह छोड़ देते और साक्षी के मुख से अनजाने मे ही इच्छित बात निकलवा लेते थे।

वे कभी विवरण लिखा नही करते थे। वे कहते थे—'जितना समय लिखने मे बिताते हो, उतना समय स्मरण-शक्ति को तीव्र करने मे लगाओ तो अधिक लाभ हो।' मुकदमे मे अनेक मुद्दे होते हैं। उनमे से एक ही

मुख्य मुद्दे पर वे अपनी शक्ति को एकाग्र करते थे। एक दिन नये विद्यार्थी के उत्साह से मैं उनसे वे अनेक मुद्दे कहने लगा, जो मैंने खोज रखे थे। "प्रत्येक मुकदमे मे दस अच्छे मुद्दे होते हैं, उनमे से एक तुम अपने लिए रखो और बाकी विपक्ष वालो को अपने-आप खोज निकालने दो," उन्होने कहा।

नये धारा-शास्त्रियो को क्या करना चाहिए, एक बार उन्होंने इस विषय मे सलाह दी थी।

"Stand up, speak up, shut up "[1]

उनकी विनोद-वृत्ति स्थिर थी। उनके व्यग्य करने पर सब हँस पडते, पर उनकी मूँछ का एक बाल तक न हिलता था।

न्यायमूर्ति केण्डी स्वभाव के बडे कठोर थे। उनके स्वभाव की अनेक बातें कोर्ट मे प्रचलित हैं। वे मराठी-गुजराती अच्छी तरह बोलते थे। इन्वेरारिटी ने तो यह सकल्प किया हुआ था कि कोई देशी भाषा बोली ही न जाए।

न्यायाधीश केण्डी के हाईकोर्ट मे नियुक्त होने के कुछ दिन बाद इन्वेरारिटी उनके सामने उपस्थित हुए और मुकदमे के विवरण कहने लगे—

"फिर गोरडनडोस प्रतिवादी से मिले।"

"मि० इन्वेरारिटी, इतने वर्ष हिन्दुस्तान मे रहने पर भी आप देसी नामो का ठीक उच्चारण नही कर सकते। गोरडनडोस नही, गोवर्धन-दास।"

"माननीय की जैसी इच्छा।"

इन्वेरारिटी ने आगे चलाया—"मेरे कहने के अनुसार गोरडनडोस और माननीय के कथनानुसार गोवर्धनदास प्रतिवादी से मिले। मेरे कहने के अनुसार गोरडनडोस और माननीय के कथनानुसार गोवर्धनदास उसके साथ इस शर्त के विषय में बात करने लगे। फिर मेरे कहने के अनुसार

१. तनकर खडे रहो, स्पष्ट बोलो, चुप हो जाओ।

गोरडनडोस और माननीय के कथनानुसार गोवर्धनदास ने शर्तें मजूर…"

"मि० इन्वेरारिटी, यह क्या तमाशा है ?" अधीर होकर न्यायाधीश ने कहा, "दो मे से एक नाम बोलिये—गोरडनडोस या गोवर्धनदास।"

"माननीय की जैसी इच्छा।" स्वस्थता से इन्वेरारिटी ने कहा, "मैं तो गोरडनडोस कहना ही पसन्द करता हूँ। गोरडनडोस ने फिर शर्तें कीं…"

सारा कोर्ट खिलखिलाकर हँस पड़ा, पर इस विनोद करने वाले के मुख पर स्मित की सुरखी तक न आई।

बम्बई-हाईकोर्ट उन्हे भूल नही सकता। उस हाईकोर्ट मे उन्होने वकालत की और १६२५ मे यमराज भी उन्हे उसी हाईकोर्ट मे लेने के लिए आये।

बम्बई मे जब उनके शरीर को दफनाया गया, तब अजलि देने के लिए मैं भी उपस्थित था। उस समय हम सबने यह अनुभव किया कि हाईकोर्ट जैसा था, वैसा अब नही रहेगा।

इन्वेरारिटी महान् धाराशास्त्री, ब्रिज के दबग खिलाडी और सिंह के बहादुर शिकारी थे। पैसे बनाने वाले भी जबरदस्त थे। ये ही थी उनके मनुष्यत्व की सीमाएँ। कौन कहेगा कि ये सीमाएँ अत्यन्त सँकरी न थी! भारत को तो उन्होने पैसे लूटने का क्षेत्र समझा था। यहाँ उन्होने सारी जिन्दगी बिताई, पर इसके प्रति कभी जिम्मेवारी नही दिखलाई और यहाँ के लोगो के प्रति, उनकी भाषा और सभ्यता के प्रति उनका तिरस्कार कायम रहा।

बारह

इन्वेरारिटी के पश्चात् बम्बई-हाईकोर्ट मे महान् धाराशास्त्री थे चिमनभाई—चिमनलाल हरिलाल सीतलवाड। इस समय के अन्तर्गत उनके प्रति संचित किये हुए सम्मान और उनके समागम का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। 'हरिलाल सदरेमिन' के नाम से परिचित होने वाले

वे ब्रह्मक्षत्रिय भडौच के ही थे। उनकी हवेली अभी वहाँ है और वे अधु-भाई काका के इष्ट मित्र थे। उनके पुत्र थे चिमनभाई। उनको मैंने बिलकुल बचपन मे मुन्शी के टेकरे पर अधुभाई काका से मिलने के लिए आते देखा था, ऐसा स्मरण है। और जब मैं बम्बई आया, तब हमारी भडौंची पगडी पहने हुए, सर फिरोज शा मेहता के इस अनुयायी और अपने परिवार के सम्बन्धी को दूर से देख-देखकर मै गर्वित हुआ करता था। जरूरत पडने पर उनका सहारा मिलेगा, ऐसा एक विश्वास भी मेरे मन में पैदा हो रहा था।

पास होने के थोडे दिन बाद मैं उनसे मिलने गया। उस समय उनका व्यवहार कठोर, तटस्थ और अनादरपूर्ण-सा मालूम हुआ। भड़ौंच के उनके स्वजातीय लोग उस समय उन्हे बडा गर्विष्ठ समझते थे। उनके लिए कहा जाता था कि मिलने आने वालो को वे केवल तीन प्रश्न पूछ कर टरका दिया करते थे—"कब आये? कैसे हो? कब जाओगे?" मुझे भी उन्होने अधुभाई काका की पुत्री और दौहित्र की खबर पूछकर विदा किया।

कुछ महीनो बाद मुझे मालूम हुआ कि उनका ऐसा व्यवहार अपरि-चितो के लिए ही था। अब तो वर्षों से उनके हृदय मे मुझे स्थान मिला हुआ है और उनके बड़े पुत्र मोतीलाल की और मेरी मित्रता द्वारा हम तीन पीढियों के सम्बन्ध सुरक्षित रख रहे हैं।

चिमनभाई ने १८८० मे, चौदहवें वर्ष मे मैट्रिक की परीक्षा पास करके, अपनी तेजस्वी कार्य-कुशलता आरम्भ की। १८८४ मे बी०ए० हुए और १८८७ मे एल०-एल०बी०। बीच मे एक-दो जगह नौकरी कर आये, और फिर हाईकोर्ट की एपेलेट साइड पर वकालत आरम्भ की।

तलवार की धार के समान चातुर्य, स्पष्टदर्शी-बुद्धि, न्यायवादी वाग्पटुता और अटूट आत्म-विश्वास से उन्होने तुरन्त अग्रस्थान पा लिया। जब वे फीरोज शा मेहता के अनुयायियों मे सम्मिलित हुए, तब दीन शा वाच्छा, इब्राहीम रहीमतुल्ला, चदावरकर आदि उनके सहयोगियो

मे थे। १८६३ में, सत्ताईसवें वर्ष मे गुजरात की म्युनिसिपैलिटियों की ओर से वे धारा-सभा मे गये। उस समय की धारा-सभा के प्रमुख गवर्नर और अनेक सदस्य बडे अग्रेज अधिकारी होते थे। वहाँ भी चिमनभाई की तेजस्विता असीम रही। उन्होने धारा-सभा मे निरन्तर प्रश्नो की झडी लगा दी। उस समय की स्वाधिकार-उन्मत्त अधिकारियो की सरकार इस युवक वकील के प्रश्नो का उत्तर देते थक गई। प्रत्येक बैठक मे तीस-तीस प्रश्न करने वाले इस सदस्य को गवर्नर लॉर्ड हेरिस ने बुलाया। वे मिलने के लिए गये।

लॉर्ड हेरिस ने गरमी दिखलाते हुए कहा, "देखिए, मि० सीतलवाड, आप हमसे इतने अधिक सवाल पूछते हैं कि सेक्रेटेरियट वहाँ तक पहुँच नही सकती। सेक्रेटेरियट को और भी बडे जरूरी काम करने होते हैं।"

सत्ताईस वर्ष के इस युवक मे क्षोभ नही था, आत्म-विश्वास और स्वाभिमान पर्याप्त थे। उन्होने चट उत्तर दिया—"मुझे खेद है, परन्तु आप यह भूल जाते हैं कि इन सवालो का जवाब देना आपका कर्तव्य है, और इसके लिए आपको बहुत अच्छा पारिश्रमिक मिलता है। आपसे सवाल पूछकर मै तो केवल लोकोपयोगी कर्तव्य करता हूँ, और वह भी बिना पारिश्रमिक के।"

लॉर्ड हेरिस की गरमी उसी समय उतर गई। उन्होंने नरम होकर माफी माँगी।

अपनी कार्य-कुशलता के आरम्भ मे एक सराफ की ओर से चिमनभाई डिस्सा कैंटोन्मेट के कोर्ट मे वकील के रूप मे उपस्थित हुए। सराफ ने एक सूबेदार मेजर को नौ हजार रुपये दिये थे। उन्हे वापस माँगने का दावा था।

जब चिमनभाई उपस्थित हुए तब यूरोपियन फौजी अफसर न्यायाधीश था। जब वह अदालत मे बैठता, तब हमेशा एक बडे कुत्ते को पास बिठाता। चिमनभाई ने मुवक्किल को साक्षी के रूप मे बुलाया और उसकी बही से कर्ज लेने की बात साबित की। प्रतिवादी के वकील

ने सूबेदार मेजर को साक्षी मे बुलाया। सूबेदार मेजर ने सौगन्ध खाकर कहा, "मुझे नौ हज़ार रुपये की सारी रकम नही दी गई और जितनी रकम दी गई थी, उसे मैंने वापस लौटा दिया है।"

चिमनभाई सूबेदार मेजर से जिरह करने के लिए खड़े हुए। न्यायाधीश ने आपत्ति की—

"महारानी सरकार के फौजी अफसर पर मैं जिरह नही करने दूँगा। इसे उसका अपमान करना कहा जाएगा।" यह कहकर उन्होने सराफ का केस बरखास्त कर दिया।

सराफ ने पालनपुर के पोलिटिकल एजेण्ट की अदालत मे अपील की और अदालत मे सूबेदार मेजर से जिरह करने की आज्ञा माँगी। जब अपील सुनवाई पर आयी, तब भी न्यायाधीश की जगह पर फौजी अफसर था, परन्तु वह जरा अधिक बुद्धिमान् था। उसने चिमनभाई को अपने चेम्बर मे बुलाया और कहा, "मि० सीतलवाड, मैं आपको जिरह करने दूँगा, परन्तु प्रतिवादी सूबेदार मेजर है, इसलिए जरा नरमी से काम लीजिएगा।"

पर चिमनभाई के जिरह करने से पहले ही सूबेदार साहब ने केस का समझौता कर लिया।

१८९७ में चिमनभाई ओरिजिनल साइड के एडवोकेट हुए। अंग्रेज़ बैरिस्टरो से भरपूर उस साइड मे इकत्तीस वर्ष की आयु के इस वकील का आगमन ज़रा धृष्टतापूर्ण था। १८९९ मे वे डाकोरजी के केस मे विलायत गये। थोड़े समय मे ही ओरिजिनल साइड मे भी चिमनभाई अग्रगण्य माने जाने लगे।

गर्विष्ठ न्यायमूर्ति केण्डी के साथ एक बार उनकी टक्कर हो गई। उक्त न्यायमूर्ति हाईकोर्ट मे आये और एक आवश्यक अरज़ी देने के लिए चिमनभाई उनके चेम्बर मे गये। न्यायाधीश उसी समय भोजन करके उठे थे और खड़े होकर सिगरेट फूँक रहे थे। ओरिजिनल साइड की शिष्टता से केण्डी अपरिचित थे। न वे स्वयं बैठे, न

चिमनभाई से बैठने के लिए कहा। चिमनभाई स्वस्थता से कुरसी पर बैठ गए।

न्यायमूर्ति ने गुस्से होकर अपमानजनक ढग से पूछा, "मै खडा हूँ, फिर आप बैठ क्यो गए ?"

आँख की एक पलक भी झपकाए बिना चिमनभाई ने निश्चिन्तता से कहा, "मुझे अफसोस है, परन्तु मैंने समझा कि आप बैठ जाएँगे। अब आप बैठ सकते हैं।"

न्यायमूर्ति केण्डी बैठ गए और अरजी सुनी।

न्यायमूर्ति द्वारा किया हुआ अपमान सहन करने के लिए चिमनभाई तैयार नही थे। उन्होने मुख्य न्यायाधीश सर लारेन्स जेन्किन्स के पास जाने का विचार किया और उस समय के अग्रगण्य धारा-शास्त्री मेक्फर्सन से इस विषय मे बात की। उसने कहा, "सीतलवाड, इसकी चिन्ता मत करो। केण्डी को कभी किसी ने सभ्यता का पालन करने का अपराध करते देखा है ?"

चिमनभाई मुख्य न्यायाधीश जेन्किन्स के पास गये और उनसे बात की। उसने केण्डी से बात की होगी, अत केण्डी ने अपने चोबदार को चिमनभाई को बुलाने के लिए भेजा। चिमनभाई ने कहा, "तुम्हारे साहब को मुझसे काम हो तो कहो कि चिट्ठी लिखकर मुझे बुलाएं।"

तुरन्त चोबदार चिट्ठी ले आया। चिमनभाई केण्डी से मिलने गये। केण्डी ने अपने व्यवहार के लिए माफी माँगी।

केन्डी के घमण्ड की बात तो उस समय भी सुनाई पडती थी, जब वे नौकरी से अलग होकर विलायत चले गए।

लन्दन मे रेलवे अफसर जिस प्रकार बन्द कॉलर का कोट पहनते है, उसी प्रकार का छोटा कोट पहनकर वे वाटरलू के स्टेशन पर ट्रेन की राह देखते घूम रहे थे। इतने मे एक फक्कड युवक मार्निंग कोट और हैट पहने वहाँ आया। उसने केण्डी को रोककर कहा, "स्टेशन-मास्टर, दूसरी गाड़ी कब आ रही है ?"

बम्बई हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायमूर्ति गौरव-भंग होकर गुस्से से देखते रहे और उग्र स्वर मे बोले—

"तुम क्या समझते हो ? मैं स्टेशन-मास्टर नही हूँ।"

उस फक्कड युवक पर इन भूतपूर्व न्यायमूर्ति के रोष का शायद ही कोई असर हुआ हो। उसने शान्ति से एक आँख की ऐनक (Monocle) आँख पर चढाई। भूतपूर्व न्यायाधीश को सिर से लेकर पैर तक निहारा और शान्त आवाज़ मे कहा, "तुम स्टेशन-मास्टर नही ? सचमुच नही ? तो फिर स्टेशन-मास्टर, जैसे क्यो दीख रहे हो ?"

भूतपूर्व न्यायमूर्ति के पद की परवाह किये बिना वह फक्कड युवक वहाँ से चला गया और केण्डी जहाँ थे, वही खडे रह गए।

चिमनभाई पहले से ही अनेक विषयो के रसिक हैं, Versatile हैं। उन्होने युवावस्था मे एक-दो अग्रेज़ी पुस्तको का गुजराती अनुवाद किया था। सर फीरोज़ शा मेहता के वे दाहिने हाथ थे—धारा-सभा मे, बम्बई की म्युनिसिपैलिटी मे और बम्बई के विश्वविद्यालय मे।

१८९७ से १९१५ तक बम्बई की धारा-सभा मे वे बम्बई-विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप मे रहे।

१९०२ से १९२१ तक म्युनिसिपैलिटी की शाला-समिति के प्रमुख रह-कर उन्होने बम्बई मे प्राथमिक शिक्षण की नीव डाली। १९१५ मे गोखले के स्थान पर धारा-सभा मे मध्यस्थ चुने गए। १९१७ मे बम्बई-विश्व-विद्यालय के वाइस-चान्सलर का पद सुशोभित किया। उस पद पर १९३० तक काम किया और उस सस्था को सुदृढ बनाया। १९१८ मे नये सुधार अमल मे लाने वाली समिति मे उन्होंने काम किया; १९१९ मे हण्टर-समिति के सदस्य बने; १९२० के अक्तूबर मे न्यायासन से निवृत्त होकर नयी मध्यस्थ धारा-सभा मे गये, १९२३ मे बम्बई-सरकार के मन्त्रि-पद पर आसीन हुए, १९१३ मे उन्होने जीवन-बीमा-कम्पनी खोलने मे सहा-यता की। १९१९ मे आग के बीमे की कम्पनी खोली। आज वे दोनों कम्पनियो के प्रमुख हैं। १९२२ के बाद हम अधिक निकट परिचय मे

आए । परन्तु वह कथा तो तभी प्रस्तुत हो सकती है, जब १६२२ के बाद की जीवन-कथा लिखी जाए ।

जब मै हाईकोर्ट मे आया, तब चिमनभाई आज से बहुत भिन्न मालूम होते थे । वे लम्बा कोट और भडौची पगडी पहनते थे । छतरी तो हमेशा ही हाथ मे रखते थे । उसे कभी खोलते थे या नही, यह बहुत कम लोग जानते हैं । अभी उन्होने यूरोपियन पोशाक पहननी शुरू नही की थी । उनकी बड़ी-बडी भरी हुई मूँछो ने अभी चार्ली चेपलिन की मूँछो का अनुकरण करना आरम्भ नही किया था । उनके सिर के बाल १६१३ मे जैसे देखे थे, आज भी वैसे ही बिलकुल काले हैं । आयु बढने पर परमेश्वर औरो के सिर बेशक सफेद कर दें, पर चिमनभाई उन्हे सफेद होने देने वाले नही थे, और न हे । चिमनभाई 'आत्मन्येवात्मना तुष्ट.' हैं । अपनी शक्ति का माप उन्हे ठीक-ठीक पता है । उनके अभि-प्राय स्पष्ट और सीधे होते हैं । उनका जीवन-क्रम अपना निश्चित किया हुआ होता है । सब अपने-आप हो जाएगा—Things will adjust themselves—यह उनका प्रिय सूत्र है । कोर्ट मे कितनी ही दौड़-भाग हो, परन्तु वे जिस प्रकार हमेशा चलते हैं, उसी प्रकार धीर-गम्भीर गति से चलते रहते हैं । चाहे न्यायाधीश उतावला हो रहा हो, पर वे अपने आशय को जिस प्रकार चाहते हैं, उसी प्रकार पेश करते हैं ।

एक बार मुख्य-न्यायाधीश मेक्लाउड ने उनसे जिस विषय पर वे बोल रहे थे, उससे भिन्न विषय पर आने के लिए कहा ।

"माननीय, जरा ठहरिए, मैं अपने क्रम के अनुसार उसी विषय पर आ रहा हूँ ।"

"परन्तु इस विषय मे आपको क्या कहना है ?" मेक्लाउड ने पूछा ।

"प्रत्येक विषय अपने क्रम के अनुसार चलेगा," कहकर चिमनभाई ने अपने सुगठित रूप मे ही अपने अभिप्राय प्रकट किये ।

मेरे देखे हुए धाराशास्त्रियो मे वास्तविक शास्त्रीय गौरव और अदालत के योग्य वाक्पटता केवल चिमनभाई मे ही थी । मूरजमल के

विरुद्ध हार्निमेन[१] की अपील मे बड़े दिनो तक उन्होने मानहानि के कानून की समीक्षा की।

हार्निमेन ने 'बाम्बे क्रानिकल' के सम्पादक के रूप मे सूरजमल सालिसिटर पर टीका की थी। सूरजमल ने अपमान के लिए हार्निमेन पर मानहानि का दावा किया। पहले कोर्ट मे न्यायाधीश मेक्लाउड ने सूरजमल को तीन हजार हरजाने की रकम और खर्च दिलवाया। अपील मे मुख्य न्यायाधीश स्कॉट और न्यायाधीश हिटन मे मतभेद हो गया। परिणामस्वरूप स्थानापन्न मुख्य न्यायाधीश बेचलर, न्यायाधीश बीमन और न्यायाधीश मार्टिन के आगे फिर से सुनवाई हुई। स्ट्रैंगमेन सूरजमल की ओर से और चिमनभाई हार्निमेन की ओर से हाजिर हुए और बहुत दिनो तक मुकदमा चला।

चिमनभाई ने बचाव मे कहा कि हार्निमेन ने जो लेख लिखा था वह शुद्ध बुद्धि से की हुई टीका थी, बदनीयती से नही।

सिद्धान्त की विशुद्धि और उसे पेश करने की अपूर्व निश्चयात्मकता से भरा हुआ वह व्याख्यान अपने तीस वर्षों के अनुभव मे मैं अद्वितीय समझता हूँ।

मुकदमा जीतने के लिए चिमनभाई सस्ते साधनो का उपयोग नही करते। मुवक्किल या सालिसिटर को खुश रखने के लिए वे किसी तरीके को स्वीकार नही करते। माननीयो को बहलाने की पद्धति को वे अधम मानते हैं। अपनी बुद्धि के प्रभाव से और मनुष्य-स्वभाव के ज्ञान से वे कोर्ट को वश मे करना चाहते है। दूसरे पक्ष के लिए वे हमेशा शिष्टता प्रदर्शित करते हैं। कच्चे बैरिस्टर की निर्बलता से लाभ उठाते हुए मैंने उन्हे कभी नही देखा।

अनेक बड़े मुकदमों मे वे मेरे सीनियर थे। सीनियर के रूप मे वे हमेशा प्रोत्साहक विश्वासी और विश्वसनीय रहते है; परन्तु उनके जूनियर बनने वाले को हमेशा बड़ा ध्यान रखना पडता है। वे साम्यवादी

१. 120 Bombay Law Reporter P. 184.

ढग पर काम करने वाले हैं। सप्ताह मे पाँच दिन और वह भी एक घटे से अधिक काम करना उनके लिए सदा वर्ज्य है।

जूनियर के रूप मे मुझे सारा मुकदमा पहले से तैयार करना पड़ता। रोज रात के साढे नौ बजे भोजन करके चिमनभाई कान्फ्रेंस करते, कागज और पेन लेकर तैयार हो जाते। मैं अपने नोटो मे मे सारे विवरण और अभिप्राय बोलता जाता। उनकी तीक्ष्ण बुद्धि उसे सुनती, सशोधित करती, चुनती, स्वीकार करती और फेंक देती। फिर अपनी व्यवस्थित रीति से वे सब लिख लेते और ब्रीफ पढे विना उस लिखे हुए पर से दूसरे दिन केस चलाते। उसमे यदि पदपूर्ति की आवश्यकता होती, तो वह जूनियर को कोर्ट मे करनी पड़ती।

उनका मस्तिष्क व्यवस्थित रूप से काम करता था। जो वस्तु उसमे गठित हो जाती वह सदा उचित समय पर और योग्य रीति से ही बाहर निकलती। विचार-सभ्रम की सभावना ही नही थी, इसलिए थोडी मेहनत में ही वे अधिक सुन्दर परिणाम निकाल लेते थे।

कभी-कभी वे कहते—"मुन्शी, इतने नोट्स कल पाँच घण्टे काम देंगे, अब कल रात को देखा जाएगा।" और अधिकतर उनका अनुमान सत्य निकलता था।

एक बार उन्होने जाने या अनजाने मे एक न्यायाधीश को छकाया था। नोट्स मे जो लिखा था, वह चार बजे समाप्त हो गया। न्यायाधीश ने आगे की बात पूछी। चिमनभाई के नोट्स मे आगे कुछ भी नही था। वही-के-वही मैं उनसे कहूँ और वे अभिप्राय प्रकट करे, यह कैसे सम्भव था? चिमनभाई ने मुझसे कान मे कहा—"मुन्शी, नोट्स तो खतम हो गए हैं।"

वे क्या करेंगे, इसकी मुझे चिन्ता होने लगी। परन्तु उनका तो एक रोम भी हिलना सभव नही था।

न्यायाधीश की कही किसी बात से लाभ उठाकर वे उसे भिन्न तरीके से समझाने लगे। पहले कही हुई बातो को ही नये स्वरूप मे, नये संकलन

मे उन्होने उपस्थित कर दिया। न्यायाधीश को पता भी न लग सका कि चिमनभाई का खजाना खाली हो गया था कि इतने मे साढे पाँच बज गए।

उनके नोटो मे जो सामग्री होती थी, उसके आधार पर वे बडे-बडे न्यायाधीशो के लिए भी दुष्प्राप्य विद्वत्तापूर्ण निश्चयात्मकता से अभिप्राय पेश करते थे। अपनी व्यवहार-बुद्धि, विशाल अनुभव और सिद्धान्तो के ज्ञान से जो कमी होती, उसे वे पूरा कर लेते थे। उनके उपस्थित किये हुए अभिप्रायो मे कोई तत्त्व नही था, ऐसा प्रभाव डालने की भी उनमे कला थी।

१९२० मे वे हाईकोर्ट के न्यायाधीश हुए—थोडे ही समय के लिए। मैंने अनेक न्यायाधीश देखे हैं, पर चिमनभाई के जोड का कोई नही देखा। वे न्यायासन पर हो, तो अपना भार हल्का हुआ समझिए। किसी प्रकार का आडम्बर नही, घमण्ड नही, अधीरता नही, वे आपकी मुश्किलो को समझते, आपकी क्षतियों की पूर्ति करते और उनके आगे आपको ऐसी निश्चिन्तता मालूम होती, जैसे आप घर मे बैठकर बात कर रहे हैं। उन्होने दुनिया देखी थी, इसलिए उनके आगे किसी का आडम्बर नही चलता था और किसी बात के रहस्य को वे तुरन्त पकड लेते थे।

आदर्श न्यायाधीश को शोभा देने वाली रीति से वे अपना मत एकदम अन्त मे ही स्थिर करते थे।

जब वे न्यायासन पर बैठे, तब उनके स्वागत मे हुए व्याख्यान के उत्तर में उन्होने मत्र उच्चारण किया—"न्याय करना ही पर्याप्त नही है। ससार से यह अनुभव करवाना चाहिए कि न्याय हो रहा है।"

आदर्श न्यायाधीश के लिए इससे अधिक उच्च मुद्रालेख और क्या हो सकता है!

कौन जाने क्यों, बम्बई के अपराध करने वालो के हृदय मे मैं स्थान न बना सका। मेरे पास होने के थोडे दिनो बाद पन्द्रह रुपये देकर एक मनुष्य मुझे पुलिस चौकी पर ले गया। मौलवी साहब को मेरी योग्यता

पर विश्वास था, यह मै बता चुका हूँ। इसके सात वर्षो बाद एक खून के आरोपी को मेरी वकालत पर एकाएक विश्वास उत्पन्न हुआ। यह मैं अभी तक नही समझ सका हूँ कि जब चिमनभाई फौजदारी कोर्ट मे बैठे थे, तभी वह केस मेरे पास क्यों आता। न्यायाधीश और मैं दोनों भडौची पगडी पहनते थे, यही कारण हो, तो कोई आश्चर्य नही।

मेरे मुवक्किल के विरुद्ध यह आरोप था कि उसने परेल की चाल में शाम के समय एक मनुष्य का खून किया था। गुण्डों के दो विरोधी पक्षों मे से एक के साथ मेरे मुवक्किल का सम्बन्ध था, इसलिए उसका भविष्य अंधकारपूर्ण हो गया; परन्तु उसके सेठ ने उसे बचाने का निश्चय कर लिया था। मैंने कहा—"मुवक्किल नही बचेगा।"

सेठ ने कहा—"साहब, बचाने का रास्ता बताइए। मेरा आदमी उस समय परेल की चाल मे था ही नही।"

मैंने उसे सबूत लाने के लिए कहा। सेठ ने जी-तोड़ परिश्रम किया और मुवक्किल, पाँच घण्टो तक भिन्न-भिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न मनुष्यों के साथ कुछ-न-कुछ करता रहा, ऐसा बयान लिखकर वकील के द्वारा मेरे हाथ मे दिया।

चिमनभाई पहले से ही मेरे विरुद्ध मालूम हो रहे थे। जब मैंने Alibi (गैरहाजिरी) का बचाव करना शुरू किया, तब वे बोल उठे— "इससे तुम्हे जूरी के आगे अन्तिम भाषण देने का हक नही रहेगा, यह जानते हो?"

"जी हाँ," मैंने उत्तर दिया।

चिमनभाई ने समझा था कि सरकार की ओर का बयान दृढ था और उसका कोई उत्तर नही हो सकता था। मैंने अपने गवाहो को बुलाया। एक के बाद एक, पाँच-छ अच्छे आदमियों के बयान उपस्थित हुए। प्रत्येक गवाह पर चिमनभाई बाघ की तरह टूट पडते, और उसे दबोच डालते, परन्तु कोई टस-से-मस न होता। मैं तो यह माने ही बैठा था कि इतने पूर्वाग्रह के पश्चात् चिमनभाई अभियुक्त का कचूमर निकाल डालेंगे।

पर अन्तिम गवाह आया और चिमनभाई ने पूर्वाग्रह छोड़कर मेरे मुव-क्किल की निर्दोषिता के पक्ष मे जूरी को दृढता से सबोधन किया।

मेरा मुवक्किल छूट गया। चिमनभाई के समान न्यायपुरःसर तुलना करने वाला न्यायाधीश न होता, तो वह लटक जाता।

जलियाँवाला बाग मे जनरल डायर के किये हुए गोलीकाण्ड की जाँच करने के लिए हण्टर-समिति बनी। चिमनभाई उसके सदस्य थे। उस समिति के सम्मुख जनरल डायर और अन्य गवाहो की भयकर और अन्वे-षणात्मक जिरह चिमनभाई की शक्ति की पराकाष्ठा थी।

उनकी जिरह का मुख्य लक्षण था भीषण सख्ती। उनके सवाल गवाह को सनसी की तरह दबा लेते थे। हन्टर-कमेटी का प्रमुख लार्ड हन्टर पहले स्वतन्त्र विचारो का था, परन्तु लाहौर जाकर वह बदल गया। एक ओर चार अग्रेज और दूसरी ओर तीन हिन्दुस्तानी, उनके अग्रणी थे चिमनभाई। अन्त मे रिपोर्ट लिखने के लिए सब आगरा जाकर एक बँगले मे रहे। दोनो पक्षो का आपसी सम्बन्ध भी बिगड गया। उन्होने एक साथ खाना भी छोड दिया। एक दिन बात करते-करते हन्टर गरम हो गया। उसने चिमनभाई से कहा—"आप अग्रेजो को देश से बाहर निकालना चाहते हैं ?"

चिमनभाई ने उत्तर दिया—"अवश्य, यदि अग्रेजों के प्रतिनिधि आप जैसे हो !"

अग्रेजो ने बहुमत की रिपोर्ट लिखी। न्यूनतम की रिपोर्ट पर हिन्दु-स्तानियो ने हस्ताक्षर किये। यह रिपोर्ट भी अधिकतर चिमनभाई की लिखी हुई थी।

चिमनभाई का स्वभाव रँगीला था—भडौंचियो जैसा। लगभग अस्सी वर्षों में भी उनकी आत्मा आज भी जवान है। हाईकोर्ट की लायब्रेरी मे बैठकर नये धाराशास्त्रियो के उत्साह से वे गप्पें लडा सकते हैं, चुटकुले सुनाते हैं, मजाक चल रहा हो तो उसमे दिलचस्पी लेते हैं; स्वय विनोद के विषय बन रहे हों, तो भी आनन्द लेते हैं। धाराशास्त्रियो की प्रतिष्ठा

की बात जहाँ आती है, वहाँ आज भी लड़ पडते है। बम्बई-धाराशास्त्री-मण्डल के ये भीष्मपितामह, सबकी प्रशसा, सम्मान और सद्भाव के धनी हैं। भूलाभाई भी इन्हे गुरु मानते थे, अत. मेरे लिए तो ये गुरुणा गुरु हैं।

१९२७ में लीला और मैं, विवाह के बाद, थोडे दिन मसूरी के होटल मे रहे थे। हम दोपहर मे भोजन कर रहे थे, तभी अचानक वहाँ चिमनभाई आ पहुँचे। आकर वे हमारे टेबल पर बैठे। लीला ने मुझसे उनके विषय मे बहुत बातें सुनी थी, पर उन्हे देखा पहली ही बार था। चिमनभाई बडी दिलचस्पी से बातें करने लगे। जब हम अलग हुए, तब लीला ने कहा—

"ये चिमनभाई हैं? मैंने तो समझा कि न जाने कितने गंभीर और बुड्ढे होगे!"

मैंने कहा—"चिमनभाई की आयु चाहे जितनी हो, परन्तु वे सनातन युवक हैं।"

एक गभीर और वृद्ध बुढिया भोजन के समय हमारे टेबल पर हमारे साथ बैठा करती थी। उन्होने भी वृद्ध-जैसे इस युवक की हल्की-फुल्की बातो से घबराकर हमारे साथ न बैठने का सकल्प प्रकट किया। बुढापा आयु पर अवलम्बित नही, जीवन का उपभोग करने की अशक्ति पर अवलम्बित है।

राजनीति मे चिमनभाई के और मेरे रास्ते अलग-अलग ही रहे हैं। वे फीरोजशाही थे और अब तक भी हैं। मैं फीरोजशाही सप्रदाय का बचपन से विरोधी हूँ। १९१९ से चिमनभाई ने कांग्रेस को छोड़ दिया और नेशनल लिबरल फेडरेशन के अग्रणी बने। मैंने १९१५ से १९२० तक एनीबिसेन्ट और जिन्ना के नेतृत्व मे काग्रेस मे काम किया। परन्तु राजनीति सम्बन्धी मतभेद हमारे निजी सम्बन्ध के बीच में नही आया। १९२७-२८ से मैं गाधीजी के प्रभाव मे आ गया। गाधीजी और चिमनभाई पिछले तीस वर्षों मे बडे-से-बडे गुजराती हैं। दोनो के स्वभावो मे

मूलभूत विसंवाद है । जहाँ गाधीजी की व्यावहारिकता उनकी ज्वलत भावनाशीलता की दासी थी, वहाँ चिमनभाई की व्यावहारिकता एकचक्र से राज्य करती हुई साम्राज्ञी है ।

मैं चिमनभाई के लिए मान और प्रेम रखता हूँ यह काग्रेस के मेरे अनेक सहयोगियों को प न्द नही था । इस विषय मे टीकाएँ भी होती, "तुम्हारा सीतलवाड क्या कहता है ?" ऐसे चुभते हुए प्रश्न मुझे अनेक बार सुनने पडते ।

चिमनभाई जानते हैं कि मैं गाधीजी का भक्त हूँ, गाधीजी जानते थे कि चिमनभाई मेरे लिए परिवार के गुरुजन की तरह पूज्य हैं । आपस के स्नेह-सम्बन्ध मैं तोड नही सकता । स्नेह-सम्बन्ध जीवन की सुवास है—पैसे से, विवेक से, और पक्ष विपक्ष से विभिन्न । मेरे इस सिद्धान्त से अनेक लोगो को मेरे प्रति असतोष और अविश्वास उत्पन्न हो गया है, पर इसका मुझे दु ख नही है ।

तेरह

१९१४-१५ मे एक दिन मै हाईकोर्ट के दूसरे जीने पर जाने के लिए नीचे लिफ्ट के पास खडा था, वही दीनशा मुल्ला आ गए । उन्होने पूछा—"तुम्ही मुन्शी हो क्या ?" "जी हाँ," मैंने कहा ।

"मैं तुम्हारी दावा-अरजी का जवाब लिख रहा था । उसके लिए मेरी बधाई । तुमने दावा-अरजी बड़ी अच्छी लिखी थी ।"

उनके स्वभाव की मधुरता निराली थी, और वह मधुरता भी व्यर्थ की नही; कठिनाई आ पडने पर पूर्ण रूप से सहायक बनने वाली थी । उन्होंने मुझे सचमुच बधाई दी थी या केवल परिचय करने के लिए शिष्टाचार किया था, यह कहना कठिन था, परन्तु इस बात का ज्ञान मुझे तभी हुआ कि आत्मविश्वासहीन भटकते हुए नये बैरिस्टर को जब कोई सीनियर इस प्रकार बधाई दे, तो उसके जीवन मे कितना परिवर्तन हो जाता है ।

न्यायवादी की अपेक्षा वे न्यायाधीश के रूप मे अधिक सफल हुए। न्यायाधीश की अपेक्षा कानून के सिद्धान्तो के टीकाकार के रूप मे वे विशेष प्रसिद्ध हुए। जब वे वकालत करते थे, तब मुकदमा चलाने की अपेक्षा मुकदमा तैयार करने का काम अधिक अच्छा लगता था। शाम को जब वे अपने चेम्बर मे कान्फ्रेंस करते, तब समस्त भूतो' को वे साथ ही रखते और प्रत्येक को कोई-न-कोई ऐसा काम सौपते, जिसम उसे दिलचस्पी होती। उनके शिष्यों मे और उनमे परस्पर अद्भुत स्नेह था। वास्तव मे देखा जाए, तो सारे 'बार' मे उन्ही का गुरुकुल असली था।

न्यायाधीश के रूप मे उनकी बराबरी करने वाले मैंने बहुत कम देखे हैं, उनसे अच्छे कदाचित् ही। विशेष करके व्यापार-सम्बन्धी मुकदमो मे वे गहरी दिलचस्पी लेते थे। उनके सम्मुख एक मुकदमा चलाने का मुझे स्मरण आता है।[1] माल कब बेचा माना जाता है, रेलवे रसीद का क्या परिणाम होता है, सफर मे किसका माल है, आदि विषयो की चर्चाओ मे हम कितने समय तक डूबे रहे थे।

दीनशा जी जहाँ जाते, वही लोकप्रिय हो जाते थे। जब धारा-शास्त्रियो का भोज होता था, तब उनकी बातो पर हम लोग हँसकर दुहरे हो जाते थे।

दीनशाजी ने भी गरीबी से जीवन शुरू किया था। पहले वे मास्टर थे और कालेज मे पढाई जाने वाली पुस्तको के विषय मे विवरण लिख-कर प्रकाशित करते थे। वे कवि भी थे। एक बार उन्होने रुस्तम और सोहराब की कहानी पर अग्रेजी मे एक लम्बा काव्य लिखकर अग्रेज राजकवि टेनिसन के पास सम्मति के लिए भेजा। दिन-पर-दिन बीते, परन्तु उत्तर न आया। इस उगते हुए कवि को उत्तर के लिए आतुरता हुई। अन्त मे उत्तर आ पहुंचा। दीनशाजी प्रसन्न हो सके। उन्होंने लिफाफा खोला। टेनिसन ने लिखा था—"कविता पढी। आप काव्य

---

१ Ford Automobiles Ltd vs Delhi Motor and Engineering Company. 24 Bombay Law Reporter 1140.

लिखते हैं या सालिसिटर का व्यवसाय करते है ? धाराशास्त्री के व्यवसाय मे आपकी सफलता की कामना करता हूँ ।"

फैशनपूजक शिमला मे भी वे बड़े लोकप्रिय बन गए थे । १६२६ मे जब मैं वहाँ था, तब हम अनेक बार मिला करते थे । एक बार न्यायमत्री सर ब्रजेन्द्र मित्र के यहाँ हम सब खाने के लिए इकट्ठे हुए थे । भोजन के बाद सगीत आरभ हुआ । अन्त मे दीनशाजी प्रतियोगिता मे उतरे । लेडी दीनशा पियानो बजाने बैठी और दीनशाजी ने गजरा बेचन वाली नादान, ये तेरा नखरा···' इस प्रकार के दो-चार गाने छेड़े । सब लोग हँसते-हंसते लोट-पोट हो गए ।

बम्बई के समस्त धाराशास्त्रियो मे महत्वपूर्ण काम यदि किसी ने किया था, तो वह दीनशाजी ने । उन्होने कानून के बड़े-बडे निबन्धों पर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी हैं । आज भी उनकी पुस्तको का प्रत्येक कोर्ट मे उपयोग होता है । हिन्दू-विधवाओ के वे उद्धारकर्ता थे । जब वे प्रिवी कौंसिल मे न्यायाधीश थे, तब उन्होने निर्णय दिया कि हिन्दू-विधवा सयुक्त परिवार के पुरुषो की आज्ञा के बिना लडका गोद ले सकती है। इस निर्णय से हिंदू विधवा की निराधार स्थिति मे बडा सत्कार पाने योग्य परिवर्तन हो गया।

चौदह

सर लल्लूभाई आशाराम शाह बेजोड न्यायाधीश थे । उनकी नैतिक महानता और प्रबल न्यायवृत्ति ने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला था । इतना ही नही, मैंने उनके कोर्ट मे काम करते-करते यह भी सीखा कि न्यायवादी का प्रथम लक्षण विशुद्धता होनी चाहिए ।

ता० ४ फरवरी १८७३ को अहमदाबाद के निकटवर्ती विसलपुर गाँव में अपने ननिहाल मे लल्लूभाई का जन्म हुआ था । आशारामभाई उस समय मोरबी स्टेट के स्कूल के हेडमास्टर थे। गुजरात कालेज मे १८६० मे ऐच्छिक विषय के स्थान पर फारसी भाषा लेकर वे बी. ए

हुए, धीरजलाल मथुरादास स्कालरशिप लिया और उसी कालेज में पुरस्कृत फैलो के रूप मे काम किया। सन् १८६२ मे एम० ए० की परीक्षा मे वे प्रथम श्रेणी मे आए। १८६४ मे एल-एल बी हुए और १८६५ मे उन्होने हाईकोर्ट मे वकालत आरम्भ की।

उन्नीसवे वर्ष मे जब उन्होने एम ए किया, तब उनके पिता ने उन्हें आई-सी एस करने के लिए विलायत भेजने का विचार किया था, परन्तु उनकी माता की अनिच्छा से यह विचार स्थगित कर दिया गया था। उसी वर्ष प्राविन्शियल सिविल सर्विस मे बैठने की लल्लूभाई ने तैयारी की, परन्तु अपने भाई की बीमारी के कारण उनकी आशा पूर्ण न हो सकी। वकालत आरम्भ करने के बाद उन्होने मुन्सिफ बनने के लिए अरजी दी। तीन वर्ष के बाद उस अरजी के परिणामस्वरूप जब निमन्त्रण आया, तब बम्बई मे व्यवसाय जम चुकने के कारण उन्होने अस्वीकृति भेज दी।

१६०७ मे जब मैं बम्बई आया, तब विल्सन हाईस्कूल के सामने उनके घर के आगे से आते-जाते, मित्रो से इस विषय मे बातें करके कि वे कैसी स्थिति मे बम्बई आये थे और किस प्रकार व्यवसाय कर रहे थे, कठिनाइयों के भार मे डूबते हुए अपने हृदय मे आशा का सचार किया करता था।

एक बार कुछ महीने ठहरकर, मैं फीजी मे वकालत करने वाले मणिलालभाई से मिलने उनके घर गया। मैंने पहली बार लल्लूभाई को देखा। धोती और कुरता पहनकर, कुरसी पर चौकडी मारे वे बैठे थे। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट था। वे थे लल्लूभाई! भडौंच और सूरत के महापुरुषो के रहने के निरालेपन से मैं परिचित था, परन्तु इस घर की सामग्री देखकर मैं क्षण-भर के लिए निराश हो गया।

मुझे देखकर लल्लूभाई ने कागज़ों पर से मुख उठाकर पूछा—"भाई, किससे मिलना चाहते हो?"

"मणिलाल भाई से," मैंने कहा, "घर मे हैं?"

"बैठो, अभी आते है। तुम्हारा नाम क्या है?"

"कन्हैयालाल मुन्शी।"

लल्लूभाई के ममतापूर्ण मुख पर ज़रा हास्य आ गया। उन्होने पूछा—"भड़ौच के मुन्शी या सूरत के ?"

सूरत और डुम्मस मे रहने पर भी सूरत के होशियार मुन्शियो की ख्याति से मैं अनजान था। उनके प्रश्न का भेद मेरी समझ मे न आया। मैंने कहा—'मैं, भडौंच का।"

"तब तो अधुभाई मुन्शी के सम्बन्धी होगे।"

मैंने 'हाँ' कहा।

सर नारायण चन्दावरकर के खाली हुए हाईकोर्ट के न्यायासन पर ता० १ अप्रैल १९१३ को लल्लूभाई बैठे। उस समय स्वय भाई विभाकर का और मेरा हाईकोर्ट के साथ थोडे ही दिन हुए सम्बन्ध हुआ था। एक गुजराती व्यक्ति हाईकोर्ट के न्यायासन पर बैठे, इस गौरवप्रद दृश्य को देखने हम दोनो गये थे। उनके लिए अभिनन्दन-समारोह का भी आयोजन था, ऐसा मेरी नोट-बुक कहती है।

१९२० के पश्चात्, सर नार्मन मेक्लाउड की अनुपस्थिति मे लल्लूभाई ने दो-तीन बार मुख्य-न्यायाधीश का काम किया था। उस समय जितने दिन मैंने अपील-कोर्ट मे बिताये हैं, वे मेरे व्यवसाय के अनुभव मे चिर-स्मरणीय बन गए हैं।

१९२० मे सरकार ने लल्लूभाई को 'सर' बनाया। १९२२ मे लल्लू-भाई 'रेशल डिस्टिंक्शन कमेटी' मे नियत हुए थे। यदि उनकी चमडी गोरी होती, तो वे कभी के मुख्य न्यायाधीश बन गए होते ! यह बात भी चल रही थी कि वे प्रिवी कौन्सिल मे भी नियुक्त होने वाले है। धारा-शास्त्री के रूप मे लल्लूभाई तेजस्वी की अपेक्षा लगन वाले अधिक थे; अचूक युक्तियो की अपेक्षा स्पष्टीकरण को अधिक महत्व देते थे।

लल्लूभाई की वकालत-पद्धति चिमनभाई और भूलाभाई की पद्धति की अपेक्षा भिन्न प्रकार की थी। शान्त और गौरवपूर्ण उनकी वकालत केवल सत्य के सशोधन मे मग्न, अतिशयोक्ति से डरती और दिखलावे से

दूर भागती थी। उनका उद्देश्य एक ही था—न्यायासन पाकर न्याय करना।

लल्लूभाई के न्यायासन पर बैठने के बाद उनकी यह वृत्ति दिन-पर-दिन दृढ होती गई। उन्होने अटल न्यायवृत्ति का परिपोषण करने का आदर्श बनाया था। तेजस्विता, शब्द-सामर्थ्य, दृढ अन्वेषण, चपल बुद्धि-वाद, स्पष्ट व्यक्तित्व-दर्शन जैसे वकालत के बाह्याडबरो से अस्पष्ट रहने का वे सदा प्रयत्न करते थे।

कोई कठोर टीका करता या जोरदार विवाद करता, तो लल्लूभाई को न्याय की तुला के हिल उठने का भय मालूम होता था। तुरन्त वे अपना प्रिय वाक्य बोलते—"You may say so, but " परिणाम-स्वरूप जोर से बोलने वाले का जोर आधा घट जाता था।

गवाह चाहे कितना ही झूठा क्यो न हो, वे उसे जहाँ तक सभव होता, कभी झूठा नही कहते थे। मुझे एक घटना याद आती है। मैं उनके आगे एक अपील चला रहा था। प्रतिपक्षी निचले कोर्ट मे इतना झूठ बोला था कि उस कोर्ट के न्यायाधीश ने उसके लिए बडे कठोर शब्दो का प्रयोग किया था। मैंने बयान पर से यह बताने के बाद कि प्रतिपक्षी कितना झूठ बोला था कहा—"My Lord, the mildest term that can be used for this man is the one used by the trial court, 'master craftsman of the art of mendacity "[1]

सर लल्लूभाई ने अपनी दृष्टि उठाई और पूछने लगे—"Mr Munshi, do you mean to say that there can be a stronger term than this ?"[2]

---

१ "माननीय, इस मनुष्य के लिए यदि किसी कोमल विशेषण का प्रयोग करना हो तो निचले कोर्ट का प्रयोग किया हुआ 'झूठ की कला का कुशल कारीगर' ही उचित है।"

२. "मि० मुन्शी, क्या आप यह कहना चाहते हैं कि इससे अधिक कठोर विशेषण भी कोई हो सकता है ?"

मैंने उत्तर दिया—"My Lord, the resources of the English Language are not so poor as not to provide a stronger term "[1]

लल्लूभाई ने घबराकर हाथ ऊपर उठाए—"Oh no ! I don't want to hear a stronger word. This is quite enough "[2]

भूल-चूक से भी अतिशयोक्ति हो जाती, तो उन्हे आघात पहुँचता था। उनकी मृत्यु के लगभग पन्द्रह दिन पूर्व वे बड़ौदा युनिवर्सिटी कमीशन के सामने बयान देने गये थे। रात को हमने बड़ा भोज किया। दो घटे गपशप की और गरबा[3] सुनने के लिए गये। हम खुले दिल से बातें कर रहे थे। कई वर्षों से लल्लूभाई ने गरबा नही देखा था। मै तो बम्बई के अनेक गरबा-मडलो से परिचित था। रात के कोई बारह-एक बजे लल्लूभाई ने पूछा—"बम्बई मे इतना अच्छा गरबा नही होता, है न ?"

कुछ महीनो पूर्व ही बम्बई मे एक समारम्भ हुआ था। उसका गरबा मुझे याद आ गया। रायल ओपेरा हाउस की रगभूमि का रग-बिरगा प्रकाश, पीछे का अनुरूप दृश्य, विशेष रूप से बनवाये हुए संवादी रगों के कपडे, लम्बे समय के अभ्यास से एक धारा मे बहने वाले सवादी स्वर, ताल और पैरों की झकार, तथा छटापूर्ण अभिनय की मोहकता—सब मेरी आँखो के आगे फिरने लगे।

"बम्बई का गरबा," मैंने जवाब दिया, "इससे बहुत हद तक बेहतर है।" "बहुत हद तक बेहतर है·· " उनकी न्यायवृत्ति को आघात पहुँचा और वे बुदबुदाए।

---

१. "माननीय, अंग्रेजी भाषा इतनी समृद्धिहीन नहीं है कि आवश्यकता पड़ने पर उसमे इससे भी अधिक कठोर विशेषण न मिले।"

२. "नहीं, नहीं, मैं इससे अधिक कठोर शब्द सुनना नहीं चाहता। यही पर्याप्त है।"

३. गुजराती लोकगीत के साथ किया जाने वाला लोक-नृत्य।

रात के दो बजे हम मोटर मे राज्य के अतिथि-गृह मे वापस आये। मोटर रुकने पर लल्लूभाई ने पूछा—"तुमने बम्बई का गरबा बहुत हद बेहतर बताया, यह बात तुमने न्यायपूर्वक कही है?" उन्होने अपनी चोट खाई हुई न्यायवृत्ति से जिज्ञासा की।

भारी भोज, गरबा, आधी रात के बाद नशा और उसमे प्रकट की हुई सम्मति की परीक्षा होते देखकर मेरी रसिकता मूर्च्छित हो गई। "लल्लूभाई साहब, मैंने तो गरबे तैयार होते देखे हैं और उनकी पद्धति मे सुधार करने की सम्मतियाँ भी दी हैं।"

"हाँ," न्यायमूर्ति ने कहा, "तब बात जुदा है, तुमने विचारपूर्वक शब्दो का प्रयोग किया है।"

"As your Lordship pleases," मैं बुदबुदाया। यह था उनकी तीव्र न्यायवृत्ति का एक उदाहरण।

उनकी युवावस्था की एक बात है; सच होगी या झूठ, इसका निश्चय नही है। परन्तु उनकी उत्तरावस्था के नैतिक स्वातन्त्र्य को देखते हुए सच भी न हो, तो भी उन पर लागू होने वाली अवश्य मालूम होती है।

आशाराम भाई जब सफर करते, तब स्वय दूसरे दर्जे मे बैठते और लड़के को तीसरे मे बिठाते। एक बार युवक लल्लूभाई जब इस प्रकार तीसरे दर्जे मे सफर कर रहे होगे, तब पिता ने उन्हे दूसरे दर्जे मे बुला लिया। लल्लूभाई की नैतिकता अकुला उठी। उन्होने ट्रैफिक सुपरिण्टेन्डेण्ट को दूसरे और तीसरे दर्जे के किराये मे जितनी रकम का अन्तर था, उतनी रकम मनीआर्डर से भेज दी। ट्रैफिक सुपरिण्टेन्डेण्ट खुश हो गया और ऐसे नीतिवान पुत्र के पिता होने के लिए आशाराम भाई को बधाई दे भेजी। इस प्रकार की वृत्ति और स्वातन्त्र्य को उन्होने अन्त तक स्थिर रखा।

कई वर्षों तक वे मेक्लाउड के साथ अपील कोर्ट मे बैठे। मुख्य न्यायाधीश मेक्लाउड था तीक्ष्ण बुद्धि का, चटपट न्याय करने वाला, किसी भी तरीके से मुख्य अभिप्राय को पकडने वाला। उसकी उतावलेपन

की आदत से रोज मुकदमा तुरन्त पूरा हो जाता था। परन्तु जब लल्लूभाई साथ बैठते, तब मेक्लाउड की मजाल नही थी कि वह छलाँग लगा सके। जहाँ समझ मे न आता, वही से वे पुन छानबीन शुरू करते, प्रश्नावली चलाते और भली-भाँति समझ लेने पर ही केस को आगे बढने देते। मुख्य न्यायाधीश ही जब जल्दबाजी कर रहा हो, तब अन्य न्यायाधीश कदाचित् ही धीमे चलना चाहते है। परन्तु लल्लूभाई वास्तव मे न्याय करने बैठते और किसी की भी परवाह न करते हुए अपने तरीके से न्याय करते थे।

उनकी दृष्टि कानून के विषय मे अचूक थी, परन्तु जहाँ दुनिया के दाव-पेंच आते, वहाँ फँस जाती थी। 'मनुष्य किसलिए बुराई करे? सामान्य रूप से उसे भलाई करनी ही चाहिए—' इस मान्यता से अनेक बार उनके मर्म-दर्शन की झाँकी मिलती थी।

हिन्दू धर्म-शास्त्र के विषय मे उनके फैसलो ने हिन्दू ससार पर चिरस्थायी प्रभाव डाला है। न्यायाधीश बनने के बाद, शास्त्री से सस्कृत पढकर उन्होने धर्मशास्त्रो का अध्ययन किया था। हिन्दू धर्म-शास्त्र के विषय मे उनके आगे मैंने दो बडे मुकदमे चलाए थे और तब से मुझे धर्मशास्त्र का शौक लग गया था।

बाई गुलाब, बनिये बाप और घाटी माँ की लडकी थी। लडकी बडी वाचाल थी। वह गुजराती भाई-बन्दो मे पली हुई थी। युवती हुई, तो बाप ने इसकी परवाह नही की। एक भाटिया 'माजी'—स्त्री—ने उसे अपनी शरण मे लिया। माजी ने उसे एक घडीसाज के साथ ब्याह दिया। विवाह को पांच-दस दिन हुए थे कि बाई गुलाब पति को छोडकर भाग आई। घड़ीसाज ने विवाह का हक पूरा करने का दावा किया। मुकदमा चलने तक बाई गुलाब को 'वनिता-आश्रम' मे रख दिया गया।

यह मुकदमा सुनवाई के लिए न्यायमूर्ति काजीजी के पास आया। मैं था बाई गुलाब की ओर से और भूलाभाई थे दूसरे पक्ष की ओर से। हमने जितने भी किये जा सकते थे, बचाव के सबूत इकट्ठे किये थे।

परन्तु मुख्य युक्ति यह थी कि घाटी स्त्री की लडकी अर्थात् शूद्र का विवाह अनुलोम होने से शास्त्र-निषिद्ध है, अत गैरकानूनी है।

. काजीजी व्यवहारकुशल न्यायाधीश थे। "मुन्शी, आप देखते नही कि यदि मैं इस विवाह को गैरकानूनी करार दूं, तो आपकी मुवक्किल बाई की जिन्दगी खराब हो जाएगी।" इस प्रकार वे एक-एक घण्टे पर कहते जाते। बाई गुलाब और माजी पीछे बैठी थी। वे टस-से-मस नही होती थी।

दो-तीन दिन केस चला। काजीजी ने मुझसे कहा कि बाई गुलाब को बुलाकर स्वय उसको समझाना चाहिए कि इस दावे को जीतने मे उसे लाभ नही है। इसके अनुसार मैंने बाई गुलाब को और माजी को दोपहर मे अपने चेम्बर मे बुलाया और समझाने लगा। "हिन्दू समाज बेहूदा है। तुम एक बार.पति के साथ रह आई हो, इससे तुम्हे दूसरा अच्छा वर नही मिलेगा और तुम्हारी जिन्दगी खराब होगी," मैंने यथोचित मधुरता से कहा।

"इसकी कोई बात नही। मेरी माजी तो हैं न।" मेरी मुवक्किल ने कहा।

"पर देखो," मैंने कहा, "माजी बूढी हो गई है। कल अगर ये मर जाएँ, तो तुम्हारा कौन होगा?"

वह शेरनी की तरह उछल पड़ी—"माजी मर जाएँ? मेरे बैरिस्टर होकर आप यह क्या कह रहे हैं? माजी मर जाएँ? फिर मैं क्यो न मर जाऊँ? आप क्यों न मर जाएँ?"

बाप रे! मैं और मेरा सालिसिटर टेबल के नीचे घुस जाने का विचार करने लगा।

साढ़े तीन बजे मैंने काजीजी से कहा कि हम सुलह नही करेंगे। सामान्यतया यदि न्यायाधीश सुलह करने को कहें और मुवक्किल इनकार कर दे, तो वे क्रुद्ध हो जाते हैं और मनुष्य-स्वभाव के वश होकर इनकार करने वाले के प्रति कठोर और उद्वेगमय बन जाते हैं। काजीजी का भी

यही हाल हुआ। चार-पाँच दिनों में मुकदमा खतम हुआ। काजीजी ने हमारे विरुद्ध फैसला किया और विवाह को कानून के अन्दर बतलाया।

ढाई बजे थे। माननीय ने आज्ञा दी—"बाई गुलाब इसी समय घड़ी-साज के अधीन हो।"

मैं ऐसी किसी आज्ञा की आशा कर ही रहा था, इसलिए जब माननीय फैसला सुना रहे थे, तब मैं अपील की युक्तियाँ लिख रहा था। मैंने कहा—"अपील करने के लिए समय दीजिए।"

"नहीं।"

"कल तक समय दीजिए।"

"बिलकुल नहीं।"

"साढे तीन बजे तक।"

"अच्छा, मनाही हुक्म ले आओ, एक घण्टे का समय देता हूँ," माननीय ने कहा।

उचित रीति से अपील करने में तो बड़ा समय लगता था, परन्तु मुख्य न्यायाधीश मेकलाउड को जहाँ अन्याय मालूम होता, वे सब रीतियों को ताक पर रख दिया करते थे।

मैं तुरन्त मेकलाउड के चेम्बर में गया, सारा विवरण सुनाया और कहा कि अपील का मसविदा टाइप करने का भी समय नहीं है।

"साढे तीन बजे कोर्ट में अर्जी देना और मसविदा तुम स्वयं लिखना।"

साढे तीन बजे मैं कोर्ट में उपस्थित हुआ। सामने स्ट्रैंगमेन आये। मेकलाउड टस-से-मस न हुए। "जहाँ विवाह ही झगड़े में है, वहाँ मनाही हुक्म का पालन कैसे हो सकता है?" उन्होंने मुझे तुरन्त मनाही हुक्म दिया। कोई अन्य न्यायमूर्ति होता, तो मनाही हुक्म पाने से पहले न जाने क्या-क्या हुआ होता!

मेकलाउड और लल्लूभाई के आगे अपील सुनवाई पर आई। मैं तो मिताक्षर-व्यवहार-मयूख आदि की तैयारियाँ करके गया था। सामने जिन्ना थे। मेरे मुँह खोलते ही मेकलाउड ने मुल्ला का 'हिन्दू लॉ' खोला और

थोड़े में निबटाने का प्रयत्न किया । लल्लूभाई बीच में पड़े। अनुलोम विवाह शास्त्र-निषिद्ध है या नहीं, यह तो बड़ा जरूरी सवाल है । इसे झाड़ू से बुहारकर फेंका नहीं जा सकता । मेक्लाउड ने धीरज रखा । फिर दो दिन लल्लूभाई मिताक्षर, मयूख और अन्य धर्मशास्त्रों में निमग्न हो गए और अन्त में उन्होंने मेरे मुख से कहलाया कि अनुलोम विवाह शास्त्र-निषिद्ध नहीं है ।[१]

अपील फैसले के लिए आई । बाई गुलाब के लिए यह हुक्म हुआ कि उस दिन वह कोर्ट में हाजिर रहे । जब फैसला हमारे विरुद्ध हुआ तब मेरी मुवक्किल न कोर्ट में थी, न 'वनिता आश्रम' में ।

मेरे सौभाग्य से हिन्दू-शास्त्र का एक अन्य आवश्यक विषय भी लल्लूभाई के आगे ही उपस्थित हुआ था ।

एक पैसे वाला हिन्दू, गणिका के यहाँ बीमार पड़ गया और थोड़े दिनों बाद मर गया । उस गणिका नागूबाई ने हिन्दू कानून के अनुसार यह कहकर कि वह उसकी हमेशा की रखैल है, खाने-कपड़े के लिए दावा किया ।

मुकदमा न्यायमूर्ति कांगा के पास आया । मैं मृतक के स्त्री-बच्चों की ओर से हाजिर हुआ । वादी गणिका है, मृतक का अनेक गणिकाओं के साथ सम्बन्ध था, स्त्री-बच्चों को क्या पता कि यह रखैल हमेशा की थी या कामचलाऊ, इस प्रकार की अनेक दलीलें हमने उपस्थित कीं, परन्तु न्यायमूर्ति कांगा ने हमारे विरुद्ध निर्णय दिया और हम अपील में गये ।

लल्लूभाई तब स्थानापन्न मुख्य न्यायमूर्ति थे । उनके और न्यायमूर्ति क्रम्प के आगे केस चला । धर्मशास्त्र के आधार पर मैंने दलील की कि केवल हिन्दू शास्त्र ही रखैल को खाना-कपड़ा देकर परिणीत स्त्री की भूमिका पर रखता है; परन्तु प्रत्येक रखैल को नहीं, वरन् 'अवरुद्ध स्त्री' अर्थात् प्रकट रूप में रखी हुई और परिवार में स्वीकृत हुई स्त्री को ही ।

लल्लूभाई को इस दलील में दिलचस्पी हुई । वे ऐसे अनेक आधार

---

१. Bai Gulab Vs. Jeevanlal, 24 Bombay Law Reporter p. 5

ले आये, जो मैंने भी नही देखे थे ।

"यदि ऐसा न हो तो कोई भी रखैल दावा कर दे और बेचारे स्त्री-बच्चे यह कैसे साबित करे कि यह रखैल कितने पुरुषो के साथ सम्बन्ध रखती थी ?"

यह दलील उनके गले उतरी । लल्लूभाई ने हमारे पक्ष मे फैसला दिया ।[1]

गणिका प्रिवी-कौन्सिल तक गई । लार्ड डार्लिग के गले हिन्दू-शास्त्र क्यो उतरने लगा ? 'आज के जमाने मे भला रखैल को परिवार वाले स्वीकार कर सकते हैं ?" उन्होने पूछा । और लल्लूभाई के फैसले को अस्वीकार किया ।[2]

मैं अब भी मानता हूँ कि लल्लूभाई सच्चे थे और इस विषय मे कानून मे सुधार की आवश्यकता है । यदि रखैल को पत्नी के कई अधिकार प्राप्त हो, तो वह 'अवरुद्ध' होनी चाहिए, रखने वालो के समाज की स्वीकार की हुई होनी चाहिए, अन्यथा अनेक झूठे दावे खड़े होगे और स्त्री-बच्चों के साथ अन्याय होगा ।

लल्लूभाई के जाने के बाद तो हमारे हाईकोर्ट मे नया सिद्धान्त दाखिल हो गया है । दीनशा मुल्ला के 'हिन्दू लॉ' के अतिरिक्त यदि कोई अन्य आधार कोई धारा-शास्त्री देने जाता है, तो वह तुरन्त अयोग्य माना जाता है । इसलिए इस प्रकार के अनुभव बहुत कम हो गए हैं ।

लल्लूभाई जब गुजराती फार्ब्स-सभा के प्रमुख बने, तब उन्होने मुझे उसका सदस्य बनाया और तब से हमारा आपसी परिचय बढ गया ।

लल्लूभाई की जीवनचर्या केवल आडम्बर रूप नहीं थी, दृढता से घोषित की हुई न्यायवृत्ति का वह परिणाम थी । इस वृत्ति के पोषण के लिए उन्होने समाज के साथ लगभग सारा व्यवहार बन्द कर दिया था । मित्रों से वे शायद ही मिलते, सगे-सम्बन्धियो के साथ कदाचित् ही व्यवहार

---

१. Moghibai Vs Nagubai 24 Bombay Law Reporter p 9.

२. Nagubai vs. Moghibai. 53, Indian appeals p 153

रखते, और न्याय करते समय इस बात का खयाल रखकर सचेत रहते कि कही कोई भी दृष्टि-बिन्दु वास्तविक या काल्पनिक उनकी आड मे न आ जाए।

अनुभवी धारा-शास्त्री सरलता से बहुत-सी बाते समझ सकता है। वर्षो के अभ्यास से वह तुरन्त सच-झूठ को परख सकता है और वह स्वय सच्चा ही है, इस प्रकार की मनोदशा का अनुभव करता है। ऐसे पुरुषों को अपना किया हुआ कार्य सदा न्यायपूर्ण ही मालूम होता है। परन्तु वे अपना अभिप्राय बनाने से पहले, सारी बातें सुनने तक, अपनी न्यायवृत्ति को अनिश्चित दशा मे नही रख सकते, मानव-जाति की निर्बलता को नही सह सकते और अपना मत झूठा हो सकता है ऐसी कल्पना भी नही कर सकते। परन्तु जब तक ये तीन लक्षण पूरी तरह परिपुष्ट नही होते, तब तक न्यायवृत्ति सपूर्ण दशा मे प्रकट नही होती।

सर लल्लूभाई शाह ने इस प्रकार की न्यायवृत्ति पोषित करके उसे सदा सतेज रखा और आदर्श स्वतन्त्रता से सुशोभित किया। भारत और इगलैड की अनेक अदालतो मे वकालत करने वाले एक अग्रेज धारा-शास्त्री ने मुझसे कहा था कि उसने भारत और इगलैड के अनेक न्यायाधीश देखे है, परन्तु लल्लूभाई शाह जैसे स्वतन्त्र और शुद्ध न्यायवृत्ति वाले न्यायाधीश नही देखे।

उन्हे सत्य के लिए जितना प्रगाढ प्रेम था, प्रत्येक के दृष्टि-बिन्दु से सत्य क्या हो सकता है, यह खोज करने की उतनी ही प्रगाढ सहानुभूति-पूर्ण उत्कण्ठा थी। परिणामस्वरूप वे प्रत्येक की कठिनाइयो को देख सकते थे, उदारता से भूलो को बिसरा सकते थे, और फिर भी सबमे सत्य क्या है, इसे खोजने का धीरज रख सकते थे।

१६ नवम्बर १९२६, देवोत्थानी एकादशी को सवेरे स्वर्गद्वार खुलते ही इस महान् गुजराती ने देवलोक प्राप्त किया और इस शोक-समाचार को बम्बई ने नि श्वासपूर्वक सुना। सुबह पाँच बजे वे उठे, अस्वस्थ हुए और चल बसे।

जिस प्रकार वे जिये, उसी प्रकार चल दिए—गौरव के साथ, कृष्णलाल काका, पकवासा और छोटू काका जैसे प्रतिष्ठित धाराशास्त्रियों के कन्धों पर चढ़कर, न्यायमूर्तियों और सचेत धाराशास्त्रियों द्वारा वन्दित होकर। वह दर्शन अद्भुत था। बम्बई के धाराशास्त्रियों की दुनिया अपने सहस्र-मुखी गौरव के साथ, भरी दोपहरी में पेडर रोड से उतर रही थी—न्याय की इस आदर्शमूर्ति के प्रति अन्तिम बार पूज्यभाव प्रदर्शित करने के लिए।

पन्द्रह

मुहम्मदअली जिन्ना और मै इस समय एक दूसरे से भिन्न दुनिया में घूम रहे थे। एक समय हम खूब निकट थे।

मेरे पास होने के पश्चात् उनका प्रथम दर्शन मुझे १६१३ के नवम्बर की पहली तारीख को हुआ। मैंने अंकित किया—

"मि० जिन्ना आज विलायत से आये। वास्तव मे बड़े ही अद्‌भुत मनुष्य हैं। हिन्दुस्तानी एडवोकेटो मे ये सबसे आकर्षक हैं—कैसे स्पष्ट और कैसे सावधान!"

जिन्ना का रोब हमेशा अधिक था। वे फक्कड भी थे और अक्खड़ भी। उनके कपडो के समान सुन्दर कपड़े और कोई नहीं पहनता था। उनके जितने चमकीले बेन्ड्स और किसी के पास नहीं थे। उनके बाल सदा सफाई के साथ सँवारे हुए होते; उनके अभिनय नाटकीय और जोशीले होते। उनका अंग्रेजी बोलने का ढंग निराला और अचूक था। उनके उच्चारण हमेशा भावपूर्ण और दर्द-भरे होते थे। किसी समय व्याकरण की भूल हो भी जाती, पर बोलने की छटा पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

वे आकर कोर्ट मे बैठते, मानो फोटो खिचवाने बैठे हैं। वे खड़े होकर, कमर पर हाथ रखकर कोर्ट को नाटकीय छटा से सम्बोधित करते।

उनके अक्खड़पन की सीमा नहीं थी। अभिमान तो जरा-जरा-सी

बात से टपकता था। उनका स्वाभिमान बड़ा कोमल था, उसे क्षण-क्षण मे ठेस पहुँचती थी। सालिसिटर को वे थर-थर कँपाते थे।

एक बार स्ट्रैंगमेन ने उन्हे कोई अपमानजनक बात कह दी। जिन्ना ने बोलना बन्द कर दिया और यह चीज बीस बरस तक चली। जिस सालिसिटर को स्ट्रैंगमेन और जिन्ना दोनो को साथ-साथ बैरिस्टर बनाने की आवश्यकता होती, उसे दोनो से अलग-अलग मिलना पड़ता। यदि दोनो का सामना होता तो जिन्ना 'मि० स्ट्रैंगमेन' कहकर उल्लेख करते, न 'विद्वान् मित्र' कहते और न 'एडवोकेट जनरल।'

परन्तु जब वे हँसते, तब विपक्षी का हृदय तुरन्त जीत लेते। निर्भयता भी उनका एक प्रधान गुण था। उनकी गर्विष्ठता दुर्भेद्य थी। बड़े-बड़े न्यायाधीशो को भी वे धमकी दे देते। कोई ज़रा भी अनुचित बोलता कि तुरन्त उसे फटकार देते।

एक न्यायाधीश के साथ उनकी नही बनती थी। जिस दिन वे न्यायाधीश पद से निवृत्त होने वाले थे, उस दिन उनकी बिदाई पर दो शब्द कहने के लिए एडवोकेट जनरल् आये। उसे सुनने के लिए हम लोग इकट्ठे हुए थे। उक्त न्यायाधीश के लिए यह प्रसिद्ध था कि उनके कोर्ट मे इन्वेरारिटी जो कहते, वह सोलह आने ठीक होता था। इस व्यवहार के विरुद्ध सारे बैरिस्टर लाइब्रेरी मे बड़बड़ करते, परन्तु जिन्ना कोर्ट मे भी इसका उल्लेख करने से नही चूके थे। उस दिन के अन्तिम समन्स मे एक ओर जिन्ना और दूसरी ओर इन्वेरारिटी थे। न्यायाधीश ने इन्वेरारिटी के पक्ष मे फैसला किया।

"मैं जानता था," कठोरता से जिन्ना ने कहा, "इस कोर्ट मे इन्वेरारिटी ही हमेशा सच्चे होते हैं।"

यह छोटा-सा वाक्य उन्होने इतनी कठोरता से उच्चारण किया कि न्यायाधीश लाल सुर्ख होकर चला गया और उसकी विदाई के भाषण बिना दिये ही रह गए।

जिन्ना कानून की अपेक्षा दूसरे पक्ष की त्रुटियो को पकड़ने मे अधिक

निपुण थे। वे राह देखते रहते, हिम्मत से बोलते रहते और ज्योंही विपक्ष का एडवोकेट जरा-सी भी भूल करता, कि वे शेर हो जाते। अपना अभिप्राय मजबूती से बैठाते और छटापूर्वक या हँसकर अथवा प्रभावित करके न्यायाधीश से अपना सोचा हुआ काम करवा लेते।

मेरे प्रति उन्हे बडा सद्भाव था। आगे जाकर जब मैं 'होमरूल लीग' का मत्री बना तब वे उसके प्रमुख थे। इससे हमारा सम्बन्ध अधिक प्रगाढ हुआ। परन्तु इस परिचय का अन्य स्थान पर वर्णन करूँगा। मैत्री मे से निजी सम्बन्ध के तत्वो को वे निथार देते थे। चाहे कितना भी परिचय बढ जाता परन्तु वे कभी अपनी निजी बात नही करते थे और न मित्र को ऐसा करने का मौका देते थे। उनकी शक्ति की भावना दुर्भेद्यता पर रची गई थी।

एक दिन एक कान्फ्रेन्स के बाद हम दोनों इधर-उधर की बातें करने बैठे थे। उस समय उन पर पारिवारिक कष्टो के बादल मँडरा रहे थे। मैंने पूछा—"जिन्ना, तुम्हारी तबीअत ठीक नही है ?" उन्होने अपने मोहक ढग से माथे पर आये हुए बाल ऊपर किये और कहा—"मुन्शी, तुम्हें पता नही कि मुझ पर क्या बीत रही है।"

इसके बाद उन्होने होठ दबा लिए और हृदय की व्यथा पर तुरन्त परदा डाल दिया।

सोलह

हाईकोर्ट की लायब्रेरी एक अजीब-सी सस्था है। वहाँ दो सौ के लगभग विद्वान् पैर लम्बे करके पडे रहते—अनेक व्यवसाय के शिखर पर, अनेक श्रीफ पाने के लिए अधीर, अनेक गप्पो की तरंग मे। वहाँ दुनिया की सारी बातें होती हैं, सबकी निन्दा होती है, प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को ईर्ष्या की दृष्टि से देखता है और एक-दूसरे के साथ भ्रातृभाव भी अनुभव करता है।

ड्यूमा की जगद्विख्यात कहानी मे मस्केटियर चार थे, पर कहलाते

तीन थे। व्यवसाय में भी हम 'थ्री मस्केटियर' सख्या में चार थे—मोतीलाल सीतलवाड, हरिलाल काणिया, मगलदास देसाई—सर्वानुमत से मगल और मैं।

मोतीलाल १६११ मे एडवोकेट हुए। जब मैं सम्मिलित हुआ, तब वे अलग-अलग रहते, कम बोलते और लायब्रेरी मे बैठकर पढना-पढाना करते रहते। तब मेरी और उनकी अच्छी तरह पहचान नही थी।

१६१५ मे काणिया एडवोकेट हुए और तभी से हम मित्र बने। मैं मुरारजी गोकुलदास की चाल मे रहता था; वे बगल मे विल्सन हाईस्कूल के सामने रहते थे। श्रीमती काणिया और लक्ष्मी का मेल-जोल बढा। बहुधा रविवार को इकट्ठे बैठकर हम अपने भविष्य का विचार करते थे। वे कागा के 'भूत' हुए। काणिया का स्वभाव एकमार्गी था। जो काम करना होता, उसे पूरी तरह करते। हाईकोर्ट मे वकालत करने आते, अत वहाँ उसे ही निभाते—दृढता से, निश्चयात्मकता से, इधर-उधर देखे विना।

मगल का और मेरा परिचय अधिक पुराना था। १६११-१२ मे 'कपोल छात्रालय' के गृहपति और मेरे मित्र खुशालदास पारिख मुझे छात्रालय के वाद-मडल मे भाषण करने के लिए बुला ले गए थे। वहाँ मगल और उसके बडे भाई मुझे मिले। मगल का मुझे किसी ने परिचय दिया—'ये विल्सन कॉलेज के बर्क हैं।' प्रथम दर्शन मे प्रेम होने की तरह हमारी मैत्री हुई। जब वह विलायत गया, तब जो समारम्भ हुआ था, उसमे मैं विदाई के दो शब्द बोला था, ऐसा स्मरण है।

१६१४ मे मगल बैरिस्टर होकर बम्बई आया और भूलाभाई के गुरुकुल मे शामिल हो गया। मगल के बडे भाई मधुभाई का मुझ पर बडा प्रेम था। थोडे समय मे मगल का विवाह हुआ और वह संवनन करते समय उसके हृदय मे जो भाव उत्पन्न होते, वे, जब हम भूलाभाई के चेम्बर के छज्जे पर खडे होते, तब मुझे सुनाता। उसके विवाह के बाद उसके ससुर तुलसीदास भी मुझे घर की तरह मानने लगे, रोज

शाम को भूलाभाई के चेम्बर के छज्जे पर खडे-खड़े हवा खाते रहते और गप्पे लडाया करते। मगल की विनोदवृत्ति अद्भुत थी। अपने उन दिनो की अनेक कठिनाइयो को उसके हास्य-विनोद के द्वारा हमने हलका किया है।

हम रोज चिन्ता करते कि पेट भरने लायक कमाई हो सकेगी या नही। मगल मेरी तरह धनहीन नही था। उसके सगे-सम्बन्धी पैसे वाले थे। मेरी रोज की चिन्ता की सीमा नही थी। जब मुझे खूब चिन्ता होती और मै कुछ कह देता, तब मगल मुझे हमेशा आश्वासन देता। गुरु की ओर से कुछ बुरा लगता, तो मंगल एक चुटकले मे गुस्सा उतार देता। उस छज्जे पर एक छोटी-सी बात मैं उससे कहा करता था, वह याद आती है—

"मंगल, दस वर्ष मैं चाहे जिस प्रकार निकाल लूंगा। जी-तोड़ मेहनत करूँगा। १५ मार्च १९२३ को यदि मुझे मालूम होगा कि मैं हार गया, तो मैं अपने सालिसिटर मित्रो को खाने पर बुलाऊँगा। दूसरे दिन मेरा शव मेरी साक्षी देगा।"

मगला हमेशा कहता—"उस दिन अगर मुझे बुलाया, तो देख लेना!"

मगल के कटाक्ष हमेशा अचूक होते थे। आज वे सारे हाईकोर्ट मे प्रसिद्ध हो चुके हैं। १९२०-२१ मे मगल के हँसोड़ मुख ने कटाक्षमय निपुणता प्राप्त नही की थी। इससे एक बार वह बड़ी मुश्किल में आ पड़ा था। वह और मैं दोनों एक मुकदमे मे पक्ष-विपक्ष मे थे। माननीय बराबर उसकी ओर घूरते रहते। एक बार उन्होंने मगल से कहा कि उसकी कही हुई बात ठीक नही थी। मगल ने मानपूर्वक कहा कि तब वह इसी आशय को दूसरे रूप मे पेश कर सकता है। दो मिनट बाद माननीय ने पुन. कहा—

"That's not the thing. Go to the next point."[१]

१. यह विषय यहाँ नहीं है। दूसरे विषय पर आओ।

मगल मिठास के साथ हँसा।

"As your Lordship pleases "[1]

न्यायमूर्ति क्रुद्ध हुए—

"Why do you smile ?"[2]

मगल ने मेरे कान मे कहा—

"हँसूँ नहीं तो रोऊँ ?" और हँसकर उत्तर दिया—

"As your Lordship pleases I won't smile again "[3]

उसकी पत्नी लीला बहन सुकुमारता और संस्कारिता की लजीली मूर्ति थी। वह भी मुझे मगल का भाई समझने लगीं।

मोतीलाल बडे आदमी के लडके थे। निर्धनता का शूल उन्हे नहीं चुभता था, इसलिए वे खूब मेहनत करते, परन्तु आगे बढते झिझकते थे। अन्त मे चिमनभाई के कहने से वे भूलाभाई के गुरुकुल मे आ गए और अपने छज्जे पर खडे होकर हम जो तपश्चर्या किया करते थे, उसमे शामिल हुए। मोतीलाल मे स्वस्थता होना स्वाभाविक था। बडो के लड़के थे, इसलिए हाईकोर्ट की दुनिया मे उन्हे ज़रा भी क्षोभ नहीं होता था। उनमे निश्चयात्मकता भी बडी थी। उनके अक्षर ऐसे थे मानो मोती के दाने। ऊँचे, विशालवक्ष वाले, स्वस्थ, चिमनभाई के आत्मविश्वास के वे कुछ अशो मे वारिस थे।

भूलाभाई ने 'होमरूल लीग' से इस्तीफा दे दिया। हमारे निजी और व्यावसायिक सम्बन्ध को देखते हुए, स्वाभाविक रूप से उन्होने यह चाहा कि उनके पीछे मुझे भी इस्तीफा दे देना चाहिए। मैं अपने राजनीतिक आचार को और निजी व्यावसायिक सम्बन्ध को परस्परावलम्बी बनाना नही चाहता था।

दिसम्बर की अतिम तारीखो मे कोर्ट बन्द होने वाला था। उस शाम

---

१ जैसी माननीय की इच्छा !

२. तुम हँस क्यों रहे हो ?

३. 'माननीय की जैसी इच्छा, पुन नहीं हँसूंगा।'

को भूलाभाई ने अपना अभिप्राय व्यक्त किया। वे कहने वाले थे, मैं सुनने वाला था। उनके कहने का तात्पर्य यह था कि मुझे लीग मे और उनके गुरुकुल मे एक साथ स्थान नही मिल सकता।

क्रोध के उद्वेग से भरा हुआ मैं घर पहुँचा। चोट खाये हुए स्वाभिमान से मेरा मन उबल रहा था। भूलाभाई के विश्वासपात्र 'भूत' से पदभ्रष्ट होने पर मेरी थोडी बँधी हुई कमाई भी जाती रहेगी, इस विचार से मैं काँप रहा था।

जब ऐसा विषादयोग आता है, तब मेरा मन उचाट हो जाता है। तीन दिन से अधिक अन्न जिस ब्राह्मण के पास हो, उसके लिए आर्यावर्त मे स्थान नही है, यह सूत्र याद आ जाता है।

काग्रेस के दिल्ली मे होने वाले अधिवेशन मे जाने के लिए मित्र लोग मुझसे कह रहे थे, परन्तु मैं नही जाना चाहता था।

बाद मे मैंने सकल्प बदल दिया—

"न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धाम्
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौसमर्थ।"[1]

मैं स्टेशन पर गया और दिल्ली का टिकट लिया।

नाताल की छुट्टियों के बाद कोर्ट खुला और उसी दिन जिन्ना को पता लगा—"मुन्शी, तुम्हे notice to quit मिला है, आज शाम से मेरा चेम्बर तुम्हारे लिए खुला है।"

मैंने उपकार माना और इनकार करते हुए कहा—"व्यवसाय मे वे मेरे गुरु हैं। मेरा स्थान उन्ही के चेम्बर मे है।

भूलाभाई के समान अनेक शक्तियो के पुज के समागम से मुझे जो लाभ हुआ था, उसके ऋण को मैं कैसे भूल सकता था? शाम को मैं उनके चेम्बर मे हाजिर हुआ। वे कुछ न बोले, पर थोड़े दिनो मुझे अच्छी तरह सहन करना पडा। मैं नियमित रूप से रोज़ जाता और वापस आता। कुछ महीनो बाद वह बात हम भूल गए और गुरु-शिष्य का सम्बन्ध फिर

१. सीधी चढ़ान, पृष्ठ १२५

जुड गया। इसका वास्तविक श्रेय इच्छा बहन को है।

परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि इस सम्बन्ध को बनाये रखना है, तो मुझे स्वतन्त्र होना चाहिए।

मगल और मैं रोज शाम को चेम्बर मे मिलते और साथ-साथ घर जाते। गुरु के चेम्बर मे रोज जाना हमने छोड दिया।

पहले भूलाभाई अपने मुकदमे चलाने के लिए मुझे देते, अब मोतीलाल उन्हे चलाने लगे। उनकी निश्चयात्मकता और परिश्रम, आत्मविश्वास और विश्वसनीयता ने तुरन्त ध्यान खीचा और उन्हें काम मिलने लगा।

इसी वर्ष के अक्टूबर-नवम्बर मे 'Nine-Dragon' जापानी लाग-क्लाथ का बडा सट्टा चला था। व्यापारी समझते थे कि यूरोप का युद्ध और दो-चार वर्ष चलेगा, इसलिए रोज लागक्लाथ का भाव चढता, हजारो गाँठो की हुडियाँ हुआ करती और व्यापारी कागजो पर हजारो रुपये रोज कमाकर घर जाते।

नवम्बर मे लडाई खत्म हो गई, लागक्लाथ का भाव गिर गया। लेने वालो ने माल उठाने से इनकार कर दिया। परिमाण में तो माल नाम-मात्र को ही था। सब बेचने वालो ने माल उठा लेने का नोटिस दिया और तुरन्त नुकसानी दावे होने लगे। वर्ष मे हाईकोर्ट मे बारह सौ दावे आते थे, उससे बढकर पाँच हजार से भी अधिक आये। इस दावे की अर्जियाँ बनाने मे मुझे काफी अच्छा भाग मिला। बहुत दिनो तक मै प्रतिदिन चार-पाँच अर्जियाँ लिखा करता। हाईकोर्ट मे पैसे की लहरे आनी शुरू हुई।

१९२० मे ये दावे सुनवाई पर आये। त्वरित्-गति मेक्लाउड प्रतिदिन पन्द्रह-बीस दावो को रद्द कर देता। अधिकतर एक ओर भूलाभाई और दूसरी ओर कागा होते। भूलाभाई उस समय शिखर पर पहुँचे। शायद ही कोई ब्रीफ ऐसी होती थी, जो पहले उनके आगे न रखी जाती हो। उन्होंने भी असीम कार्यदक्षता से काम निबटाना शुरू किया। उसी

समय कागा न्यायाधीश बने और काणिया हमारे गुरुकुल में शामिल हुए।

१९२१ की फरवरी मे बढे हुए काम का अन्त लाने के लिए सात कोर्ट बन गए। अभी तक तीन कोर्ट थे। हाईकोर्ट मे पहले से 'होल्डिग' का तरीका अग्रेजी 'बार' के तरीके पर चला आ रहा था। उसका अनुसरण करके भूलाभाई जिस मुकदमे मे स्वयं न आ सकते, उसकी ब्रीफ हमें 'होल्ड' करने के लिए देते। अत. यदि सालिसिटर को एतराज न हो तो हम मुकदमा चलाते। फीस भूलाभाई को मिलती, हमे अनुभव और ख्याति मिलती।

यह पद्धति नये बैरिस्टरो के लिए बडी उपयोगी है। अनेक युवक बैरिस्टरो ने आशा की थी कि जब तीन कोर्ट से सात कोर्ट होगे, तब उन्हे काम मिलेगा। कुभाराणा मे तो एक मीरा से चार मीरा ही देखी थीं, परन्तु सात कोर्ट होने पर हाईकोर्ट ने एक भूलाभाई से सात भूलाभाई देखे। स्वय भूलाभाई, मोतीलाल, आनाबाला, इन्द्रवदन मेहता, मंगल, काणिया और मैं—सात थे।

अधिकतर ब्रीफ पहले भूलाभाई के आगे रखे जाते। वे जितने हो सकते, उतने लेते। एक कोर्ट मे वे खुद काम चलाते और जिस कोर्ट मे हमे थोडा-बहुत काम होता, उसमे उनका ब्रीफ हम 'होल्ड' करते। सारे बार मे धूम मच गई।

जिस प्रकार हिमालय का सारा पानी गगा-द्वार मे इकट्ठा होता है, इसी प्रकार प्रतिदिन के दर्जनों ब्रीफों के प्रवाह का आधे से अधिक भाग हमारे गुरुकुल में इकट्ठा होकर बहने लगा। इस ठेके के विरुद्ध स्वाभाविक रूप से प्रकोप हुआ। आशावान बैरिस्टर लोग भिन्न-भिन्न कोर्ट मे बैठ गए और किस-किस केस मे हम लोग उपस्थित होते हैं, इसे नोट करने लगे।

एक महीने तक इस प्रकार चला और अन्त मे स्ट्रैंगमेन के पास फरियाद पहुँची। उसने इन्वेरारिटी से सहायता माँगी और उसने हम पर आरोप लगा दिया। द्वेष का सागर उमड पडा। 'बार' की सभा हुई।

हमारे आगे आरोप की सूची पेश की गई—हमने एक दूसरे के ब्रीफ 'होल्ड' करने से अपनी शक्तियों को एकत्र करके नफा करने का इकरार किया था। कानून के अनुसार यह इकरार हिस्सेदारी का था, और इससे हमने व्यवसाय मे अनुचित व्यवहार किया था।

स्ट्रैंगमेन, बहादुरजी और कोयाजी की जाँच-समिति बैठी। मार्च की २१ तारीख को 'बार' की सभा ने निश्चय किया कि कोई बैरिस्टर दूसरे का ब्रीफ 'होल्ड' न करे; किसी के स्थान पर कोई दूसरा काम न करे।

दूसरे दिन चमत्कार हुआ। जो ब्रीफ भूलाभाई के हाथ मे आते थे और हम 'होल्ड' करते थे, वे अब हमारे हाथ में हमारे बनकर आ गए। मेरी कमाई इससे लगभग ढाई गुना बढ़ गई। 'थ्री मस्केटियर्स' के भाग्य जाग उठे।

'मारो मारो आ सभलाय,

धरणी लागी ध्रूजवा ने ऊथल पाथल थाय।'[1]

पुराने कवि की इन पंक्तियों का मुझे नया अनुभव हुआ। आज इसे व्यवसाय से उखाड फेंकेगे और कल उसे। स्ट्रैंगमेन, एडवोकेट जनरल के लिए भी न्यायवृत्ति रखना कठिन हो पड़ा। अप्रैल के आरम्भ मे जबर्दस्ती अधिक फीस लेने के लिए भूलाभाई पर इलजाम लगाया गया। हम पर इलजाम लगाने वाले एक भाई यह समझते थे कि मैं सालिसिटरो को कमीशन देता हूँ। वे सीधे और टेढे-मेढे तरीको से खोजकर आये, पर इसमें उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। कारण, कि मैने पहले से ही यह नियम बना रखा था कि जरूरत पडने पर मुफ्त काम करूँगा, परन्तु किसी को कमीशन नही दूँगा।

'मेरा-मेरा' बहुत समय तक सुनाई देता रहा, हम कमाई करते रहे। जाँच के काम को मैंने अंग्रेजी इतिहास का मशहूर 'Trial of the seven

---

१. 'मेरा-मेरा' सुनाई पड़ रहा है। पृथ्वी काँपने लगी और उथल-पुथल होने लगी है।

bishops' नाम प्रदान किया। दूसरे पक्ष ने हमारा नाम 'बासुदी क्लब' रखा। कौन जाने ह्विस्की-सोडे मे ही सज्जनता हो !

उदारवृत्ति के बैरिस्टर विकाजी तारापुरवाले, जिनका परिचय १९२२ के बाद के समय मे आता है, हमारी ओर खडे हुए।

स्ट्रैंगमेन की न्यायवृत्ति के विषय मे हमे बड़ा भय था; परन्तु मामला दीपक की तरह था। हमारी कोई हिस्सेदारी नही थी। हम निर्दोष ठहराये गए। भूलाभाई पर लगाया गया इलजाम एकदम झूठा साबित हुआ। 'बासुदी क्लब' विजय का डंका बजाता बाहर आया।

'सात बिशप' की जाँच के द्वेष का धुआँ वर्षों तक दीखता रहा।

१९२२ मे मोतीलाल, कािणया, मगल का और मेरा पारस्परिक सम्बन्ध निकटतर और स्नेहपूर्ण हो गया। 'थ्री मस्केटियर्स' जो कि चार थे, व्यवसाय मे अग्रस्थान प्राप्त करने लगे।

उसी समय से विकाजी तारपुरवाले के साथ मैत्री हुई। परन्तु मैत्री-विकास का समय १९२२ के बाद का है।

सत्रह

राजाबहादुर शिवलाल मोतीलाल का, जो दक्षिण हैदराबाद के धनाढ्य थे, स्वर्गवास हो गया; और उनके पुत्र राजाबहादुर बंसीलाल और उनके दो पौत्रो मे झगडा शुरू हो गया। राजाबहादुर की करोड़ो की मल्कियत थी। वह हाईकोर्ट के रिसीवर के हाथ में आई।

काका के भतीजे नरुभाई (नर्मदाशकर), राजाबहादुर बसीलाल के बालिग पुत्रो के सालिसिटर थे। प्रतिवादी—राजा बसीलाल और बालिग पुत्रो की ओर से दावे की तैयारी करने का भार नरुभाई के हिस्सेदार मचेरशा पर पडा।

मचेरशा एक दृष्टि से मेरे अनुभव मे बडे-से-बडे सालिसिटर थे। उन्होंने सालिसिटर की कला को अपूर्वता प्रदान की है। मचेरशा जब दावा हाथ मे लेते, तब वस्तुस्थिति, कानून, जाँच-पडताल, प्रत्येक अग

की सम्पूर्ण तैयारी करते। इसकी वह परवाह नही करते थे कि दावा कितनी रकम का है। उससे कितनी कमाई होगी, इसकी भी चिन्ता वह नही करते थे। १९१५-१६ से उन्होने मुझे रगडना शुरू किया और राजाबहादुर के मुकदमे में उन्होने मुझसे खूब काम लिया।

उन दिनो के बाद से मचेरशा का और मेरा सम्बन्ध केवल सालिसिटर का या मित्रता का नही रहा। आज भी वे मेरे प्रति ऐसा सद्भाव प्रदर्शित करते है मानो मैं उनका पुत्र हूँ। मैं जब असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध मे जेल जाने को तैयार हुआ, तब उनकी वृद्ध आँखो से टप-टप आँसू गिरते मैंने देखे थे।

राजाबहादुर की मल्कियत मे अपार सम्पत्ति थी और अनेक पक्ष-कर्ताओ मे जिद भी अपार थी। परिणामस्वरूप ज़रा-ज़रा-सी बात पर अरजियाँ होती, बडी-बडी फीसे दी जाती। अरजी बडे-बडे दिनों तक चलतीं, अपीलें होतीं, कानून के विषयो की छानबीन होती और सैकडो गिनियों के प्रोत्साहन से वे कोर्ट में उपस्थित होतीं।

इन अरजियो मे राजा बंसीलाल की ओर से जमशेद कागा हाज़िर थे और १९२१ मे बालिग पुत्रो की ओर से मै उपस्थित हुआ। यह दावा १९२२ के अक्तूबर या नवम्बर मे न्यायमूर्ति ग्रेट के पास आया। जिन्ना और भूलाभाई वादी पुत्रो की ओर से थे। कागा राजा बंसीलाल की ओर से, काणिया और मै बालिग पुत्रो की ओर से थे। ग्रेट हमेशा हमारा मज़ाक करते। जब इस दावे की बात आती और हम अपने नाम लिखवाते, तभी वे ऐनक चढाकर पूछते—

"Where is the rest of the bar?"[1]

इस दावे मे मुख्य विषय यह था कि हिन्दू-शास्त्र के अनुसार पिता दो पुत्रो के साथ अविभक्त रह सकता है या नही। मचेरशा की तैयारी मे कोई कमी तो नही होती थी, पर मिताक्षर और व्यवहार मयूख के अंग्रेज़ी अनुवाद से बाहर जाने की शक्ति उनमे नही थी। काणिया और

---

१. शेष धाराशास्त्री कहाँ हैं?

मैंने भी खूब मेहनत की थी। ऐसे बडे केस मे उदीयमान धाराशास्त्री के अग्रस्थान पर खडे हुए हम अग्रगण्य धाराशास्त्रियो की गणना मे आने के लिए तत्पर हुए। मचेरशा की जानकारी से बाहर एक शास्त्री की मदद से मै भी वेदकाल मे हिन्दू पिता के अधिकार क्या है, इसका अनुसधान कर रहा था।

केस निकला। इस विषय पर पहले हमे बोलना था। धारपुर जैसे धर्मशास्त्र के ज्ञाता विपक्ष की सहायता मे थे। कागा ने निर्णय पर आधार रखा; मैंने पिता के अधिकार के विषय मे वेद से लेकर अब तक के आधारो द्वारा अपने मतव्य का प्रतिपादन किया। मै दो या ढाई दिनो तक बोला हूँगा। जब मैं बैठ गया तब मेरी कठिन परीक्षा करने वाले भूलाभाई ने मुझसे जो प्रेमपूर्ण शब्द कहे, उनसे मुझे प्रतीत हुआ कि व्यवसाय की सीधी चढान के ऊपरी सिरे को मैंने पार कर लिया था।

१९२२ के अक्तूबर, नवम्बर और दिसम्बर की मेरी आमदनी इतनी अधिक थी कि वह विशुद्ध ब्राह्मण को रौरव नरक का अधिकारी बना देती।

दूसरा खण्ड

मध्वरण्य

असम्बद्ध भूमिका

पूर्वकाल मे जिस प्रकार नैमिषारण्य मे ऋषिगण शौनक के पास गये थे, उसी प्रकार पाठक, लेखक के पास जाकर, नम्रता से हाथ जोडकर प्रश्न करता है—"हे लेखक, इस खण्ड का शीर्षक 'मध्वरण्य' मैंने पढा। यह मध्वरण्य क्या ? यह खण्ड मध्वरण्य क्यों कहलाता है और यह शब्द इस खण्ड के नाम के रूप मे क्यो व्यवहृत हुआ है ?"

लेखक ने—जिसका हृदय पाठक की इस जिज्ञासा से आर्द्र हो गया है—उत्तर दिया—"हे वत्स, राम और सीता के सस्मरण जिसमे अब तक ताजे हैं, वह सुभग दण्डकारण्य जहाँ आरम्भ होता है, उस पुण्यभूमि मे मध्वरण्य नाम का गिरिग्राम स्थित है, ऐसा अनेक लोग मानते हैं और अनेक नही मानते।

---

१. इस खण्ड को लिखते हुए, यह विनोदपूर्ण लेख मौज में आकर लिख गया। इसे पढ़कर यदि पाठक के कोमल हृदय को ठेस पहुँचे, तो उसके लिए क्षमा माँग लेता हूँ; परन्तु इसे यह समझकर यहाँ प्रकट करता हूँ कि इसका स्थान इसी स्थान पर हो सकता है।

"इस रमणीक गिरिग्राम पर से सागर और सह्याद्रि दोनो के सुभग दर्शन होते है। अलकापुरी से भी रम्य मुम्बापुरी से यह बहुत निकट है। और आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी, ये तीन प्रकार के लोग इसका आश्रय लेते हैं।"

यह सुनकर पाठक की आतुरता बढती है। वह पूछता है—"हे लेखक, गिरिग्राम मध्वरण्य कहलाता है?"

वह लेखक, जिसके मुख पर उदारतापूर्ण हास्य प्रसरित है, उत्तर देता है—"हे पाठक, मध्वरण्य शब्द 'मधु' और 'अरण्य' इन दो शब्दो की सधि से बना है और इसका अर्थ होता है—मीठा अरण्य।

"यह गिरिग्राम मीठा अरण्य क्यो कहलाता है, इसके अनेक कारण हैं; हे वत्स, तू उन्हे जान। इस अरण्य मे मधु बहुत होता है। चारुलता[1] नाम की अप्सरा के स्नान से सुन्दर बना हुआ वहाँ के सरोवर का पानी है। मानो उस अप्सरा के चारु अगो का माधुर्य ही प्रवाही स्वरूप पा गया हो, इस प्रकार वह पानी मधुर है।

"हे वत्स, वहाँ समीर की लहरें भी मीठी आती है। इसके अतिरिक्त हे तात, यह अरण्य मधु से भी मीठा है, कारण कि वहाँ हरे-हरे बड़े वृक्षो ने मण्डप की रचना की है। वहाँ डोलते हुए कुसुमों से भरपूर झाडियो मे वनदेवियो के सुकुमार पदस्पर्श के लिए निर्मित अस्पष्ट सी सीढ़ियाँ है। वहाँ सुमधुर पक्षी विरही हृदय मे रस-कुहुक की प्रतिध्वनि करते हैं।

"हे वत्स, वहाँ मरुत गह्वरो मे मृदु सगीत बहाते हैं और सारी सृष्टि वहाँ गान-मुग्ध होकर डोलती है। वहाँ कभी-कभी नीचे तलहटी मे ग्वाले की बाँसुरी, जमुना के उस पार बजती हुई राधा को रिझाते हुए नटवर की वंशी के समान, अपनी मोहक ध्वनि से सध्या की आह्लादकता को उत्तेजित करती है।"

पाठक यह सब मुग्ध होकर सुनता रहता है, परन्तु वह इस प्रकार

१. Charlotte Lake

पूछता है जैसे अभी उसकी जिज्ञासा की सतुष्टि नही हुई—"इस अरण्य को मध्वरण्य क्यो कहा गया है, इसके और भी कुछ कारण है ?"

"हे वत्स, हे तात, तू चित्त लगाकर श्रवण कर ! जिस समय इस खण्ड का आरम्भ होता है, उस समय इस कथा का नायक इसी मध्वरण्य मे उत्साह से पागल बनकर मुम्बापुरी की ओर बढने के लिए तत्पर खडा हुआ है।

"१६१४ मे, हे विशाल-बुद्धि पाठक, इस नायक ने इसी रमणीक स्थान पर रहकर 'वेरनी वसूलात' का अधिक भाग लिखा, और उसके स्मरण मे जगत और रमा के प्रणय की पूर्णाहुति[१] इसी स्थान के अद्भुत-से 'पखीवन'[२] मे की।

"हे वत्स, इसके पश्चात् प्रतिवर्ष मई, अक्तूबर और दिसम्बर मे यह नायक वहाँ स्वास्थ्य प्राप्त करता रहा, इसने शक्ति और शान्ति के जप किये, मौजे की और मित्र बनाये, साथ-साथ आदर्श सेवन के लिए प्रयत्न किये।

"१६१५ के मई मास मे 'कोनो वाँक' उपन्यास इसी स्थान पर लिखा गया। अक्तूबर मास मे 'पाटणनी प्रभुता' लिखा गया। १६१६ मे 'गुजरातनो नाथ' भी यही लिखा गया। १६१६ मे 'पृथ्वीवल्लभ' की रचना हुई।

"हे तात, १६२१ के मई मास मे इसी 'पखीवन' में बैठकर उसने भावनात्मक अपूर्वता को जीवन का सिद्धान्त बनाया और उसके 'बल-वर्धन'[३] नामक शृग पर बैठकर भगवान् व्यास की 'शतसहस्री संहिता' का पाठ आरम्भ किया।

"और हे वत्स, इसी रमणीक मध्वरण्य के पखीवन मे बैठकर १६२२ के अक्तूबर मे इस नायक ने भगीरथ संकल्प किया, जिसके फलस्वरूप

१. मुन्शी-कृत 'वेरनी वसूलात'।
२. Birdwood Point.
३. Belvedere Point

उसका सारा जीवन परिवर्तित हो गया।

"और १६४२ मे यह खण्ड भी, अथ से इति तक वही लिखा गया है। हे वत्स, उसे यहाँ मधु से भी अधिक मधुर अनुभव हुए थे, इस कारण इस अरण्य का नाम मध्वरण्य रखा गया है। परन्तु हे तात, अल्पज्ञ इसे माथेरान कहते है।"

विस्मित होकर पाठक स्वस्थता रखने मे अशक्त होकर ऊँचे स्वर से बोल उठता है—"तो आप भी इसे माथेरान क्यो नही कहते ?"

गाम्भीर्य से अचल-सी मुखमुद्रा मे लेखक ने इस प्रकार कहा, जैसे कृपा कर रहे हो—"शान्तम् प्रश्नम्! यह नाम 'स्तालिन[1]-न्याय' के अनुसार रखा गया है, यह तुम्हे मालूम होना चाहिए।"

पाठक ने उत्सुकता से पूछा, "हे लेखक, यह 'स्तालिन-न्याय' क्या है, यह मुझे विस्तार से सुनाइए।"

"हे तात," लेखक ने कहा, "पूर्व-काल मे एक विज्ञान-शास्त्री ऋषक[2] देश के मूषकपुर[3] मे स्तालिन नामधारी सर्वसत्ताधिकारी से मिलने गये।

"वे विज्ञान-शास्त्री पहले स्तालिन के विद्यामन्त्री से मिले। विद्यामन्त्री ने अपनी पुस्तको को खडी करके एक लाइन मे जोडने के बदले एक के ऊपर एक रखकर जोडा हुआ था। उन विद्यामन्त्री को जब एक पुस्तक की आवश्यकता हुई, तब उन्होने उन जोडी हुई पुस्तकों मे से एक खीच निकाली और परिणामस्वरूप उसके ऊपर रखी हुई सारी पुस्तकें नीचे आ गिरी।

"इस विचित्र पद्धति से विस्मित होकर उन विज्ञान-शास्त्री ने पूछा कि, हे मन्त्रिवर, पुस्तकालय मे जिस प्रकार खडी करके पुस्तकें रखी जाती हैं, उस प्रकार आप भी रखें, तो इस प्रकार एक पुस्तक निकालने से

---

१. Stalin स्तालिन।

२. Russia रूस।

३. Moscow मास्को।

अन्य पुस्तकें कभी न गिरें। और आप इन सबकी सूची कैसे बनाते हैं?"

मन्त्रिवर ने उत्तर दिया, "हे विद्यानिधि! ये पुस्तकें मेरी हैं, और मैं उन्हे जिस प्रकार चाहूँगा, उस प्रकार रखूँगा।"

विचार-ग्रस्त विज्ञान-शास्त्री वहाँ से स्तालिन के अर्थमन्त्री के पास गये। उन मन्त्री ने अपने खण्ड मे मिलने आने वालो के लिए बारह कुर-सियाँ अपने सामने नीचे जुडवाने के बदले छत के साथ लटकाई हुई थीं; और शास्त्री ने देखा कि जितनी कुरसियो की आवश्यकता होती थी, उतनी बटन दबाकर नीचे उतारने की यान्त्रिक योजना वहाँ काम मे लाई गई थी।

शास्त्री के मुख पर विस्मय छा गया। उन्होने पूछा, "हे मन्त्रिवर, कुरसियाँ भूमि पर रखने के बदले इस प्रकार छत पर क्यो लटकाकर रखते हैं? इससे आपको कठिनाई भी होती है और बिजली की शक्ति का अपव्यय भी होता है।"

मन्त्रिवर ने उत्तर दिया, "ये कुरसियाँ मेरी हैं और मैं इन्हे जिस तरह चाहूँ, रख सकता हूँ।"

विस्मय मे डूबे हुए वे पण्डित वहाँ से सर्वसत्ताधिकारी स्तालिन के खण्ड मे गये। बात करने के पश्चात् शास्त्री ने हाथ जोडकर कहा, "हे प्रभो, आपके राज्य मे सब अच्छा है, परन्तु आपके ये दो मन्त्रिगण पुस्तकें और कुरसियाँ जिस प्रकार रखते हैं, उसे देखते हुए मुझे उनमे कार्यदक्षता के चिह्न नही दीख पडते।"

सर्वसत्ताधिकारी ने उत्तर दिया, "हे शास्त्री, ये दोनो मन्त्री मूर्ख हैं, यह तुम्हे जान लेना चाहिए।"

शास्त्री ने तुरन्त प्रश्न किया, "हे प्रभो, यदि ये मूर्ख है, तो आपने किस लिए उन्हे मन्त्री-पद पर रखा हुआ है?"

सर्वसत्ताधिकारी हँस पडे और प्रत्युत्तर दिया, "हे विद्यानिधि! ये मूर्ख मेरे हैं और मैं उन्हे जहाँ उचित जान पड़े, रख सकता हूँ।"

"हे पाठक," लेखक ने कहा, "स्तालिन-न्याय नाम से जगत् की

मीमासा मे यह एक नवीन न्याय इस लोकशासन के युग मे सर्वमान्य हुआ है और उस न्याय के आधार पर इस खण्ड का नाम मै माथेरान न रख-कर मध्वरण्य रख सकता हूँ।"

"वह किस प्रकार ?" नम्रता से पाठक ने पूछा।

"हे पाठक, इस 'स्तालिन न्याय' के अनुसार यह आत्मकथा मेरी है और यह खण्ड भी मेरा है, इसलिए मैं इसे जो ठीक समझूँ, कह सकता हूँ।"

इस न्याय की गहनता को परखने मे असमर्थ पाठक पुन पूछता है, "हे लेखकवर, इस कारण से मुझे सतुष्टि नही हुई। सबके समझने योग्य माथेरान शब्द क्यो व्यवहृत नही किया, इसका मुझे सतोषजनक उत्तर देने की कृपा कीजिए।"

लेखक सस्मित वदन से कहता है, "मैं जान गया कि यह प्रश्न तुम्हे अब तक परेशानी मे डाले है कि मैं इस खण्ड को मध्वरण्य किसलिए कहता हूँ। हे वत्स, मैं इसका प्रत्युत्तर दे सकता हूँ।"

"क्या ? वह जो भी हो, तुरन्त कहिए," हाथ जोडकर पाठक ने कहा।

"प्रिय वत्स, कुपित नाग को सिर पर रखा जा सकता है, रेत से तेल निकाला जा सकता है, परन्तु हे वत्स, अनेक को सस्कारी और असस्कारी शब्दों के बीच का भेद समझाया नही जा सकता।"

वह प्रबुद्ध पाठक, जिसके हृदय के सपूर्ण सशय इस उत्तर से नष्ट होते हैं, वहाँ से लुप्त होता है और मध्वरण्य नामक यह खंड अब आगे चलता है।

१६१३-१६२२

मध्वरराय

चन्द्रशंकर, मास्टर और कातिलाल पड्या मुझे गुजराती मे लिखने के लिए प्रेरित किया करते थे, परन्तु मेरी हिम्मत नही पडती थी। मैं स्कूल मे गुजराती नही पढा था। बचपन मे मैंने 'सरस्वती-चन्द्र' का पहला भाग, नारायण हेमचन्द्र के कई अनुवाद और अन्य अनेक उपन्यास आदि पढे थे। १६११ मे 'कलापी नो केकारव' और कवि नानालाल का 'वसतोत्सव' बड़े रसपूर्वक पढे थे। इसके अतिरिक्त बाकी गुजराती साहित्य मैंने नही पढा था। गुजराती मे एक अच्छा-सा पत्र तक मैं नही लिख सकता था; फिर भी १६११-१२ से मनु काका को गुजराती मे पत्र लिखने का कार्य मैंने आरम्भ किया।

१६१२ में चन्द्रशकर मेरे पीछे पड़े। वे मुझे हमेशा रमेशचन्द्रदत्त का उदाहरण दिया करते। मेरे ही समान कठिनाई अनुभव कर रहे दत्त से किसी बगाली लेखक ने कहा था कि तुम जो बगाली भाषा लिखोगे, वह अच्छी मानी जाएगी, और इस सलाह से प्रेरित होकर दत्त ने मातृ-भाषा मे लिखना आरम्भ किया था।

जब-जब मुझे किसी भी प्रकार का तीव्र उद्वेग होता था, तब-तब उसके सहारे से कोई काल्पनिक प्रसग खड़ा करके उसे लेखन द्वारा व्यक्त

करने की मुझे बचपन से आदत थी, परन्तु वह अग्रेज़ी मे ही। १९१२ के जून या जुलाई मे जब मुझे ऐसा उद्वेग हुआ, तब गुजराती मे वह व्यक्त हो सकेगा या नही, इसका प्रयोग करने के लिए मैंने 'मारी कमला' नामक सक्षिप्त कहानी लिख डाली। चन्द्रशकर ने उसकी प्रशसा की और भाषा शुद्ध करके 'स्त्री-बोध' मे छपने के लिए भेज दी।

उस कहानी का कैसा स्वागत होगा, इसके लिए मुझे बहुत ही चिन्ता हो रही थी। परन्तु चन्द्रशकर मुझे लगातार प्रोत्साहन देते रहे। १९१२ की ९ अगस्त का शोलापुर से उन्होने मुझे अग्रेज़ी मे लिखा—

'इतनी सुन्दर गुजराती लिखने मे तुमने जो सफलता प्राप्त की है, उसके लिए मैं तुम्हे हार्दिक बधाई देता हूँ। तुम्हारी शैली तुम्हारी अपनी है। और थोडे लेख लिखोगे, तो गुजरात को मालूम हो जाएगा कि तुम्हारी शैली कितनी सरस है। तुम्हारी शैली सरल और अर्थवाहक है। तुम्हारा सुन्दर शब्द-सग्रह और छोटे वाक्य तुम्हारी शैली को अधिक आकर्षक बना देते है। और कुछ नही तो जिस छटापूर्ण शैली मे तुम अपने विचार व्यक्त करते हो, उसी के लिए मैं तुमसे विनती करता हूँ कि तुम अपनी मातृभाषा और उसके साहित्य की सेवा करो···केवल तुम्हारी शैली ही सुन्दर नही, कहानी कहने की तुम्हारी कला भी असाधारण है ·'

गुजरात मे उस समय एक प्रखर और लगन वाले साहित्यकार थे, जो गुजराती साहित्य की रग-रग से परिचित थे। उन्होने साहित्य-सेवा मे ही जीवन की सार्थकता समझी थी। उन्होने 'स्त्री-बोध' मे छपी हुई 'घनश्याम व्यास' की कहानी पढकर उस 'व्यास' का पीछा किया। यह नया लेखक है कौन ? पुराने लेखकों मे से कोई नही लिख सकता। उन्होंने 'स्त्री-बोध' में तलाश की और चन्द्रशकर का पता प्राप्त किया। फिर चन्द्रशकर को साथ लेकर वे मेरे पास आये।

नरसिहराव भोलानाथ दिवेटिया मेरे कमरे मे ! मैंने उनका सत्कार किया। नरसिहराव भाई ने मुक्तकण्ठ से गुजराती साहित्य क्षेत्र मे मेरा

स्वागत किया । उन्होने मेरी शैली की विशिष्टता पर ज़ोर दिया । मेरी शैली के मुख्य अग अग्रेज़ी शैलीकारो के अध्ययन से उत्पन्न हुए है, यह उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से छिपा नही था । इस आकस्मिक मुलाकात से मुझमे बडी हिम्मत आ गई और इससे एक अमूल्य स्नेह-सम्बन्ध की नीव पडी ।

कहानी-लेखक के रूप मे, मेरी सृजन-कला के तीन प्रकार मुझे दिखाई देते है । पहले प्रकार मे मैं केवल आत्मकथन करता, अपना अनुभव किया हुआ दु ख या सुख वर्णन करता । दूसरे मे मैं अपने किसी अनुभव को पहले कल्पना मे एकत्र करके, बाद मे उसे मूर्तिमत करते हुए काल्पनिक व्यक्ति या प्रसग का सहारा लेकर कहानी लिखता । तीसरे प्रकार मे बिना अनुभव की हुई मनोदशा गढकर, कल्पना से उसका अनुभव करके उस पर मुख्य पात्र या प्रसंगो की रचना करता ।

'मारी कमला' से मैंने पहला प्रकार आरम्भ किया, इसी मे मैने 'कोकिला', 'वेरनी वसूलात' (१९१३-१४) और 'कोनोवाक' (१९१५-१६) लिखे । 'पाटणनी प्रभुता' से मैंने दूसरा प्रकार आरम्भ किया । 'पृथ्वीवल्लभ' मे पहला' प्रकार ही मुख्य है । 'भगवान कौटिल्य (१९२४-२५) से मैंने तीसरा प्रकार अपनाया । 'जय सोमनाथ' (१९३४-३७) मे मुझे इसकी प्रबलता दिखाई देती है ।

'मारी कमला' लिखने से मुझे नया भान-हुआ । जब मैं अग्रेज़ी को अपने कथन का वाहन बनाता, तब मेरी रचना शब्दाडम्बर से घुट जाती, मेरी आत्मा सरलता से प्रकट नही हो पाती । जाज्वल्यमान शब्दो के प्रवाह में कथन की सरलता और भाव की सूक्ष्मता दोनो दब जाते । 'मारी कमला' लिखते हुए मेरी अविकसित गुजराती मे भी शब्द गौण बन गए । भावना और कल्पना-चित्र मुझ पर अधिकार जमाकर मुझे शब्दों की प्रेरणा देने लगे । यह सत्य मेरी समझ मे आया कि अपनी मातृभाषा द्वारा ही अपना जीवन ठीक-ठीक व्यक्त होता है । और तभी रचना सरल, प्रभावकारी और कलात्मक भी बनती है ।

अगस्त मास मे मैंने 'भार्गव' त्रैमासिक निकाला। उसके लिए लिखना, आये हुए लेख सुधारना और प्रूफ देखना आदि काम दलपतराम के और मेरे सिर पडे। परिणामस्वरूप गुजराती लिखने और सुधारने का मुझे अभ्यास होने लगा। सपादक के रूप मे मेरी लिखी हुई पहली टिप्पणी इस प्रकार थी—

"सभवत इस त्रैमासिक के विषय गे कई प्रकार के मतभेद उत्पन्न हो सकते हैं। अनेक लोगो को इसकी आवश्यकता नही मालूम होगी। अनेक को अपने हास्य और कटाक्ष का कारण इसमे दीख पडेगा। अनेक इससे होने वाले लाभ के प्रति निराशा प्रकट करेगे। ऐसे सज्जनो से हम नम्रतापूर्वक कहेगे कि अच्छे काम मे पहले ही गन्दे भविष्य का विचार करना जरा अनुचित-सा है। प्रत्येक कार्य निर्विघ्न पूरा नही होता।

"इस त्रैमासिक जैसे प्रयास को आजकल के जमाने मे शायद ही कोई निरर्थक समझेगा। जब तक मनुष्य शब्दोच्चारण करने की शक्ति प्राप्त न कर ले, जब तक दृढ विचार करके अपनी बुद्धि को प्रकाश मे नही लाए, तब तक वह पशुओ की अधमता से बाहर निकला हुआ नही माना जाएगा। बोलना, विचार प्रदर्शित करना, मनुष्य का पहला भूषण, मनुष्यता का पहला अधिकार, और उच्च जीवन का पहला कर्तव्य है।"

ये वाक्य स्पष्ट रूप से अंग्रेजी वाक्यो का सस्कृत शब्दो मे और भडौंच की अशुद्ध गुजराती मे मस्तिष्क का अनुवाद किये हुए हैं। परन्तु कुछ महीनो मे इन सम्पूर्ण तत्त्वो का समन्वय हो जाता है।

'अपनी रसेन्द्रियो के इस जन्म मे परितुष्ट न होने से अगले जन्म मे स्वर्ग के कल्पित सुखो पर अपना अधिकार रखकर बैठे हुए लोग, समझे बिना ही सवेरे के समय सध्या का झूठा आडम्बर रचकर, गोमुखी मे हाथ डालकर, गाँव-भर की पंचायत करके ईश्वर को धोखा देकर भूले-चूके मोक्ष पाने की आशा रखने वाले, गीता का गड़बड़ पाठ करके, कर्मयोग का एक अक्षर भी समझे या उसके अनुसार आचरण किये बिना योगी कहलाने वाले; पैसे देकर, ब्राह्मण को भोजन कराके अथवा जीवन-भर

अनाचार करके मरते समय चार पैसे दक्षिणा देकर या मन्दिर बनवाकर पुण्य खरीदने वाले सचेत मारवाडी—इन सब लोगो को बुद्ध का शासन ज़रा कठोर मालूम होगा। आजकल हम धर्म के नाम पर अनेक बुराइयाँ होते देखते हैं और कायरता से आँखो पर पट्टी बाँध लेते है। अर्थहीन शुष्क मन्त्रो मे, बिना समझ की विचित्र विधियो मे पैसे खर्च करके पुण्य सचय करने मे, या आँख बन्द करके सब-कुछ स्वीकार करने मे मोक्ष नही है, इस जन्म मे या अगले जन्म मे इससे सिद्धि नही मिल सकती।'[1]

इस प्रकार अपनी शैली बनाने के प्रयत्नो से अन्त मे मेरी शैली जमने लगी।

१९१३ के 'गुजराती' के 'दीवाली अक' के लिए 'कोकिला' लिखकर मैंने आत्मकथन का दूसरा मनका फेरा। इसमे कथन की सरलता और प्रभावकारिता सिद्ध करने की कला का विकास दृष्टिगोचर होता है।

'जब मै कॉलेज मे थी, तब सुखी थी। उस समय मेरा एक मित्र था। उसकी मोहक छवि, बाहर से दीखने वाला स्नेही स्वभाव, सुन्दरता से पूर्ण और अनेक बार बडे भोलेपन से बोलने की रीति, इन सब बातों से मेरा अनुभवहीन हृदय वशीभूत हो गया। हम साथ-साथ घूमते और साथ-साथ पढते। मेरी बुद्धि और शक्ति सबल थी, हृदय प्रणयी था, उसने उसे प्रभु बनाया।'

'किशोरलाल! मैं अभिमान नही करती, परन्तु मेरी भावनाएँ अपूर्व थी। उन्हें शायद ही कोई प्राप्त कर सकता। मेरा वह देव इस उपहार के योग्य नही था, पर मैं अन्धी थी और उसे सब बातो से पूर्ण समझती थी···जब मैं उच्च भावना के व्योम मे विहार करती, तब मेरे भविष्य के भर्त्ता, जिह्वा के रस या शरीर के आराम की खोज मे व्यस्त रहते। मैं अपने कल्पना-ससार से जाग पड़ी। मैंने आँखें खोलकर अपने देव के इन रगो को परखा। हे भगवान्, उस दिन के दुःख की कुछ भी स्मृति मन मे

१. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो', गौतम बुद्ध, पृष्ठ १३-१४।

आते ही मेरा जीवन विष हो जाता है।'[1]

मेरी कल्पना ने मित्र-वियोग का विष भी रचना द्वारा उतारा।

दो

'गुजराती' साप्ताहिक मे एक धारावाही उपन्यास निकला करता था, और दीवाली पर एक उपन्यास की पुस्तक उसके ग्राहको को भेंट दी जाती थी। गुजराती उपन्यासो की परीक्षा करने मे 'गुजराती प्रेस' के सचालक बड़े सतर्क माने जाते थे।

१६१४ के आरम्भ मे अम्बालाल जानी ने मुझसे 'गुजराती' मे धारा-वाही कहानी लिखने का आग्रह किया। पहले तो मेरी हिम्मत नही पड़ी, परन्तु फिर कालम के चौदह आने छोडना मुझे भला न लगा। इसलिए कहानी लिखने का निश्चय किया और 'वेरनी वसूलात' का पहला खड लिखकर अबालाल भाई को दिया। 'गुजराती' के सपादक ने उसे स्वीकार किया और उस साप्ताहिक मे १६ अगस्त से 'वेरनी वसूलात' धारावाही कहानी के रूप मे प्रकाशित होने लगा।

मेरे इस प्रथम प्रयत्न का प्रारम्भ मे ही स्वागत हुआ। लेखक के रूप मे मैं अपना नाम गुप्त रखना चाहता था, कारण कि यदि जमीयतराम काका और अन्य सालिसिटर यह जान जाएँ कि मैं कहानी लिखने मे समय बिताता हूँ, इसलिए व्यवसास मे ध्यान नही देता हूँगा, तो वे ब्रीफ देना बन्द कर देंगे। परन्तु काका के दरबार के सूरती सालिसिटर 'घनमन' से प्रसन्न हो गए थे। प्रति सोमवार को जब 'गुजराती' मे पिछले सप्ताह प्रकाशित हुई मेरी कहानी की वहाँ चर्चा होती, तब अपने प्रयत्न की प्रशसा मैं मूक-भाव से सुना करता। उस कहानी ने काका और पकवासा के समान वृद्ध दुनियादारी मे रमे हुए व्यक्तियो का मन भी हर लिया।

एक मित्र की स्त्री ने उस कहानी को बहुत अधिक मान दिया। उनके

---

१. मुन्शी-कृत 'नवलिकाओ' ('मारी कमला अने बीजी वातो' का नया संस्करण) 'कोकिला', पृष्ठ ३६-३७-३८।

अंतिम दिन बीत रहे थे। पूरी कहानी पढने से पहले ही कही उनकी मृत्यु न हो जाए, इस विचार से वे मित्र उस कहानी के शेष भाग की हस्तलिपि लेने मेरे पास आये।

'वेरनी वसूलात' केवल उपन्यास ही नही, वरन् वह मेरे आत्म-विकास का एक सीमा-चिह्न है। इसमे केवल स्वानुभव ही नही, परन्तु आबदार स्वानुभवो का आलेखन है। यह सुन्दर कल्पना-सृष्टि यदि सच्ची होती, तो मैं कैसा होता, मेरी अपूर्ण आकाक्षाएँ पूर्ण हुई होती, तो मै सृष्टि कैसे रचता, वैराग्य प्राप्त करने के मेरे सारे प्रयत्न सफल हुए होते, तो मैं कैसा होता, इन सबका वह चित्र है। उसमें 'अरविन्द घोष' के स्पर्श और गीता के अध्ययन से सृजन की हुई मेरी आर्यत्व की भावना 'अनतानंद' के रूप में मूर्त हुई है। मुझे किसी गुरु की चाह थी, उसे मैंने 'जगत' को गुरु देकर पूर्ण किया।[1]

योग मे एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा योगी अपनी असतुष्ट आका-क्षाओ की तृप्ति के लिए इसी जन्म मे दूसरा स्वरूप धारण करके उन आकाक्षाओ को सन्तुष्ट कर सकता है। इसी प्रकार मैंने अपने पिछले नौ वर्षों की भावतरगो और अनुभवो को इस कल्पना-ससार मे व्यक्त करके उस असतोष को दूर किया।

१९,४ के सितम्बर की १२ तारीख को मैने वह उपन्यास सम्पूर्ण किया और निम्न विचार अकित किया—

"छ महीने के परिश्रम के पश्चात् अपना बडा उपन्यास सम्पूर्ण करने का सौभाग्य मुझे मिला है। सूक्ष्मतम भावो की तरगें और कल्पना-सृष्टि

---

१ 'वेरनी वसूलात' जिन लोगों ने नहीं पढ़ा, उनके लिए : 'जगत' बचपन में बालिका 'तनमन' से प्रेम करता है। तनमन के मरने पर वह पागल हो जाता है। स्वामी अनन्तानन्द उसे बचाते हैं; उसे गीता का आवेश और देश-भक्ति की शिक्षा देते हैं। अन्त मे वह राजनीतिज्ञ रघुभाई की पुत्री रमा से विवाह करता है और रत्नगढ़ का दीवान बनता है।

के विहार इस प्रकार पूर्ण हुए, जैसे बीते जन्म के सुखद स्मरण हो—दूसरो के लिए असत्य और मेरे लिए सत्य। पिछले कई हफ्तो से मुझे निस्तेज परन्तु सुन्दर रमा दीख पड रही है—अवास्तविक सृष्टि के उस पार से, घूमती-फिरती, बातचीत करती हुई, यह विचार करती हुई कि जगत भूमि पर सोए, तो उससे बिस्तर मे सोया जाएगा या नही, कुन्दन भाभी से खाना पकाना सीखती हुई। मै बेचारी गरीब शिरिन को देखता हूँ—एलफिस्टन कॉलेज मे जाते हुए, अकेले, स्वजनहीन, गभीर, और मेरा हृदय भारी हो जाता है। मै जगत के दृढ कदम, शिष्ट आवाज और शुष्क जीवन को देखता हूँ; और देखता हूँ अक्खड और उद्दण्ड रामकिसन को—रत्नगढ के युवक नरेश रणुभा को अपने स्वर्गीय स्वामी के तरीको पर चलाते हुए, आनद से उछलता हुआ बाल अरुण, 'भाई' और 'रमा बहन' के साथ दौड-भाग करता हुआ।

"मैं जगत को देखता हूँ—इस प्रकार, मानो वह मैं स्वय ही हूँ—उन्नत मानवता के पखो पर उडते हुए, 'अनन्त-मण्डल' को कीर्ति के और देश-भक्ति के पथ पर ले जाते हुए, अनन्तानन्द के महान् भारत के स्वप्न को सिद्ध करते हुए। यह सब मेरे लिए सत्य है, अपने वास्तविक जीवन से भी अधिक सत्य। इसे लिखते हुए मैंने जो आनन्द अनुभव किया, वैसा आनन्द मैंने कभी अनुभव नही किया। यह सृष्टि ऐसी जीती-जागती बन गई है कि मैं आधी नीद मे यह विचार कर रहा था कि कल सवेरे मैं त्योहार की बधाइयाँ किन पारसी मित्रो को दूँ तो विचार-ही-विचार मे शिरिन सजीव हो गई—विवाह को भावना-सम्बन्ध मानती हुई, जिसे पति समझा था, उसे गुरु स्वीकार करती हुई। उस बहादुर प्रणयिनी को भी मैंने इस सूची में जोड़ लिया।

"मेरे लिए यह बहुत बडा प्रयत्न कहा जाएगा। इसके अतिरिक्त उसमे आत्मकथा के परिच्छेद है, आत्मलक्षी प्रसग भी है, मेरी व्यक्तिगत भावनाएँ भी है, और इससे यह कहानी मुझे बहुत प्रिय मालूम होती है।

"आत्मकथन करने का यह प्रयत्न तब आरम्भ किया था, जब एक

मित्र के किये हुए विश्वासघात के कारण आत्मा को सयत करने वाली गीता का उपदेश स्वीकार किया था। अब मुझे पहले की तरह आत्मकथन की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत नही होती। पहले मै ऐसा लिखता था, जैसे कोई सयमहीन अरण्य मे क्रन्दन कर रहा हो, अब उसके स्थान पर स्वस्थ कथन कर सकता हूँ। सिर फोड डालने की वृत्ति को प्रबल होने दिए बिना अब मैं प्रिय वस्तु की बात कर सकता हूँ। अपनी उद्वेग-कथा मैं स्थिरता और शान्ति के साथ लिख सकता हूँ। वैराग्य साधने के अपने प्रयास के बिना यह कभी सम्भव न होता। इस प्रकार आत्म-सरक्षण की वृत्ति से स्वीकार किये हुए और बुद्धि द्वारा गौरवपूर्ण माने हुए गीता के आदेश के अनुसार ही मैं एक कदम आगे बढा—या पीछे हटा।

"तीन विभागो मे बँटी हुई इस कहानी के पहले दो भागो मे आत्म-कथा का समावेश है, परन्तु तीसरे भाग के विषय मे स्पष्ट करना पडेगा। तीसरे भाग का जगत मैं स्वय हूँ, परन्तु आदर्श के चित्रपट पर चित्रित स्वप्नचित्र के समान, जिसकी सिद्धि अनन्तानन्द और रमा के प्रभाव मे सदा असाध्य है—नि.श्वास छोडकर मृगजल की ओर जाने के समान।

"शिरिन एकदम काल्पनिक है—रमा का बुद्धि-प्रधान अर्धभाग, जिसे मैं प्रणयहीन विवाह के गढे मे नही डाल सका, इससे तो उसका हृदय ही टूट जाता। रमा भी काल्पनिक है। आजकल की हिन्दू बालिका के सीता और सावित्री द्वारा रचित मानव-बिम्ब मे—जिसके लिए मृदुता, नम्रता और आत्म-समर्पण सरलता से साध्य हैं—तेजस्वी स्त्रीत्व ऐसा ही रहेगा। सशक्त और वीर मानवता, वैराग्य-प्रधान मनोदशा का अभ्यास करने के पश्चात्, ऐसी ही कन्या के साथ मेल खा सकती है। रघुभाई की उस क्षीण और सुकुमार पुत्री के साथ जगत की तरह मैं भी प्रेम करने लगा हूँ। आज मेरा हृदय मग्न हो गया है, फिर भी यदि इस प्रकार की युवती मेरे साथ हो, तो मैं भी जगत् के साथ सन्धि कर लूँ।

"रघुभाई की रेखाएँ ऐसी है कि तुरन्त पहचानी जा सकें। प्रत्येक पाप करने पर भी टूटे-फूटे गौरव को धारण करती, झूठी मुस्कान और

असत्य शब्दो से नीच और स्वार्थी खिलाडीपन को ढकती हुई पुराने जमाने की प्रतिष्ठा की वे मूर्ति है। श्यामलाल के समान अत्याचारी, लोभी और उद्दण्ड व्यक्ति हमारे प्रत्येक सामाजिक क्षेत्र मे मिलेगे।

"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अनतानद का आलेखन करने मे मैं पूरा सफल नही हो सका। अपने आदर्शों के एकीकरण की कल्पना करना सरल था, परन्तु उसे जीवित व्यक्तित्व देना कठिन हो गया। तीसरे भाग मे समय और अवकाश के अभाव के कारण उस पात्र की ओर उचित ध्यान नही दे सका। उसके अपूर्व चरित्राकन के मुकाबले उसका अन्त जितना भव्य होना चाहिए था, नही हो सका।

"यह कहानी जिसकी प्रेरणा से लिखी गई है, वह जगत की हृदयेश्वरी तनमन सुन्दरता से चित्रित हुई है। परन्तु इस चित्र से मै असतुष्ट हूँ। जो सत्य था उसे उचित स्थान दिया है। जो काल्पनिक भाग था, वह भी अशोभनीय नही है। दूसरा भाग लिखते समय मेरे उद्वेग का पार नही था। यही मेरा अहोभाग्य था कि मैं उसे सूखी आँखो और अभग्न हृदय से पूर्ण कर सका। परन्तु उसका प्रत्याघात कठोर हुआ।

' इस प्रकार साहित्य द्वारा हृदय खोलने की मेरी रीति के प्रति चुस्त श्रेणी के टीकाकार अप्रसन्नता प्रकट करेंगे और मेरे इस अपराध को अक्षम्य समझेंगे। परन्तु मुझे अपने-आपको बीते काल से अपना सम्बन्ध तोड डालने का पाठ पढ़ाना था। योगी अथवा योगाभ्यास की इच्छा रखने वाले के लिए भूतकाल नही होता। हृदय के रहस्य एक बार प्रकट किये कि उनका विष उतर जाता है। फिर सारा ढाँचा नीरोग हो जाता है। बचपन की मूर्खता की कुछ निजी बाते किसी कठोर-हृदय, विवेक-शून्य व्यक्ति से कह दी गई हो और वह उनका मनमाना अर्थ लगाए, उसकी मदद से मनमानी गप्पें उडाए और मुझ पर मनमाने आक्षेप करे, इसकी अपेक्षा यदि मैं स्वय उन्हे दुनिया के आगे उपस्थित करूँ, तो इसमे क्या बुरा है ? मैं इस प्रकार आत्म-निवेदन करूँ, वही अच्छा है। जो सत्य मैंने लिखा है, उससे मैं चिपटा रहूँगा। एक भी आवश्यक शब्द मैंने

छोडा नही है। एक भी आवश्यक प्रसग मैं भूला नही हूँ। बारह वर्ष की वेदना, उद्वेग और प्रणय-द्रोह, किया अथवा नही किया—इसकी हृदय-वेधक या विषम आकुलता सब-कुछ पूर्ण रूप से देखते हुए मुझे लज्जित होने का कोई कारण नही है।

"शिरिन की तरह स ार, उसके कर्तव्य और मेरी आशाओ के भग्नावशेष ही अब मेरे हाथ मे रह गए है, और वे भी जगत के समान गुरु की प्रेरणा से रहित। वे ही अब मेरे अपने है।

"और यह आधी सत्य, आधी काल्पनिक सृष्टि, जो कि मेरे लिए सदा ही सत्य है, अब सिमट गई है, इस प्रकार जैसे पूर्वजन्म खत्म हो गया हो। किसी नवीन ही सृष्टि का सृजन करने के लिए मै अपनी निर्बल लेखनी फिर से उठाऊँगा, उसी प्रकार की कठिनाइयो के कारण जीवन मे भी नई सृष्टि की रचना करनी पडती है।

"और कौन जाने कब, मेरा वास्तविक और काल्पनिक जगत एकाकार हो जाएगा और मुझे निर्वाण मिलेगा!

"इस प्रकार जैसे मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ मनुष्य अन्तिम बार राम-राम' कहता है, उसी प्रकार रत्नगढ मे मानवता और सुकुमारता की गुथी हुई भावनाओ को मैं 'राम राम' करता हूँ। ये दोनो कल्पना-सृष्टि के सुमधुर जीवन-पथ पर जाती है···मेरी आँखो के आगे से अदृश्य होती हैं···और पीछे से मेरे जगत् मे रह जाते है केवल मैं और अन्धकार!"

इस प्रकार मैंने अपने जीवन की जन्म-कुण्डली बनाई। इससे मेरा स्वभाव, मेरी अभिलाषा और मेरा भविष्य बखूबी पढे जाते है।

१६१५ की २५ जुलाई को गुजराती भाषा मे यह सम्पूर्ण उपन्यास छप गया।

तीन

ज्योंही मेरी परीक्षा का परिणाम निकला त्योही मनु काका ने मुरारजी

चाल मे उसी मञ्जिल पर एक खाली ब्लाक किराये पर ले लिया। मेरी नई प्रतिष्ठा को शोभा देने वाले घर के बिना कैसे काम चल सकता था? तेतीस रुपये महीने किराया। जिस दिन मैं भडौच से आया, उसी दिन शाम को चोर-बाज़ार मे जाकर हमने टूटा-फूटा फरनीचर खरीदा और उसे मजदूर के सिर पर लादकर ज्योही हम ऊपर कमरे मे घुसे, त्योही उस नये ब्लाक की एकमात्र कुरसी पर छोटूभाई मलजी को बैठे देखा। वे मुझे बधाई देने आये थे। चोर-बाज़ार की टूटी-फूटी कुरसियो की भव्यता मे मढी हुई मेरी नई प्रतिष्ठा डोल उठी।

हमने नया जीवन आरम्भ किया।

जीजी माँ और लक्ष्मी आई। फिर से हम सब मानपत्र लेने गये। मई महीने मे वापस आकर जब हम शान्तिपूर्वक स्थिर होकर बैठे, तब मैंने हिसाब लगाकर देखा—कम-से-कम सवा सौ रुपये के बिना यह घर नही चल सकता; और ये कहाँ से लाए जाएँगे?

भडौच से ज़मीन और शेयर आदि से जो रकम मिलती थी वह केवल नाम-मात्र की थी। 'वेरनी वसूलात' लिखने से महीने मे पन्द्रह-बीस रुपये मिलते थे। मामा के परिचय से भडौच के एक सराफ के यहाँ खाता खोलकर यह व्यवस्था की कि जब मुझे आवश्यकता हो, तब महीने मे सौ रुपये वह भेज दे।

मुझे वह समय अच्छी तरह याद है। मैंने कभी खाता खुलवाकर कही से पैसे नही लिये थे। मामा के साथ सराफ के घर जाते मुझे बहुत ही शर्म आई। हस्ताक्षर करके पैसे ले तो आया, पर मुझे न जाने कब तक यह बात खटकती रही।

महीने की अन्तिम तारीख को मैं महीने का हिसाब किया करता, कितनी फीस जमा हुई यह सोचता। घर-ज़मीन बेच दूँ तो कितने वर्ष निभा सकूँगा, इसका अन्दाज़ा लगाता और फिर भडौच के व्यापारी से आवश्यकतानुसार पैसे मंगा लेता।

हर तीसरी तारीख को ब्लाक का किराया देना पडता था। इसलिए

एक-दो मित्रो से जब-तब कुछ रुपये लाकर तेतीस रुपये इकट्ठे कर रखता था, ताकि किराया वसूल करने वाला आये तो एडवोकेट साहब की इज्जत खराब न हो। इस सम्बन्ध मे मेरे स्वर्गीय मित्र ठाकुरदास मुनीम मुझे अनेक बार सुविधा कर देते थे।

पिताजी की सपत्ति का अधिकाश रुपया मेरे एक दूर के मामा की सलाह से 'स्पीशी बैंक' के शेयर मे रुका हुआ था। उस समय बम्बई मे चुनीलाल सरैया की धूम थी। उन्होने 'बैंक आफ इण्डिया' खोला और वहाँ से अलग होने पर 'स्पीशी बैंक' खोला। रोकड के मामले मे वे बेजोड़ माने जाते थे। अपनी पूँजी उनको सौपकर हम निश्चिन्तता से सो रहे थे, परन्तु पहले भारतीय बैंक का 'बनिया' सस्थापक, ईर्ष्या का शिकार हुआ और नवम्बर मे बैंक के दिवालिया होने की अरजी हुई। मैंने नोट किया—

'बैंक के केस मे चुनीलाल सरैया का बयान लिया गया। बादल बिखर गया। चार दिन तक वे कसौटी पर चढे। विरोधी सुनने वालो, क्रूर न्यायाधीश और हिंसक पशुओ के समान जाँच-पडताल करने वालो के सम्मुख वे स्वस्थता और निश्चिन्तता से खडे रहे—सारी परिस्थिति का तीक्ष्ण दृष्टि से अवलोकन करते हुए।" १३-११-१९१३

"चुनीलाल सरैया के विरोध वाली अरज़ी निकल गई। अब बैंक निर्भय हुआ। चुनीलाल महापुरुष है। इस समय उन्होने खूब शान दिखलाई; उनका व्यवहार शान्त और विश्वस्त था। उनके हिसाब सही-सही और उनकी युक्तियाँ अनन्त हैं। वास्तव मे वे बडे ही कुशल व्यक्ति है।"

२४-११-१९१३

परन्तु उन्होने पहला बड़ा हिन्दुस्तानी बैंक खोलने का अपराध किया था, इसलिए उन्हे दबाने के अनेक प्रयत्न चलते रहे।

"चुनीलाल सरैया आज सवेरे साढे आठ बजे गुज़र गए। कहा जाता है कि हृदय की गति बन्द हो गई। 'स्पीशी बैंक' दिवालिया हो

गया। बादल टूट पडा। अपनी अल्प आय के दिनो मे, जिस रकम पर भरोसा रखा था, वह साथ ही डूब गई।" २६-११ १६१३

अब केवल भडौच के बनिये का ही आधार रहा। परन्तु ईश्वर ने लाज रख ली। उसके पास से लगभग सात सौ रुपये से अधिक रकम लेने की आवश्यकता न पडी।

१६१२ या १३ मे हमारे गृह-ससार के अनुभव की विचित्र परीक्षा हुई। ठाकुरलाल पड्या—पड्या काका—बडौदा के पुराने मित्र थे।[1] बडे विनोदी, बड़े स्नेही। उन्हे गायकवाड-सरकार ने स्कॉलरशिप देकर अमेरिका भेजा। पड्या काका की पढने मे गति कम थी, परन्तु लोगो के हृदय पर अधिकार पाने मे वे एक ही थे। अमेरिका मे रहकर डॉक्टरेट की तैयारी के दिनो वे वहाँ के बडे-बडे लोगो के घर मे प्रिय बनते जा रहे थे। अपने वहाँ वाले मित्रो के हृदय पर काबू करने के लिए वे हमेशा भारत की अनोखी चीजे हमसे मँगाया करते थे। हम लोगो को वे सब लानी पड़ती, पार्सल तैयार करने पडते और अमेरिका भेजने पडते। अन्त मे हम सब तग आ गए। पड्या पढने गये है या खुशामद करने, यह हमारी समझ मे नही आया। एक दिन हमे मौका मिल गया और एक पार्सल की चीजो के साथ हमने बूट-पॉलिश की खाली डिबियाँ और एक जोडा फटा जूता भी रखकर भेज दिया।

जब पार्सल पहुँचा, तब पड्या काका किसी पैसे वाले के मेहमान बनकर मजे कर रहे थे। हिन्दुस्तान से आई हुई चीजें देखने के लिए उन्होंने घर के सब आदमियो को इकट्ठा किया। पार्सल खोला गया। फटे जूते का जो ा और पॉलिश की डिबियाँ भी अन्य अनोखी चीजो के साथ बाहर निकल पडी।

गुस्से मे भरे हुए पड्या काका ने हमे गालियो से भरा हुआ पत्र लिख भेजा। इसके बाद हमारा पारस्परिक व्यवहार जरा कम हो गया।

---

१. मुशी-कृत 'आधे रास्ते', पृष्ठ १५८।

बाद में जब वे हिन्दुस्तान लौटे, तब उनके वृद्ध पिता उन्हें लेने के लिए बम्बई आये। अंकलेसरिया, प्राणलाल भाई, मैं, मनु काका और पी० के०—हम सबने निश्चय किया कि पंड्या काका ने हमारे साथ जैसा अभिमानपूर्ण बरताव किया है, उसका अच्छी तरह बदला लिया जाए।

लक्ष्मी, मैं और मनु काका भोज की तैयारी के विषय में विचार करने बैठे। तीनों में से किसी को पता नहीं था कि प्रति मनुष्य कितना हलवा बनाया जाए। बड़े विचार के बाद यह निश्चय हुआ कि प्रति मनुष्य तीन पाव सूजी होनी चाहिए।

हम पंड्या को लाने के लिए गये। बन्दर पर से हार पहनाकर अपने घर लाए और दरवाज़े अन्दर से बन्द करके सब पंड्या काका को मारने बैठ गए। पंड्या की समझ में कुछ न आया।

कोई कहता—'चिवड़ा', कोई कहता—'बूट पालिश', कोई कहता—'बादाम की पूरी।' पंड्या काका के अमेरिका के शानदार और इस्तरी किये हुए कपड़े बिखर गए। उन्होंने जो अभिमान प्रदर्शित किया था, उसके लिए माफ़ी मँगवाकर ही हमने चैन ली। इसके बाद सब खाने के लिए बैठे। घी और शक्कर डालने पर हलवा तीस आदमियों के खाने लायक बन गया था और हम थे केवल दस आदमी। बड़ा पतीला देखकर सब लोग हँसने लगे। लक्ष्मी की लज्जा की सीमा नहीं थी। हमने निश्चय किया कि जिस प्रकार भी हो, पतीला खाली किया जाए। पंड्या काका के लिए तो कॉलेज में यह कहावत मशहूर थी कि 'पंड्या के पेट में पिचासी पूरियाँ' और उन्होंने इसे वहाँ सार्थक कर दिखाया। अंकलेसरिया और अन्य लोगों ने भी ऐसे पराक्रम कर दिखाए, जो न कभी सुने गए थे और न कभी वर्णन किये गए थे; परन्तु द्रौपदी के अक्षयपात्र की थाह मिलते किसी ने सुनी है !

महारथी हार गए !

चार

ता० १२-`-१३ को मुझे बधाई का पत्र लिखने के बाद से जीजी माँ की स्थिति भी बदल गई। उनकी तपश्चर्या फलीभूत होती मालूम हुई। बचपन की बैरिन रुखीबा अब सहचरी बन गई थी। एक सम्बन्धी के गोद लिये लडको को पालना शुरू किया था, वे भी अब बडे हो गए थे।

मृत पुत्रियो के बालक भी ठिकाने लगने लगे थे। अध्यात्म-ज्ञान से उनके मन को सन्तोष मिल रहा था। बहू को दिन चढे हुए थे, इससे यह चिन्ता भी दूर हो गई थी कि वह अवसर कभी आएगा या नही और अब 'भाई'[1] भी पास हो गया।

दूसरे दिन जीजी माँ और बहू बम्बई के लिए रवाना हुई। उनके उत्साह की सीमा नही थी। वे बम्बई के नये घर मे आकर रही। 'भाई' को म नपत्र मिलते देखकर वे हर्ष से फूली न समाईं।

हम सब पुन भडौंच आये। टेकरे पर फिर से चमक आई। परिवार के नाई से हण्डे साफ कराये गए। तख्तो की गन्दगी दूर कराई गई। गलीचे झडवाकर बिछवाये गए। पहले की तरह लोग मिलने के लिए आने लगे। हार, गुलदस्ते, चाय-पानी, मानपत्र का ताँता लग गया। "आखिर कनु ने पिता की इज्ज़त रखी। कही आज इसके पिताजी जीवित होते, तो!" जीजी माँ के जीवन की यह एक अभिलाषा पूर्ण न हुई। उस वर्ष जीजी माँ ने अकित किया—

"जीवन के इन उनसठ वर्षों का निरीक्षण किया। इनमे सुख और दु ख दोनो निरन्तर आते है और जाते है। मनुष्य उत्पन्न होता है और मरता है। वर्षा आती है और शीत और ग्रीष्म भी आते है। क्षण मे सुख और क्षण मे दु ख। क्षण मे चिन्ता और क्षण मे सन्तोष। हर्ष और शोक की इस रचना के सिवा मैंने और कुछ भी नवीनता नही देखी। फिर मन

१. पुत्र के लिए प्रेम से किया हुआ सम्बोधन। गुजरात में 'बहन' और 'भाई' सम्बोधन प्रत्येक के लिए प्रयुक्त होता है।

के इस मिथ्या भ्रम मे डूबकर अशान्ति क्यो भोगते रहे ? अत शान्ति ! शान्ति !

जोनी जीव तु जागी रे, आ मोह नी माया,
मिथ्या माया दे त्यागी रे, आ मोह नी माया।

(यह सब मोह-माया है, तू जागकर जीवन बिता, इस मिथ्या माया का त्याग कर दे) ··चित्त मे माया ने अत्यधिक प्रवेश किया है, इससे सारे जीवन मे इसका अनुभव हुआ। पश्चात् पार्वतीबाई माता (बढवान की एक भक्त वृद्धा) मिली। विह्वल मन को कही शान्ति मिले इसके लिए भटकना शुरू किया। इस प्रकार करते हुए सम्वत् १९६६ मे तिलोत्तमा और रसिक[1] का जन्म हुआ ··

१९६८ के वैशाख मे हम हजीरे गये, १९६९ की फाल्गुन सुदी में सीमन्त लेकर कुमुद[2] आई। दस दिन का स्नान किया···भादो सुदी पूर्णिमा को बोलते-बोलते स्वर्गवासिनी हुई—पन्द्रह दिन का छोटा बच्चा छोडकर। मायावी दृष्टि से देखते हुए उसमे रूप-गुण की कमी नही थी। मैं, अति, रसिक, सरला देवी बम्बई आये हुए हैं···" ६-११-१९१३

इस अकन मे अपने जीवन पर लिखी हुई कविता भी थी, जिसकी कुछ पक्तियाँ उनकी मनोदशा व्यक्त करती है—

रमता जमता कूदता करता झाझा लाड,
माणेक आभूषण पहेरी ने करता केसर आड।
नाहता निर्मल जलथकी ता··ी जे कहेवाय,
स्वर्ग समु सुख माणता आनन्द अग न माय।
गगने ऊँचे देखता तारागण चमकार,
मन्न रेखा त्याँ ओपती ईश्वर नो उपकार।
जोत-जोता माँ थातो जडी अलभ्य वस्तु एक;
ईश्वर नी सत्ता थकी करता चमन कलोल।

---

१ मेरी बहन और भानजे की लड़कियाँ।

२ मेरी छोटी बहन की लड़की।

निर्भर थई ने महालता दया लावता मन,
घनश्याम मूर्त्ति आवी रही, दिवस थयो त्याँ धन्य ।
सूर्य समोवड वदन ने सविता जेवुँ रूप,
आ समे ते जाणता सघली बात अनूप···।'

(खेलते, खाते, कूदते और बड़े लाड करते, 'माणिक' का आभूषण पहनकर केसर की बिन्दी लगाते, जो तापी कहलाती थी, उसके निर्मल जल से नहाते, स्वर्ग के समान सुख भोगते, आनन्द की सीमा नही थी। ऊपर गगन पर तारो का चमत्कार देखते, वहाँ मन की रेखा ईश्वर के उपकार से दीप्त हो जाती थी। देखते-देखते इतने मे एक अलभ्य वस्तु प्राप्त हुई, ईश्वर की सत्ता से वाटिकाएँ कल्लोल कर उठती है। निर्भय होकर घूमते हुए, मन मे दया लाते हुए, वह धन्य दिन आया, जिस दिन घनश्याम की मूर्ति आई। सूर्य के समान उसका वदन और सविता के समान रूप था। इस समय यह सारी बात अनुपम मालूम होती है···)

इस प्रकार जीजी माँ ने सारे जीवन का सार अंकित किया। और अन्त मे कहती है—

'हवे लक्ष्मी अति घणी, आवी छे घर माय,
स्वप्नु एक पूरु थयु ने, बीजो दिवस त्याय।'

(अब घर मे अत्यधिक लक्ष्मी आ गई है। एक स्वप्न पूर्ण हुआ और दूसरा दिन आया।)

बाद मे इस अंकन मे जीवन-मुक्ति खोजने वाला एक भजन लिखा है।

जीजी माँ के हृदय मे भी सुधारक पुत्र का उत्साह उत्पन्न हो गया। जो किसी भार्गव स्त्री ने नही किया था, वह उन्होने किया। लाडले बेटे की बहू के सीमन्त का भोज अपनी खुशी से रोक दिया। लोग तड़पे। समधिन ने गालियाँ निकाली। "मेरे बेटे ने दस वर्ष तक इस सुधार के लिए प्रयत्न किये हैं। किसी ने नही माना। आज मैं ही इसे अमल मे ला रही हूँ।"

जीजी माँ के पास आध्यात्मिक या व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के

लिए अनेक विधवाएँ आया करती थी। उन सबको वैधव्य की दासता की एक ही प्रथा कष्ट देती थी—प्रति सप्ताह नाई के आगे सिर झुकाने की। अट्ठावन वर्ष की आयु मे जीजी माँ ने उन्हे सान्त्वना दी, स्वय इस दुष्ट प्रथा को बन्द किया और सिर पर बाल रखने आरम्भ किये।

शिष्टाचारी बुद्धिमानो को आघात पहुँचाने वाले कार्य करने की आदत मुझे जीजी माँ से वसीयत मे मिली हैं।

पुत्र और बहू का ठिकाना हो जाने पर, जीजी माँ के हृदय मे जो अडसठ तीर्थों की यात्रा करने की लालसा थी, उसे पूर्ण करने की उनकी इच्छा हुई। उन्होने ठाकुर भाई से कहा, ठाकुर भाई ने भाभी से कहा, भाभी ने अपनी माँ से कहा। चारो व्यक्ति अडसठ तीर्थ करने के लिए निकल पडे—जिस प्रकार छोटे बच्चे मौज करने निकल पडते हैं, उसी प्रकार। उस यात्रा का हिसाब और रोज-रोज लिखी हुई डायरी आज मेरे सामने पड़ी हुई है।

पाँच

पुराण की कथाओ से सराबोर उनकी स्मरण-शक्ति ने इन तीर्थ-स्थानो के परिचय से पौराणिक जीवन को मूर्तिमान किया। जीजी माँ को नई प्रेरणा मिली। इसके बाद वे बम्बई आई। वहाँ भी जीजी माँ ने आसपास की स्त्रियों को आकृष्ट किया और अपनाया। उनमे की एक चतुर, परन्तु अनपढ स्त्री, चचल पति के अत्याचार से पिसकर, आत्म-घात करने का विचार कर रही थी। जीजी माँ ने उसे बचा लिया; उसे घर सँभालने वाली और भजन गाने वाली बनाया। इस विषय मे उनके पत्रो मे अकित है।

जीजी माँ इसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करती रहती थी कि 'भाई' और उसकी बहू का सम्बन्ध आपस मे सुन्दर और प्रेमपूर्ण हो जाए।

श्रावणी पूर्णिमा का दिन था। हठ करके जीजी माँ ने बहू को मेले मे ले जाने के लिए 'भाई' से कहा। बहू को साथ लेकर जाना 'भाई' को

पसन्द नही था। माँ की बात मानकर 'भाई', बहू और सरलादेवी को साथ लेकर मेले मे गया।

विक्टोरिया मे बैठकर जाना उस समय बडा मँहगा पडता था। बोरीबन्दर के सामने मेला था। वहाँ 'भाई' और उसकी बहू गाडी से उतरकर सरलादेवी के लिए गुडिया खरीदने गये। भीड मे किसी बदमाश ने उसके हाथ से सोने का कडा निकाल लिया। उदास मुख, सौ रुपये का कडा गँवाकर, छ आने की गुडिया लिये बेटा-बहू वापस घर आये।

परन्तु अब जीजी माँ को थोडा सन्तोष मिला था। सरलादेवी के आने के बाद से बहू पर 'भाई' की ममता बढ गई थी। बहू भी उसे रिझाने के प्रयत्न करती रहती थी।

बहू बुद्धिमान, सयानी, कम बोलने वाली और हँसमुख थी, परन्तु पढने की अशक्ति स्वाभाविक थी। पति की परिचर्या मे वह मग्न रहती, परन्तु उसके कार्य मे उसे दिलचस्पी नही थी। वह कम बोलती, नाम-मात्र को पढती थी।

जीजी माँ को प्रतीत हुआ कि 'भाई' के स्वभाव की आवश्यकता तो भिन्न ही थी। उसे तो एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो उसके विचारो और कार्यों मे दिलचस्पी लेता रहे। साठ वर्ष की आयु मे यह कमी पूरी करने का उन्होने प्रयत्न किया। जीजी माँ ने पुत्र के त्रैमासिक मे लेख लिखना शुरू किया। 'कोई स्त्री नही लिखती, इसलिए मैंने लिखने का सकल्प किया है,' उन्होने अकित किया। अपने अनुभव-भडार से वे माताओ, पत्नियो और सासों को शिक्षा देने लगी।

'अर्धांगिनी कौन है? तुम पति का आधा अग हो, फिर आधे अग को भूखा रखकर दूसरा स्वाद से कैसे खाए? एक का स्वाद भिन्न और दूसरे का स्वाद भिन्न? आधे मुख पर शिष्टता और आधे मुख पर अशिष्ट भाषा? आधे अंग से सदाचरण और आधे अग से पापाचरण? आधे चित्त मे देश, जाति, घर, परिवार और माता-पिता के लिए सद्‌भाव और दूसरे चित्त मे परिवार, घर और पति के माता-पिता के लिए दुर्भाव?

ज्ञान की बातें कहाँ रही ? एक तो ज्ञान मे गहन कार्य करे, दूसरा ज्ञान-अज्ञान क्या है, यह समझने का कष्ट भी न उठाए, क्या यह अर्धांगिनी है ? इससे तो बेचारे पुरुष को तुम पक्षाघात का रोगी बनाती हो। आरम्भ मे ब्रह्मा के पाँच मुख थे। एक बार वे देव-सभा मे बैठे थे। चार मुखो से उन्होने वेदोच्चारण किया और पाँचवाँ, जो गन्धर्व मुख था, उससे भो-भो शब्द हुआ। हमारे महादेवजी को जानती हो न ? उन्हे बडा क्रोध आया और उसी समय उन्होने ब्रह्मा का वह सिर काट डाला।'

और उनका मन पुन -पुन परशुराम की माता रेणुका की ओर झुका। उस पर उन्होने कविता रची। १-४-१५ को उन्होने सास के कर्तव्य पर लेख लिखा। त्रैमासिक के लिए स्त्रियो को परामर्श देती हुई और ज्ञानतृषा के लिए प्रेरित करती हुई कविताओ की रचना की। जाति के अन्तर्विभागो मे विवाह-सम्बन्धी जारी कराने का आग्रह 'भाई' किया करता था, उन्होने उसका समर्थन किया और साथ ही दो-तीन अन्तर्विभागीय विवाहो का आयोजन कराकर उन्होने पुत्र को यश दिलवाया।

१९१६ मे दु ख का बादल घिरता मालूम हुआ और जीजी माँ के प्राण होठो पर आ गए। 'भाई' के हमेशा पेट मे दर्द हुआ करता था। डॉक्टर ने कहा कि इसका कारण 'एपेण्डिसाईटिस' का रोग है। बम्बई के डॉक्टर पर विश्वास नही हुआ, अत डॉक्टर वानलेस द्वारा उनकी शल्य-क्रिया कराने के लिए दलपतराम-सहित सब मिरज गये। पैसे की दृष्टि से स्थिति खराब, एक-मात्र लडके का ऑपरेशन, परन्तु जीजी माँ ने सोचा कि हर तीन महीने बाद लडका कष्ट पाए, इसकी अपेक्षा रोग निकलवाना ही अच्छा है।

मिरज जाने के लिए पैसे नही थे, इसलिए 'भाई' ने एक मित्र से पाँच सौ रुपये लिये। ऑपरेशन कराने के लिए टेबल पर सोने से पहले 'भाई' को एक ही चिन्ता थी कि यदि वह इस ऑपरेशन से न बचा, तो जीजी माँ और लक्ष्मी का क्या होगा ? जीजी माँ ने हिम्मत बढाई—"भाई ! महादेवजी बैठे है, वे हमे कैसे भूल जाएँगे ?"

जीजी माँ ने लगकर सेवा की और 'भाई' का जन्म-दिवस आने तक मिरज मे रहीं। उस दिन उन्होने अकित किया—

"साल ओगणीस ने सोल माँ,
गयो तुज तन रोग ,
धनवन्तरि वानलेस मल्यो,
गाम मीरज सयोग ।
पूरु सत्तर साल ,
श्रीशभु आनन्द थी
सुख संपत ने सतति ,
रहो तने चिरकाल ।" २६-१२-१६

(१६१६ मे सयोग से मिरज गाँव मे वानलेस-रूपी धन्वन्तरि मिला और तेरे शरीर का रोग दूर हुआ। १६१७ मे तेरा तीसवाँ साल आनन्द से पूर्ण हो और तुझे चिरकाल तक सुख, सम्पति और सन्तति प्राप्त रहें।)

मिरज से वापस आने पर पैसे की बडी तगी रहने लगी। स्पीशी बैंक के टूटने से वहाँ रखी हुई पूँजी चली गई थी। 'भाई' चिन्ता किया करता। मित्रो से उधार लेता, व्यापारी से पैसे लेता। 'अब क्या होगा' की चिन्ता जीजी माँ को हमेशा हुआ करती।

जीजी माँ ने बहू को प्राचीन सती बनाया था। किसी पर-पुरुष को वह अपने पाथ से पानी भी नही देती थी, देना होता तो प्याला भूमि पर रख देती थी ' अब उन्होने उसे अर्वाचीन बनाने का प्रयत्न आरम्भ किया। इच्छा बहन बहू को ले जाती और उनके ससर्ग से कुछ सुधार हो रहा था। परन्तु अभी वह 'भाई' के मित्रो के साथ नही हिल-मिल सकती थी।

'भाई' के मित्रो मे स्नेही मंगलभाई जीजी माँ के साथ पुत्र की तरह बरतता था। उसकी नम्र और मृदुभाषिणी पत्नी पर जीजी माँ का असीम प्यार था। कणिया और उसकी पत्नी पर भी प्यार था। चन्द्रशकर, मास्टर और तारा बहन, इन्दुलाल, विभाकर, ये सब तो पुत्रों के समान प्रेम से भरे जीजी माँ के आकर्षण-वर्तुल मे आए।

'भाई' के राजनीतिक क्षेत्र मे आने पर वे भी उसमे दिलचस्पी लेने लगी। अखबार मे उसका नाम छपता, तो वह अश काटकर सँभालकर रख लेती थी। 'होमरूल' के विषय मे जानकारी प्राप्त करके उसे अकित किया, भडौच मे आन्दोलन के सिलसिले मे स्त्रियो की सभाएँ की। १९१८ मे जब लोकमान्य तिलक आये और सारा शहर उलट पड़ा, तब भड़ौच की स्त्रियो की ओर से उनका स्वागत करने के लिए वे गई थी। इस प्रकार 'भाई' की प्रवृत्ति के साथ जीजी-माँ ने तादात्म्य किया और उसे सहायता देने के लिए सीग तुडवाकर बछडो मे शामिल हुईं।

१९१८ मे जब जगदीश उत्पन्न हुआ, तब जीजी-माँ बडी प्रसन्न हुईं। सरलादेवी और जगदीश दोनो ने जीजी-माँ को जगत् के साथ नये ततु मे बाँध लिया। उनके आने से 'भाई' भी बदल गया। उसका और उसकी बहू का सम्बन्ध अधिक स्नेहपूर्ण हो गया।

दोनो बच्चे भाग्यशाली थे। एक के आने पर 'भाई' पास हुआ, दूसरा पैसे लेकर आया, वह आया और पहली अलमारी खरीदी गई। बहू ने पहला आभूषण देखा।

आमदनी बढी कि तुरन्त अस्सी रुपये किराये के मकान मे हम रहने के लिए गये। पर बाद मे पता लगा कि वह घर अशुभ था। ठीक हवादार भी नही था। रोज़ रात को जगदीश चीख पडता। घर बदलने का विचार किया। 'भाई' दो सौ रुपये किराये का घर ठीक कर आया—सुघड, सुन्दर, हवा और रोशनी वाला। सवेरा होते ही बाबुलनाथ के शिखर के वहाँ से दर्शन होते थे।

अब पैसे की तगी दूर हो गई, ऋण चुका दिया गया, आवश्यक चीज़े लेने के लिए हाथ बढाया जा सकता था। मुहम्मद को बारह रुपये की जगह पच्चीस रुपये देने आरम्भ किये, वह भी दु ख-सुख का भागी था, उसे कैसे भूला जा सकता था! इस प्रकार 'भाई' के हाथ मे पैसे आते, पर टिकते नही थे।

भडौच मे 'गुजरात शिक्षा सम्मेलन' हुआ। 'भाई' लगभग पन्द्रह

मेहमानो को ले आया। टकरे पर धूम-धाम मच गई। मास्टर की पत्नी तारा-देवी और उनकी बहने भी साथ थी। उनके स्वतन्त्र रहन-सहन से भार्गवो मे हलचल मच गई। चन्द्रशकर था विनोदी, उसके विनोद की सीमा नही थी। सम्मेलन मे जीजी-माँ जिस समय उपस्थित हुई, उस समय महात्मा गाधी अध्यक्ष थे।

उस समय जीजी-माँ ने अनुभव किया कि अब हवेली मे गुजारा नही हो सकता, और अर्वाचीन जमाने की सुविधाएँ भी वहाँ नही थी। कसनदास मुन्शी ने हवेली बनवाई थी, तो उनका वशज क्यो न बनवाये? 'भाई' से कहा, उसने स्वीकार कर लिया। नक्शे बने, औसत निकाली गई और जीजी-माँ हवेली बनवाने के लिए भड़ौच मे रहने लगी। भडौंच मे रुखीबा भी थी। अब एक रसोइयन खाना बनाने वाली रखी और एक ऊपर काम करने वाली भी रखी। पैसा आता और खर्च हो जाता। ठाकुर भाई और मुहम्मद सहायता के लिए थे ही। भडौच मे इतने बडे घर के सिवा लडके का परिवार कैसे समाता?

छः

उस समय भडौच मे एक आदर्श ब्राह्मण था—दुर्गाशकर दवे। १८९७ मे जब परिवार का विभाजन हुआ तब जीजी-माँ ने युवक दवे को कुल-ज्योतिषी निश्चित किया था। वह अथर्ववेदी था और उसी समय काशी से पढकर आया था, इसलिए जीजी-माँ को उस पर श्रद्धा थी।

दुर्गाशंकर था भी टेक वाला ब्राह्मण। यजमान न बुलाता तो एकादशी को भी उसके घर दक्षिणा लेने नही जाता था। १९१९ मे दुर्गाशकर ने चालीस वर्ष की आयु मे विप्रत्व के आदर्श सिद्ध करने आरम्भ किये थे। तीन बार रेवाजी मे नहाते, त्रिकाल सन्ध्या करते, रोज घण्टा-दो घण्टा ध्यान लगाकर बैठते और जाति-भोजो मे पैर भी न रखते थे। नये जमाने मे पुरोहित ज्योतिषी जहाँ दुतकारने पर भी दक्षिणा के लिए घर-घर घूमते हैं, वहाँ दवेजी कुछ घरो के सिवा, बुलाने पर भी शायद ही जाते थे।

जिसे ज्योतिष लगवाना होता, वह उनके घर जाता। खाने को न मिलता, तो वे और उनकी पत्नी उपवास रख छोडते थे।

जीजी-माँ जब भडौच जाती, तब दवेजी को बुलाती। वे भागे हुए आते, बैठते और गीता, योगवासिष्ठ और पचदशी की बातें करते। जीजी-माँ जानती थी कि दवेजी के कठिन व्रतो के कारण कभी-कभी उन्हे खाने को भी नही मिलता था। 'भाई' से पूछकर जीजी-माँ ने उन्हे पन्द्रह रुपये देने की बात कही। परन्तु उस विप्र ने इनकार करते हुए कहा—

"जब तक आप भडौंच रहेगी, मै रोज आऊँगा, कुछ पढा करूंगा, परन्तु अध्यात्मज्ञान की बातें करने के लिए पैसे नही लूँगा।"

दवेजी पैसे किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं, यह एक प्रश्न था। सीदा भेजा जाए, तो वह ठीक समझेंगे तभी लेगे।

उस समय जीजी-माँ ने स्वाध्याय पर एक विचार लिखा था।

"ज्ञानी जन कहते हैं कि जहाँ दृष्टि डाले वहाँ ताव ही है, यह कथन झूठ नही है। प्रत्येक पदार्थ के प्रति ऐसी तन्मयता प्राप्त कर लें, तो उसका स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है। जहाँ एक बार ऐसी तन्मयता सिद्ध हुई कि उस मार्ग पर तुम दौडते चले जाओगे, कभी तुम्हे पाँच क्षण के लिए कोई रोक ले तभी रुकोगे, अन्यथा चलते रहोगे। कारण कि तुम्हारा लक्ष्य-बिन्दु तन्मयता सिद्ध करके प्राप्त किया गया है। चाहे व्यवहार-ज्ञान प्राप्त करना हो, चाहे पढाई का ज्ञान, जहाँ भी जाओ, ज्ञान-प्राप्ति के लिए सबसे पहले तन्मयता का उपयोग करना, जिससे उच्च जीवन बिताया जा सके।'

धीरे-धीरे दवेजी ने दुष्कर व्रत रखने आरम्भ किये। सवेरे दस बजे तक ध्यान लगाकर बैठते, दोपहर से रात तक जीजी-माँ के समान किसी से मिलने जाते या देव-दर्शन के लिए बाहर निकलते। ज्योतिषी का व्यवसाय भी उन्होने बन्द कर दिया।

जब मैं भडौंच जाता, तब वे मुझसे मिलने आते। मैं भी उनसे मिले बिना नहीं रहता था।

कुछ वर्ष पहले मै भडौंच गया और दवेजी का हाल पूछा। वे अपने घर के ऊपरी खड पर सारा दिन पूजा-पाठ मे बिताया करते थे। उनकी पत्नी दो बार भोजन कराने ऊपर जाया करती थी। दो बार वे स्वय रेवाजी-स्नान के लिए जाया करते थे। इसके अतिरिक्त बाहर न निकलते थे। मै दूसरे दिन बम्बई वापस जाने वाला था।

उनकी स्त्री ने उनका ध्यान भग करते हुए कहा—'कनु भाई आये है।"

तब उन्होने खिडकी खोली। कौपीन पहने, हाथ मे माला लिये, दवेजी मृग-चर्म पर बैठे थे। व्रत कर-करके उनका शरीर हड्डियो के पिंजर के समान बन गया था। मैने उनके स्वास्थ्य का हाल पूछा। दवेजी ने कहा—"जब तक चोला है, तब तक तो मुझे ब्राह्मण-धर्म का पालन करना ही पडेगा। भगवान् मेरे समीप हैं, फिर और मुझे क्या चाहिए!"

इन शब्दो मे दम्भ नही था। भार्गव ब्राह्मणो मे इस अल्प-परिचित, परन्तु शुद्ध ब्राह्मण को मैंने अन्त करण से प्रणिपात किया। नीचे उतरकर मैंने उनकी पत्नी के हाथ पर पच्चीस रुपये रखे। वे ऊपर जाकर पूछ आईं। दवेजी ने कहा—'कनुभाई ने दिये है, इसलिए पाँच रख लो, बाकी वापस कर दो।"

मैं विचार करता हुआ घर आया। यह है ब्राह्मण, जिसने विद्या प्राप्त की, पर बेची नही। दान लिया पर यजमान की कृपा से नही, अपनी कृपा के मार्ग से, जिसने अपनी आत्मा को एकनिष्ठ ब्राह्मणत्व की अटलता से प्रभु के चरणो पर रख दिया। ऐसे लाखो व्यक्तियो के आत्म-बल से ही आज हजारो वर्षों से ब्राह्मणो की सस्कृति टिकी हुई है, मुझे ऐसा विचार आया।

जीजी-माँ 'भाई' के हृदय के एकाकीपन को समझती थी और उसे दूर करने के अनेक प्रयत्न कर रही थी। जब वह बच्चा था, तब उसका स्वभाव जैसा विशुद्ध था, आज भी वैसा ही था। जीजी-माँ पूछती और 'भाई' अनेक बातें करता कोर्ट की, न्यायाधीशो की और राजनीति की;

बीसेण्ट और तिलक की, दास और गाधीजी की। अपनी पिछली लिखी हुई कहानी या निबन्ध पढकर सुनाता। पिछली प्रकाशित हुई कहानी पर कही टीका निकली होती, तो वह भी सुनाता। गीता और योगसूत्र की अपनी कठिनाइयो के विषय मे भी चर्चा करता, और जीजी-माँ प्रसन्न होती। 'भाई' के हृदय मे उठती तरंगो और भावनाओ मे भी वे दिलचस्पी लेती।

१९२० मे 'भाई' अपनी बहू के साथ घूमने-फिरने लगा। इससे उसका असन्तोष अदृश्य हो गया हो, ऐसा प्रतीत हुआ।

उसी वर्ष उषा का जन्म हुआ और जीजी-माँ ने लक्ष्मी से कहा—"सरला और जगदीश मेरे, और यह लडकी अब तेरी है, इसे तू पालना।"

अनेक बार जीजी-माँ 'भाई' को देखती रहती—सोफे पर पडकर ब्रीफ पढते हुए, और उसकी छाती पर होती थी गोल-मोल श्वेत रूई की तरह सुकोमल उषा। वह न बोलती थी न रोती थी, समझदारी से बाप की ओर वह टुकुर-टुकुर ताकती रहती, शान्ति और स्थिरता से, मानो पूछ रही हो—"पिताजी, तुम कैसे मूर्ख हो?" और जब उसे उस सिंहासन से उतरना होता, तब अपने-आप उतरती और चढना होता, तब फिर चढ जाती।

जीजी-माँ को अपने दोहित्र की चिन्ता सताती। धनु उसे एकदम छोटा छोडकर मर गई थी। बाप का मुख भी उसने नही देखा था। स्वयं उसे पाला था, उसका विवाह किया था। 'भाई' ने अपनी तगी की ओर न देखकर उसे पढाया था। स्वभाव का वह उतावला था। न बोलने योग्य बातें बोल बैठता और जीजी-माँ को बुरा लग जाता। अशिष्टता होते देखकर जीजी-माँ हमेशा काँप उठती, वे न किसी से हीन वाणी बोलती न किसी की सह सकती थी।

सात

सरला का जन्म होने पर मैंने अंकित किया—

'मैं पिता बन गया। एक कर्तव्य बढ गया। एक ज़िम्मेदारी अधिक हो गई। निस्त्रैगुण्य होने के लिए अधिक प्रयत्न करने पडेगे। प्यार के योग्य बने, तो अच्छा।'

निस्त्रैगुण्य होने की बात अंकित तो की, पर सरला जब से पैदा हुई, तभी से मेरी लाडली बन गई। और इससे आगे जाकर लक्ष्मी का और मेरा सम्बन्ध नये स्वरूप मे बँध गया। मैं उस समय निस्त्रैगुण्य होने के लिए बच्चो के-से प्रयत्न कर रहा था।

मेरा भगवद्गीता का अध्ययन विचित्र था। उसके एक श्लोक का जप कर-करके आवश्यक मनोदशा का पोषण करने की तो मुझे कभी से आदत पडी हुई थी। 'हो मने भूनी गयो छे मारो छेलडो रे' ('मेरा प्रियतम मुझे भूल गया है') बोल-बोलकर मैंने प्रणय-विह्वलता पोषित की थी। 'मैं पगली या दुनिया पगली' गा-गाकर मैंने क्रन्दन किया था।

"तु जाता हुँ नहिं रहुँ,
जीवन नो लोभी नथी हुँ कदी,
तूं स्वर्गे कर वास,
के समजजे आ दास ऊभो त्यही।"[1]

और—

"प्रिय क्याँ हशे जल वन विषे?
नथी जल गगन नी दश दिशे,
प्रिय ज्याँ तुँ हो त्याँ प्योचजो,
मुज प्रेम पूर्ण प्रणाम आ।"[2]

('तेरे जाने पर नही रहूँगा, मैं कभी जीवन का लोभी नही, तू स्वर्ग मे निवास कर और समझना कि मैं वही खडा हूँ।)

(प्रिय कहाँ होगा जल वन मे? जल गगन की दसो दिशाओ मे नही

---

१. गुजराती कवि कलापी—'ज्यां तु त्यां हुँ' (जहाँ तू वहीं मैं)।

२ गुजराती कवि बा० हि० देसाई—'स्नेह नुं स्वप्न (स्नेह-स्वप्न) (वाक्य माधुर्य)।

है। प्रिय, तू जहाँ भी हो, वही तुझे मेरा यह प्रेमपूर्वक प्रणाम पहुँचे।)

इन पक्तियो को रट-रटकर मैं 'देवी' के प्रति अपनी आतुरता को सजग रखता। रोग बढ़ाने के इस तरीके को मैंने जिस प्रकार हस्तगत किया था, उसी प्रकार उसे वश मे करने का नुस्खा भी मेरे हाथ लग गया। जब मुझे पेट-दर्द होता, तब 'तास्तितिक्षस्व भारत' जप-जपकर मै अपना दुःख भुलाता था। जब कठिनाइयाँ मुझे बहुत घबराहट मे डालती, तब घटा-दो घटा चौपाटी पर घूमता और—

'मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्म चेतसा।
निराशीर्निममो भूत्वा युद्धचस्व विगत ज्वर.॥'[1]

बोलता रहता और जब उदासीनता मे डूब जाना तब—

'प्रसादे सर्व दुःखाना हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते?'[2]

की रट लगाता और जब हताश होता, तब—

'क्लैब्य मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्य त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥'[3]

का जप करता।

इस प्रकार इच्छित मनोदशा उत्पन्न होने तक श्लेको का जप करते रहने से एक विशिष्ट नियम मेरी समझ मे आ गया।

---

१. अध्यात्म-वृत्ति रखकर सब कर्म मुझे अर्पण करके आसक्ति और ममत्व को छोड़ रागरहित होकर तू युद्ध कर। श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ३ श्लो० ३०।

२ चित्त की प्रसन्नता से उसके सब दुःख टाले टल जाते है और प्रसन्नता पाने वाले की बुद्धि तुरन्त ही स्थिर हो जाती है। श्रीमद्-भगवद्गीता, अ० २२ श्लो० ६५।

३ हे पार्थ! तू नामर्द मत बन। यह तुझे शोभा नहीं देता। हृदय की पामर निर्बलता का त्याग करके हे परन्तप! तू उठ। श्रीमद्भगवद्-गीता, अ० २ श्लो० ३।

जो मनोदशा मुझे प्राप्त करनी होती, वह प्राप्त हो गई है, ऐसा मन्त्र बोलते रहने से वह मुझे सचमुच प्राप्त हो जाती।

जप को मैं जैसी जड-विधि समझता था, वैसी वह नही थी। जपयज्ञ के पीछे 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्'[1] वह महा प्रभावशाली शक्ति छिपी हुई मैंने देखी।

और भी एक अन्य प्रयोग मैंने किया। १९०७-८-९ के उद्वेगपूर्ण वर्षों मे मुझे ऐसी धुन लगी थी कि यदि मैं एकाग्रता से 'देवी' का ध्यान करूँ, तो वह अवश्य आकर मुझसे मिलेगी। योगशास्त्र की मान्यता है कि जो ज्योतिष्मती पर ध्यान करता है, उससे सिद्ध आकर मिलते है। त्राटक करने से ज्योतिष्मती का कुछ प्रकाश मुझे दिखने लगा था, इससे अपनी धुन मे मुझे पागलपन नही मालूम हुआ। जब मैंने 'वेरनी वसूलात' लिखा, तब मुझे इसका खयाल आया कि एकाग्रता से कल्पना मे प्रयत्न करके देखा हुआ व्यक्ति शब्दो मे कैसे सजीव होता है और जीवित मनुष्य पर किस प्रकार प्रभाव डालता है।

इस खयाल से नई बात सूझी। यदि एकाग्रता से अनेक गुणो का आरोपण दूसरे व्यक्ति पर किया जाए, तो वे गुण उसमे अवश्य विकसित हो सकते हैं। यह नियम योग की दृष्टि से सच्चा तो है, परन्तु यह मैं भूल गया कि उसे व्यवहार में लाने की मेरी शक्ति बहुत ही मर्यादित थी।

सरला के जन्म के बाद मैंने यह प्रयोग आरम्भ किया। लक्ष्मी की सरलता मे अपने इच्छित गुणो का समावेश करके मैंने 'रमा' का निर्माण किया था। अब उन गुणो को पुनः लक्ष्मी मे आरोपण करके उसे 'रमा' बनाना था। 'रमा' के नाम पर पत्र लिखकर लक्ष्मी को उसके प्रति दिलचस्पी लेने वाली बनाया। कहानी के उससे सम्बन्धित परिच्छेदो को मैं उसे पढकर सुनाता। कविता मैं नही लिख सकता था, पर एक बार तो वह भी लिख गया, और यह मानने के लिए मैं योग करने लगा कि यह 'रमा' ही है।

---

१. योग सूत्र।

लक्ष्मी के आत्म-समर्पण की सीमा नही थी, परन्तु उससे पढाई नही होती थी। उसकी ऊर्मियाँ बालक के समान, ठंडी, मीठी और आर्द्रता से रहित होती थी, हृदय के भाव शब्दों या व्यवहार मे व्यक्त करने की उसकी शक्ति भी परिमित थी। मैं था विद्या का भूखा, स्वभाव का कथनात्मक और दूसरे का कथन सुनने का प्यासा, आविर्भाव का रसिक तथा अकुशरहित तादात्म्य पर रचित प्रणय-भावना का पोषण करने वाला मूर्ख।

अपने प्रयत्न की सफलता देखने के लिए उत्सुक मेरे हृदय को जरा-जरा-सी बात से आघात पहुँचता और उसका डक निकालने के लिए मैं तितिक्षा का जप करता।

आज अपनी इस निर्बलता पर हँसी आती है और फिर साथ ही अपनी अनगिनत निर्बलताओ को जीतने और जगत् के साथ समाधान करने के लिए अकुलाते हुए इस मूर्ख युवक के करुण जीवन का खयाल आता है।

१९१८ से लक्ष्मी में बडा परिवर्तन हो गया—कुछ अश मे इस प्रयोग से और बहुत अश मे अपनी नैसर्गिक शक्ति से। नौकर, रसोइये, पैसे, साहबी, सबकी व्यवस्था वह करने लगी। इच्छा बहन के साथ वह सब जगह जाती, मित्रो और मित्र-पत्नियो से मेल-जोल रखती, परन्तु मेरी परिचर्या के अतिरिक्त और किसी बात मे उसे आनन्द न आया।

मैं उदासीन होता तो उसका कारण पूछना उसे उचित न मालूम होता। वह समझ लेती कि मुझे पर्याप्त सुविधा नही मिली। मैं क्या करता हूँ, क्या तूफान मचाता हूँ, किस प्रकार कमाता हूँ, मेरे विचार कैसे हैं, मेरे आदर्श क्या है—इसकी उसे लेश-मात्र भी परवाह नही थी। जब मेरी कहानियाँ छपती, तब वह उन्हे पढती, परन्तु विशेष उत्साह के बिना ही। जब मैं लिखने बैठता, तब मेरी लिखाई के प्रति उसे बडी-से-बडी दिलचस्पी यह होती थी कि दवात मे स्याही है या नहीं, काग़ज़ है या नही, बच्चे रोकर गड़बड़ तो नही मचा रहे हैं।

बाबुलनाथ पर रहने आने से पहले भटवाडी वाले घर मे हवा नही थी, इससे रात को जगदीश रोता था। जब जगदीश रोने लगता, तब उठाकर वह दीवानखाने मे घण्टो तक उसे खिलाती रहती, कि कही मैं जाग न पडू। मेरे शरीर के सरक्षण के लिए वह प्राण भी दे देती। उसके न होने पर मुझसे कुछ-न-कुछ अनियमितता हो जाती और मैं बीमार पड़ जाता। इस प्रकार लक्ष्मी मेरे जीवन का अनिवार्य अग बन गई थी।

जब से मणिलाल नानावटी सालिसिटर हमारे नीचे रहने के लिए आये, तब से लक्ष्मी का उनकी स्नेहमयी पत्नी बाबी बहन के साथ खूब प्रेम हो गया। बाबी बहन खूब बोलने वाली और बहादुर थी, और लक्ष्मी कम बोलने वाली और गम्भीर थी। हम चारो व्यक्ति इस प्रकार रहते थे, जैसे एक ही परिवार के हो। उस भावार्द्र दम्पति के साथ बैठकर आनन्द करते देखकर हम भी अपने दाम्पत्य-जीवन को कुछ अशो मे समृद्ध कर सके।

आठ

गीता और योससूत्र को व्याकरण या कोष की दृष्टि से मैने नही पढा। मै विद्यार्थी की दृष्टि से उन्हे नही पढता था और टीकाएं पढ़ने से तो मुझे बहुत ही उकताहट होती थी। इन दोनो का पारायण और मनन मैं केवल प्रेरणा प्राप्त करने और जप करके शक्ति पाने के लिए किया करता था। उस समय अपनी निर्बलता और हृदय से उठती हुई अशान्ति को वश मे करने के लिए मैंने प्राणायाम का भी थोड़ा-थोड़ा प्रयोग आरम्भ किया।

१९१३ से १९२२ तक, वर्ष मे दो-तीन बार मैं माथेरान जाया करता था। इस समय के अन्तर्गत, केवल १९१७, १८ और १९ को छोडकर, शेष वर्षो मे गरमी की डेढ महीने की छुट्टी भी वही बिताई थी।

जब मैं वहाँ होता, तब सवेरे किसी शृग पर खड़ा होकर, नीचे खाई

मे शक्ति के सागर के विस्तारित होने की कल्पना किया करता। फिर उस शक्ति का जल श्वास मे लेकर मैं अपने अन्दर खीच रहा होऊँ, ऐसी कल्पना करता और श्वास तथा नि श्वास के साथ 'ॐ शक्तोऽहम् और ॐ शान्तोऽम्' धीरे-धीरे बोलता।

इस प्रयोग से मुझमे स्वस्थता आती और काम करने का नया उत्साह उत्पन्न होता।

१६१२ से १६१४ तक योगाभ्यास करने का मुझे बडा उत्साह था। मैं नियमित रूप से ध्यान करने बैठता। पहले बुद्ध की तस्वीर सामने रखता, घूमते-फिरते इस ध्येय को दृष्टि के आगे लाने के प्रयत्न करता। रोज़ योगसूत्र का पाठ करता, ॐकार का जप भी करता और त्राटक करने का प्रयोग भी करता था।

पडित दुर्गाप्रसाद, जो पिताजी के जीवित रहने के समय भडौंच के घर मे आये थे, उन्ही दिनो मुझे बम्बई मे अचानक रास्ते मे मिल गए। मैं उनके कमरे मे जाने लगा और उन्होने मुझे जप, प्राणायाम और त्राटक किस प्रकार करने चाहिएँ, यह सिखलाया। बाद मे उनके यहाँ सट्टेबाज़ लोग आने लगे। उन्होने भाव-ताव बताने का व्यवसाय शुरू किया और उनके प्रति मेरा आदरभाव कम हो गया। वे सट्टे मे अपना हिस्सा भी रखवाते हैं, यह भी मालूम हुआ और तब से मैंने उनके यहाँ जाना छोड दिया।

कोर्ट का काम-काज, कहानी लिखने का मानसिक श्रम और अन्य प्रवृत्तियो के कारण ध्यान करना मेरे लिए सुविधाजनक नही रहा। सारा दिन सिर दर्द करता और रात को नीद न आती। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं उल्टे मार्ग पर जा रहा था। मैंने बडी देर तक किसी अनतानन्द के मिलने की प्रतीक्षा की। अन्त मे थककर मैंने अरविन्द घोष को पत्र लिखा—'यदि मेरे भाग्य मे योग-सिद्धि लिखी हो, तो उत्तर दीजिएगा। यदि उत्तर न आया, तो मैं समझ लूँगा कि वह मेरे भाग्य मे नही है।' उस समय योगाभ्यास करने के लिए मुझमे बडा उत्साह था। उत्तर की

एक महीने तक प्रतीक्षा की। उत्तर न आने पर मैंने योगी बनने की नादान आकांक्षा को छोड दिया। मेरे भाग्य मे यह सिद्धि नही लिखी थी।

मेरी मूर्खता की सीमा नही थी। मैं समझता था कि गुरु के बिना ही मैं गीता के श्लोक रट-रटकर योग को अपना सकूँगा।

अन्त मे मैं और सब छोडकर 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' का जप करने लगा और इस विधि से अपने विकास की साधना आरम्भ की। 'निस्त्रैगुण्य' का शास्त्रीय अर्थ मैंने ग्रहण नही किया था। सत्व, रज और तम—मैंने यह अर्थ ग्रहण किया था कि शान्त, प्रवृत्तिमय और शैथिल्यमय, इन तीनो गुणों मे से जो गुण प्रसगानुकूल व्यक्त करने के योग्य हो उसे जो जान सके और उस गुण के अनुसार आचरण कर सके, वही 'निस्त्रैगुण्य' है और इसके अनुसार मैंने बडी-बड़ी योजनाएँ बना डाली।

एक ही स्वभाव वाला मनुष्य यदि स्वभाव मे से निथरते हुए भिन्न-भिन्न परस्पर-विरोधी लक्षण प्रदर्शित करना चाहे, तो उस प्रयत्न मे कठिनाई और जोखिम निहित है, परन्तु उस समय मुझे इसका खयाल नही था। मैंने अपनी समझ के अनुसार किन लक्षण और शक्तियो को 'निस्त्रैगुण्य' होने के लिए विकसित करना चाहिए, इसकी सूची बनाई। इन लक्षणो और शक्तियो ने जिस ऐतिहासिक या काल्पनिक व्यक्ति में पूर्ण रूप से विकास प्राप्त किया हो उसे मैंने सौ अक दिये। इस लक्षण या शक्ति वाला प्रभावशाली मनुष्य मेरे परिचय मे हो, तो उसे सौ अको के परिमाण मे कम अक दिये। और प्रति सप्ताह इस लक्षण का मुझमे कितना विकास हुआ, इसके अनुसार मैं अपने-आपको अंक देने लगा।

१९१५ के अन्त मे, १९१६ के लिए बनाये हुए कार्यक्रम का साराश इस प्रयोग का परिचय देगा। इसमे स्वाध्याय शब्द के आगे जो पुस्तकें लिखी हैं, वे वर्ष-दिन मे फिर-फिर से पढकर मनन करने के लिए थी।

१: निस्त्रैगुण्यत्व. व्यवसायात्मिका बुद्धि और निष्काम कर्म।

२. व्यवसायात्मिका बुद्धि के पोषण के लिए ज्ञान, अध्ययन और तितिक्षा चाहिए। उसे प्राप्त करने के लिए निस्त्रैगुण्य पुरुष के ध्येय के छः

अग है—(१) देही,[1] (२) कुटुम्बी, (३) कर्मचारी, (४) साहित्यकार (५) धाराशास्त्री, (६) राष्ट्र-सेवक ।

वर्ष का अध्ययन क्रम—दैनिक स्वाध्याय—गीता और योग-सूत्र ।

१. देही

अ—शक्ति (Strength) क्ष[2] (२०) माटेक्रिस्टो[3] (१००) (१) डबेल (२) दड ५० (३) बिलियर्ड्स, २५ का ब्रेक (स्वाध्याय—Foote's Course)

आ—सौन्दर्य (Grace)

(१) चलने का ढग (२) शरीर का सौन्दर्य (स्वाध्याय—Making of personality) ३—६२००० प्राणायाम

२. कुटुम्बी

स्नेहमयता (Lovingness) क्ष (२०) आब्रले[4] (१००)

३. कर्मचारी

अ—तौर-तरीका (Manner) क्ष (२०) माटेक्रिस्टो (१००) (१) शिष्टता (२) सुन्दरता (३) सकोचहीनता (४) मृदुता (५) गौरव

स्वाध्याय—Popularity; Emerson, Manners, Chesterfield letters) आ—प्रगल्भता (Boldness) क्ष (२०) मिराबो[5] (१००) (१) हिम्मत (Courage) (स्वाध्याय—Carlyle—Mirabeau, Dante, Emerson, Self-Reliance) (२) हलकापन (Lightness) (स्वाध्याय—Mark Twain—Innocents Abroad

---

१. यह शब्द शरीर धारण करने वाली आत्मा के अर्थ मे नहीं परन्तु देह को धारण करने वाले मनुष्य के अर्थ में व्यवहृत किया गया है

२ जीते-जागते मनुष्यों के नाम के स्थान पर मैंने 'क्ष' अक्षर का प्रयोग किया है ।

३ ड्यूमा की इसी नाम की कहानी का नायक ।

४. मेरी कोरेली की कहानी Treasure of heaven का नायक ।

५. फ्रेञ्च विप्लव का नेता ।

(३) प्रभावशीलता (Impressiveness). ३—शान्ति (Calmness) क्ष (२०) माटेक्रिस्टो (१००) (१) स्वस्थता (Self-Composure) स्वाध्याय—Gordon—Power of personality (२) नियमितता (Regularity) वीसेट (१००) स्वाध्याय—Todd—(Student's Manual) ई—इच्छा-शक्ति (Will) क्ष (४०) नेपोलियन (१००) (१) कार्यसाधक शक्ति (Effectiveness) (२) अप्रमाद Thoroughness) (स्वाध्याय—Plutarch—Ceasar, Foster—Decision of Character) ३—शैली (Style) जॉन मिल (१००) (१) बुद्धि-प्रधानता (Intellectuality) रानाडे (४०) (स्वाध्याय—Mill—Representative Government) (२) भाव-प्रधानता (Emotionality) विक्टर ह्यूगो (१००) (स्वाध्याय—Michelet—French Revolution, Hugo—Lyrice कलापी नो केकारव (४) वर्णनात्मकता (Descriptiveness) ड्यूमा (१००) (स्वाध्याय—Washington Irwing—Sketch Book Ibsen. सरस्वतीचन्द्र भाग (२) ऊ—वाक्पटुता (Eloquence) क्ष (३०) वीसेट (१००) (५) आवाज (२) भाषा (३) पद्धति। (स्वाध्याय—ज़बानी बोलने वाले, Moore—Indian Appeals Bombay Law Reporter, How to Argue and to win) ए—वार्तालाप (Conversation) क्ष (३०) माटेक्रिस्टो (१००) (१) समझाने की कला (२) रजन करने की कला।

४. साहित्यकार

(१) पठन Carlyle—Miscellany Michelet · French Revolution सरस्वतीचन्द्र भाग २। गुलाबसिंह, दो हिन्दी की पुस्तकें। (२) लेखन, ३ अंग्रेजी लेख, ३ गुजराती लेख; ३ गुजराती कहानियाँ, २ अंग्रेजी कहानियाँ, १ गुजराती उपन्यास, १२ व्याख्यान। 'भार्गव त्रैमासिक।'

५. धाराशास्त्री

(१) कापियाँ तैयार करनी, क्ष (४०) इन्वेरारिटी·(१००)

(स्वाध्याय—Odger Pleadings) (२) कानून का ज्ञान डॉ० घोष, (१००) (स्वाध्याय—Roscoe · Visi Pris) (३) मुकदमे चलाने की कला, क्ष (४०) लाउण्ड्स (१००) (स्वाध्याय— Harris Advocacy)

६. राष्ट्र-सेवक

(१) लेखक (२) वक्ता, बीसेण्ट (१००)।

१९१४—१५—१६—१७ मे मैं प्रतिवर्ष इस प्रकार कार्यक्रम बनाता था। आठ-पन्द्रह दिन बाद अपने-आपको नम्बर देता और कम आने पर अपने अकन पर दण्ड लगाता था।

यह सूची इस बात का परिचय देती है कि ह्यूगो, ड्यूमा और कार्लाइल का मुझ पर कितना प्रभाव था। कम अको वाले आदर्शों मे जिन्ना, सीतलवाड और भूलाभाई के नाम भी आ जाते थे।

असल मे देखा जाए, तो यह मेरा 'कर्मसु कौशलम्' प्राप्त करने का क्रम था, परन्तु कौशल प्राप्त करने की इस विधि मे मुझे सफलता नही मिली। कभी-कभी तो कुल १७०० अको मे से १०० से लेकर ३०० तक ही मैं प्राप्त कर पाता था।

मुर्गी को उन्मत्त होकर भैस बनते कभी सुना है ?

नौ

मुझे याद है कि १९१२ मे मैं चन्द्रशंकर के साथ यूनियन का मत्री बना था। १९१३ मे हमने उसका सारा ढाँचा बदल दिया। सस्था का नाम 'गुर्जर सभा' रख दिया। त्रिभुवनदास राजा उस समय बी० ए० मे थे, वे और मैं मत्री नियुक्त हुए।

१९१३ के आरम्भ मे नृसिंहदास विभाकर बैरिस्टर होकर आये। वे बहादुर आदमी थे; उनकी बोलने की छटा निराली थी। साहित्य-क्षेत्र मे भी उनकी थोडी-बहुत कीर्ति थी, और हमारे मंडल के वे अग्रणी थे। 'बॉर लाय्ब्रेरी' मे हम दो साथी हो गए। उस समय 'षड्रिपुमडल'—

चन्द्रशकर, मास्टर, विभाकर, कान्तिलाल पड्या, इन्दुलाल याज्ञिक और मैं —फलने-फूलने लगा। हम लोग लगभग रोज मिलते, चाय-पानी लेते और साहित्य की तथा अन्य बाते करते। कभी-कभी शोर-गुल मचाते, एक-दूसरे की उलझने सुलझाते या बढाते। हम सब बहुत बोलने वाले, महत्त्वाकाक्षी, रसिक और भावनाशील थे, सभी जोशीले थे।

हम रोज-रोज नयी बाते खडी करते और अपनी शक्ति के विकास के लिए अवसर करने के प्रयत्न प्राप्त करते। ससार हमारे सामने अविजित पड़ा हुआ था।

विभाकर ने एक कहानी लिखी और वे नाटक की ओर घूम गए। उनका लिखा हुआ पहला नाटक 'मधुबसरी' बहुत अच्छा रहा। गुजराती-रगभूमि पर जीवन के प्रश्नो को हल करने का यह पहला प्रयास था। बाद के प्रयास इतने सफल न हुए, कारण कि मुख्य पात्रो के इच्छानुकूल उन्होने परिवर्तन करने आरम्भ कर दिए। विभाकर बोलते बडे सुन्दर ढग से थे, उनके काठियावाडी उच्चारणो से माधुर्य टपकता था।

दो-तीन वर्ष तक विभाकर के और मेरे बीच मडल मे, साहित्य मे और व्यवसाय मे खीच-तान रही, परन्तु हमारा सम्बन्ध ज्यो-का-त्यो मधुर रहा।

'षड्रिपुमडल' की धुरी थे, चन्द्रशकर। उनका मुख्य काम था हम लोगो को प्रोत्साहन देना, एकत्र रखना और बातें करना, अपने साहित्य प्रेम की लगन औरो को भी लगाना। इसे उन्होने अपना प्रथम धर्म माना था। मुझे उत्तेजना देने के लिए वे सब तरह के प्रयास करते। उस समय वे रस-भरे काव्य लिखते और हम उन्हे आनन्द से पढा करते।

१९१३ के अक्तूबर मे कपोल' के दिवाली-अक के लिए मैंने 'एक साधारण अनुभव'[1] नाम की कहानी लिखी। यह भी आत्म-कथा के रूप मे थी—आगे वर्णित किये हुए प्रकारो मे से पहले प्रकार की। बम्बई के चमक-दमक वाले ससार के प्रति मुझे ईर्ष्या होती थी। क्षण-भर के लिए

१. मुन्शी-कृत 'नवलिकाओ' (कहानियाँ) (गुजराती) पृष्ठ १०-१७।

यह इच्छा भी मन मे जागती था कि पैसे मिलें, तो महल मे निवास करूँ, घोडे और कुत्ते रखूँ। 'रघुनन्दन' नामक पात्र इस इच्छा की मूर्ति था। वह कितना तिरस्करणीय है, यह बताने के लिए अपने आदर्श के अनुकूल किया हुआ प्रयत्न ही यह कहानी है।

जब यह कहानी प्रकाशित हुई, तब चन्द्रशकर ने मुझे अग्रेजी मे पत्र लिखा। उससे हमारे स्नेह-सम्बन्धो की पराकाष्ठा का परिचय मिलता है।

२६-१०-१३, आधी रात,

परम प्रिय मुन्शी,

तुमने अधिकाश मे यह समझा है कि जैसे मैं सगमरमर की पाषाण मूर्ति हूँ। सम्भव है, परिचय अधिक प्रगाढ होने पर तुम्हारा मत बदल जाए। चाहे जो हो, परन्तु मै आशा करता हूँ कि इस पत्र को लिखने की प्रेरणा करती हुई मेरी आन्तरिक भावना तुम देख सकोगे।

इस समय लगभग आधी रात है। 'कपोल' के दीवाली अक मे प्रकाशित तुम्हारी कहानी 'एक साधारण अनुभव' अपनी प्रिय पत्नी को मैंने आधा घण्टा हुआ, पढकर सुनाई थी।

प्रिय मित्र, एक करुण अनुभव का ऐसा अद्भुत आलेखन करने के लिए तुम्हे मेरी हार्दिक बधाई! यदि समय होता, तो अधिक विस्तार से और पृथक्करण के साथ मैं तुम्हे लिखता, परन्तु उसके अभाव मे मुझे तुमसे इतना ही कहकर सन्तोष मानना पडेगा कि मेरी पत्नी को और मुझे तुम्हारा आलेखन बहुत पसन्द आया है। एक शब्द और कि, आलेखित की जाने वाली जो सस्कारिता और भावनाशीलता लेखक के हृदय मे विद्यमान है, उसका मै मूल्य आँकता हूँ। उन्नत और उन्नति-प्रेरक आत्मा की आर्द्रता से प्रेरित कृतियाँ तुम गुजरात को देते जाओ, यह मेरी कामना है। दिन-प्रतिदिन हम लोग निकट आएँ, एक-दूसरे से भली-भाँति परिचित हो और सामान्य ध्येय के लिए सहयोगी बनें, ऐसी इच्छाओं के साथ,

तुम्हारा स्नेही

चन्द्र

यह मैं देख सका था कि इस पत्र मे चन्द्रशकर ने स्नेह-अतिशयोक्ति का आश्रय लिया था, परन्तु उन दिनो मैं चन्द्रशकर के ऐसे प्रोत्साहन के बिना अपने सकोच को किस प्रकार विजित कर सकता था!

मास्टर और तारा बहन के साथ भी स्नेह-सम्बन्ध बढ गया। तारा बहन ने सगी बहन का स्थान ले लिया। दीवाली के बधाई-पत्र मे मास्टर ने लिखा—

२९-१०-१३

प्रिय भाई मुशी,

आखिर हमारा सम्बन्ध बढ गया। शरमीले सम्बन्ध की शरम हट गई। अन्त मे सम्बन्ध प्रिय बन गया, स्थिर हो गया। वीणा के तारो का सम्बन्ध समझ मे आया, वीणा से मधुर स्वर निकले। जितना स्नेह है, उससे भी अधिक रखना। सम्बन्ध की मधुरता और सरलता ज्यो-की-त्यो रहेगी न?

स्नेही

मन का अभिवादन

कान्तिलाल के साथ भी ऐसा ही स्नेह-सम्बन्ध था, यद्यपि उसका प्रकट करने का ढग अधिक सयमपूर्ण था। १९११ की जुलाई मे वे पढने के लिए बगलौर गये, परन्तु बीच-बीच मे बम्बई आया करते थे। १९१३ की जुलाई मे वे आगरा कॉलेज मे नियुक्त हुए, इसलिए उनका बम्बई आना बन्द हो गया।

१९१३ मे इन्दुलाल याज्ञिक अपने भाई रमणलाल के साथ, जहाँ मैं रहता था, उनके पास वाले मेरे पुराने कमरो मे रहने के लिए आये, और इससे हम लोग निकट परिचय मे आ गए। रोज रात को दिन मे लिखी हुई चीजें हम एक-दूसरे को पढकर सुनाते। 'वेरनी वसूलात' शाम को चेम्बर मे लिखी जाती। उसके पहले श्रोता इन्दुलाल थे। उनका मन उस समय राजनीति की ओर झुक रहा था, इसलिए मेरी राष्ट्रीयता के विचारों की चर्चा करने मे खूब आनन्द आता था।

इस प्रकार 'षड्रिपुमडल' एक सुन्दर सस्था बन गई। हमारी उदित होती हुई भावनाएँ एक-दूसरे की प्रेरणा को पोषण देती, जीवन-विग्रह मे लगने वाले घावो को भरती, और उदार आदर्शो के आदान-प्रदान से हमारे नन्हे जगत् को रसमय बनाती थी। इन्दुलाल अलग हो गए, त्रिभाकर, चन्द्रशकर चले गए; कान्तिलाल ने आगरा मे निवास किया, मास्टर और मैं अपने भिन्न व्यवसायो के बहाव मे बहे। फिर भी आज उस मण्डल का स्मरण करने पर मुझमे उत्तेजना आ जाती है। आज जब सान्ताक्रुज़ मे 'डाक्टर्स बगलो' मे कदम रखता हूँ, तब तारा बहन के आतिथ्य का स्वाद फिर से ताजा हो उठता है और किलोले याद आ जाती हैं।

१९१४ मे गुर्जर-सभा प्रौढ हुई। नगीनदास मास्टर, अम्बालाल जानी आदि तो थे ही, और जमनादास द्वारकादास, सेठ रतनश्री मुरारजी और हरिसिद्धभाई दिवेटिया भी दिलचस्पी लेने लगे। हमारी ख्याति भी बढने लगी। डॉ० कल्याणदास देसाई और उनके भाई देवीदास सालिसिटर भी 'गुर्जर-सभा' मे रस लेने लगे। १९१४ की ११ अप्रैल को 'षड्रिपुमण्डल' उन दोनो भाइयो के साथ नासिक-गुरुकुल के महोत्सव मे गया। पडधुभाई शर्मा—आर्य समाज के मुख-पत्र 'आर्य प्रकाश' के सम्पादक—गुर्जर-सभा के एक प्रखर अग्रणी थे, जिन्हे मैं मजाक मे Demosthenes of Dead Ideals कहा करता था, वे भी साथ थे।

बचपन से ही मुझे आर्य समाज मे दिलचस्पी थी, जब से स्वामी नित्यानन्दजी भडौंच मे व्याख्यान देने आया करते थे, तभी से—मैंने बचपन मे ही 'सत्यार्थ प्रकाश' और गुरुदत्त विद्यार्थी के लेख पढे थे। १९०५ या १९०६ मे मैंने एक अखबार मे महर्षि दयानन्द के विषय मे एक लेख भी लिखा था। पडधुभाई के साहचर्य से यह दिलचस्पी फिर जाग्रत हुई।

'यदि कही भी राष्ट्रीयता के पाठ पढाए जाते हो, यदि कही भी बातें करके नही, वरन् आत्म-बलि से, त्याग और उत्साह से, भविष्य के आर्यावत

के गौरव की नीव डाली जाती हो, तो वह यही सस्था है। जिसने 'नासिक-सम्मेलन' का उत्साह देखा होगा' उसे इसका खयाल आएगा कि आर्य-समाज क्या सेवा करता है।' [1]'

नासिक हो आने के बाद रणछोडदास लोटवाला ने हमसे 'हिन्दुस्तान' और 'प्रजामित्र' के अग्रलेख लिखने के लिए कहा। हमने बारी-बारी से वे लिखने शुरू किए, परन्तु कुछ समय बाद यह काम भाई विभाकर ने अकेले ही उठा लिया।

इसके पश्चात् आर्य समाज की प्रवृत्ति के साथ मेरा थोडा-बहुत सम्बन्ध बना रहा; परन्तु जब तक उसके सारे सिद्धान्त मैं स्वीकार न कर लूं, तब तक उसका सदस्य बनने से मैने इन्कार कर दिया।

'यदि किसी ने दीर्घ दृष्टि से देखा हो कि'' हिदू धर्म को नया स्वरूप देकर उसे विजयी, आगे बढा हुआ, दुनिया को जीतने वाला धर्म बनाना पहला कर्तव्य है, तो वे स्वामी दयानन्द ही थे' 'पाश्चात्य शिक्षा और सस्कृति से हम बुद्धि-प्रधान हो गए है और विचारो की भँवर मे हमारी कार्यदक्षता का ठिकाना नही रह गया है। हमारी रगो मे जिन भावनाओ का सचार होना चाहिए, वे एकरूप हुए बिना कभी आनी सम्भव नही हैं। और हमारी हिन्दू-सस्कृति के पुनर्जीवन के बिना यह एक-रूपता कभी नही आएगी। हमारे देश के देवता ही हमारा उद्धार करेंगे, विदेशी तो केवल पुतले है।[2]

यह अनतानद की दृष्टि पुन-पुन' सोने के तारो की तरह जीवन मे बुने हुए ताने-बाने मे चमकती है।

दस

राजनीतिक दृष्टि से इस दृष्टि-बिन्दु का मैंने आगे जाकर इस प्रकार

१ मुंशी-कृत 'केटलाक लेखो', 'गुरुकुल नी शिक्षण-पद्धति' (१९१४) पृष्ठ १८-१९।

२. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो', 'दी आर्य समाज' (१९१५) पृ० ५९।

वर्णन किया—यूरोपियन सस्कारो की प्रबलता को वश मे करने और आर्य सस्कारो का साम्राज्य स्थापित करने के लिए जो महात्मा हमारे देश मे प्रकट हुए हैं, उनमे दयानन्द, विवेकानन्द, अरविंद और गाधीजी ये चार आर्य सस्कृति की प्रागतिक पुनर्सिद्धि करने मे साधनभूत हुए है। इन चारो मे अरविंद का क्या स्थान है, इस पर हमे विचार करना है। दयानन्द का मन्त्र था—हमारी ऐतिहासिक सततता—Historical Continuity—का हमे भान कराना। विवेकानन्द ने हमारे सस्कार की समृद्धि के प्रति गर्व उत्पन्न करवाने का प्रयत्न किया था, परन्तु अरविंद हमे एक कदम आगे ले जाते हैं।

वे सदा यह सीख देते थे कि राष्ट्र को ईश्वर के रूप मे पूजना, उसके भूत, वर्तमान और भविष्य का गौरव बढाना, उसकी विशेषताओ को आगे करना और उसके दूषणो को बिसारना चाहिए। उनका यह सदेश था कि हमारी सस्कृति दृढ और सबल रूप धारण करे, भारतीयो को प्रतापी और दुर्जय बनाए और देश के अन्दर और बाहर अपनी सत्ता स्थापित करे। प्रत्येक रीति से, प्रत्येक प्रकार से राष्ट्रीय अस्मिता विकसित हो, प्रत्येक क्षेत्र मे हमे अपने राष्ट्रीय गौरव और महत्ता का भान हो—यह उनका अन्तिम लक्ष्य था।

वे मानते थे कि इस लक्ष्य की सिद्धि मे पहले विदेशी सत्ता की अपेक्षा विदेशी सस्कारो का बहिष्कार होना चाहिए। उनका सिद्धांत था कि जब तक विदेशी माल का और विदेशी सस्कारो का बहिष्कार नही होगा, तब तक राष्ट्रीय स्वाभिमान या अस्मिता प्रकट नही होगी। और इसी कारण वे 'Boycot'—'बहिष्कार' को अनुपम अस्त्र मानते थे।[१]

मै मानता था कि देश-भक्ति के मूल, भारत की भूमि के इसके सागरो पर से उडकर आते हुए समीर और इसकी नदियो के जीवन-दाता जल के स्पर्शों मे थे, इसके भूतकाल-विषयक गर्व मे, इसकी वर्तमान-

१. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो', 'अरविंद घोष' (१९२०), पृष्ठ १६१-६२।

विषयक वेदना मे, और इसके भविष्य के विषय की अभिलाषा मे थे; भारतीय वाणी, सगीत, कविता, भारतीय जीवन के दृश्य, नाद, स्वभाव और रीतियो मे थे। इस भक्ति के अनेक रूप मुझे दिखाई देते थे—माता का दुख निवारण करने मे होने वाला उत्साह, उसकी स्वतन्त्रता के लिए अपना रुधिर बहता देखने का उल्लास, पितरो के साथ मिल जाने की आकाक्षा और उसके लिए आत्मसमर्पण करने का दैवी आनन्द। जन्म-भूमि तो जननी से भी अधिक प्यारी है। उसकी भक्ति माता के सनातन दर्शन से होती है; मातृभूमि को ईश्वर के रूप मे देखने से होती है, माता के अखड मनन, कीर्तन और सेवा से होती है। मै यह मानता था कि इस प्रकार की भक्ति ही सच्ची राजनीतिक प्रवृत्ति का प्रेरक तत्त्व बन सकती है।

अपनी इस भक्ति का मै इदुलाल के आगे वर्णन करता और उसे बडा आनन्द आता था। १९२८ मे मैने इस भक्ति का वर्णन 'स्वप्नद्रष्टा' मे किया।

'भार्गव-त्रैमासिक' और 'आर्य प्रकाश' मे लेख लिखने से मुझे पूर्ण सन्तोष नही होता था। उन्ही दिनो १९१४ मे महायुद्ध शुरू हुआ। हृदय मे उमडती हुई राष्ट्रीयता को व्यक्त करने के लिए १९१५ मे इन्दुलाल ने और मैने 'सत्य' मासिक निकालने का निश्चय किया और इन्दुलाल के सम्पादकत्व मे जुलाई मे 'नवजीवन और सत्य' आरम्भ हुआ। पीछे से उसे शकरलाल बैकर आर्थिक सहायता देने लगे।

राजनीतिक उत्साह के आवेश मे मैने उसके पहले अक मे लिखा—"जीवित राष्ट्र का जीवन और साहित्य वीर्यवान् होता है और समय के महाप्रश्नो का निराकरण करने के लिए कला को शस्त्र बनाकर निश्चयात्मक बुद्धि से आगे बढता है।"

उस समय से जमनादास, द्वारकादास और मैं निकट सम्पर्क मे आये। वे हाल मे ही कॉलेज से निकले हुए बडे मस्त, बोलने मे शूर, श्रीमती बीसेण्ट के लाड़ले और प्रागजी सूरजी के करोडो के व्यापार मे हिस्सेदार

थे। हम 'प्रेसिडेन्सी एसोसियेशन' मे—जो सस्था सर फीरोज़शाह मेहता की केवल परछाईं के समान थी—सम्मिलित हुए। वे स्वय बीमार पडे थे और उनके बिना कोई भी उसमे ठीक से काम नही करता था। उस सस्था की वार्षिक सभा मे हम सबने इसकी अच्छी तरह खबर ली। 'ससार मे परिवर्तन हो रहे है, पर यह सस्था क्यो कुछ नहीं करती? हिसाब कहाँ है? वह व्यवस्थित क्यो नही है?' हमारे शोर-शराबे का यह प्रभाव हुआ कि उसकी कार्यवाहक कौंसिल मे जमनादास को और मुझे सदस्य के रूप मे ले लिया गया।

हम लोग कोई नया काम कर दिखलाने के लिए बडे उतावले हो रहे थे। उसी समय युद्ध शुरू हो गया। बीसेण्ट और विलियम वेडरबर्न आदि भारत के मित्रो मे मत्रणा हुई और उन सबको प्रतीत हुआ कि युद्ध के अवसर को देखते हुए छोटे-छोटे सुधारो की माँग करने की अपेक्षा यदि भारत 'होमरूल' की माँग करे, तो वह मिल सकती है। इस सकल्प का प्रचार करने के लिए बीसेण्ट ने १९१४ की जनवरी मे 'कामनवेल्थ' पत्र निकाला, और छ महीने बाद 'New India' आरम्भ किया। १९१५ के फरवरी मास मे गोखले स्वर्गवासी हो गए और सारे देश मे लोकप्रिय इस नेता का काग्रेस का सिंहासन खाली हो गया। बीसेण्ट ने रतनसी मुरारजी, जमनादास आदि अपने थियोसोफी मे विश्वास करने वाले अनुयायियो को 'होमरूल' के सम्बन्ध मे आन्दोलन करने के लिए लिखा और सितम्बर मे एम्पायर थियेटर मे 'युद्ध के बाद भारत' इस विषय पर व्याख्यान देकर उन्होने बम्बई मे आन्दोलन प्रारम्भ किया।

बीसेण्ट का व्याख्यान मैंने अनेक बार सुना था, परन्तु यह व्याख्यान वाग्पुटता की दृष्टि से—अर्थात् वाग्वैभव, उच्चारण, भावना, अधीरता, सौन्दर्य और प्रभावशीलता, इन सबकी दृष्टि से इतना अपूर्व था कि मुझे प्रतीत हुआ कि बीसेण्ट को जगत् के सर्वोपरि वक्ता की जो कीर्ति मिली थी, वह सकारण है। इससे हमारा राजनीतिक उत्साह बढ गया। इसके बाद बीसेण्ट दादाभाई नौरोजी से मिली और 'भारत के दादा' ने

उनकी योजना का अनुमोदन किया।

जमनादास, शकरलाल, इन्दुलाल और मैं—हम चारो ने मिलकर निश्चय किया कि अग्रेजी मे साप्ताहिक निकाला जाए और जमनादास और मैं उसके सपादक बने।

इसके बाद बीसेण्ट लोकमान्य तिलक से अप्रकट रूप मे मिली। उन्हे इस बात का भय हुआ कि यदि लोकमान्य बीसेण्ट से साथ एक सस्था मे प्रकट रूप से शामिल हुए, तो काग्रेस 'होमरूल' स्वीकार नही करेगी। बीसेण्ट का पहले यह विचार था कि पहले काग्रेस से 'होमरूल' स्वीकार कराया जाए और उसके बाद लोकमान्य को उसमे लिया जाए। अत मे उन दोनो का यह निश्चय हुआ कि यदि काग्रेस 'होमरूल' स्वीकार न करे, तो लोकमान्य और बीसेण्ट एक अलग संस्था बनाएँ। परन्तु सहयोगिता प्रदर्शित करने के लिए दोनो को एक-दूसरे की सस्था का सदस्य बनना होगा। यह बात उस समय हम कुछ लोग ही जानते थे।

सितम्बर के अत में जमनादास और मैं पेडर रोड पर नरोत्तम सेठ के बँगले पर बीसेण्ट से परामर्श लेने गये, और सम्पादको के रूप मे हमे क्या करना चाहिए, इस विषय पर उन्होने हमे विस्तार से सलाह दी। उग्र-पक्ष को साप्ताहिक निकालना उस समय कठिन काम था, और मेरी स्थिति को देखते हुए यह एक बडा साहस था।

हम श्रीनिवास शास्त्री का आशीर्वाद लेने गये। शास्त्रीजी ने हमारे प्रयत्न का स्वागत किया। देवधर वही थे। वे फीरोजशाही सम्प्रदाय के थे—और हाथो तूफान उठाने वाले। बीसेण्ट के कहे हुए ज्वलन्त राष्ट्रीय कार्यक्रम का हमे नशा चढा हुआ था। शास्त्रीजी ने हमे पूरी सम्मति दी, महर्षि दादाभाई ने आशीर्वाद भेजा, और १९१५ के नवम्बर की १७ तारीख को हमने 'यग इण्डिया' आरम्भ किया।

थोड़े दिनो मे सर फीरोजशाह मेहता स्वर्गवासी हुए। इस पर टिप्पणी करते हुए मैंने लिखा—'वे महापुरुष थे। उन्होनें बड़ी सेवा की थी, पर जनता मे से प्रभाव प्रकट होता है, इसका उन्हें खयाल नही था। नई

राष्ट्रीयता उनकी समझ मे नही आती थी, इससे वे राष्ट्र के नेता नही थे।' इस लेख की बडी टीका हुई। बम्बई मे कोई सर फीरोजशाह का नाम लेने की हिम्मत नही करता था।

१९१५ मे बम्बई मे काग्रेस होने वाली थी, और जिन्ना ने उस समय बम्बई मे मुस्लिम लीग की सभा बुलाई थी। मजरुलहक उसके अध्यक्ष बने थे। जहाँ काग्रेस का अधिवेशन हो रहा हो, वहाँ मुस्लिम लीग का नही होना चाहिए, यह जिद पकडकर अनेक मुसलमानो ने उसे भंग कर दिया।

अन्त मे दिसम्बर की १५ तारीख को चाइनाबाग मे बीसेण्ट द्वारा आयोजित नेताओ की गुप्त सभा हुई।

सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी सभापति थे। पुराने काग्रेसियो के मतानुसार 'होम-रूल' का आन्दोलन आरम्भ करने की आवश्यकता नही थी। अन्त मे यह निर्णय हुआ कि काग्रेस को विचार करने के लिए नौ महीने का समय दिया जाए, और इसके बाद यदि काग्रेस 'होमरूल' का कार्यक्रम स्वीकार न करे, तो बीसेण्ट नई सस्था का निर्माण करे।

उन्ही दिनो मेरा शकरलाल के साथ मेल न खा सका। खुशालदास मेरे निकटतम मित्र थे। उस समय वे सेंट जेवियर्स कॉलेज मे लेक्चरर थे, और मेरे कहने से 'यग इण्डिया' मे लेख लिखा करते थे।

मैंने अपने चेम्बर मे शकरलाल से उनका परिचय कराया, और मेरे वहाँ से जाते ही शकरलाल ने उनसे पूछा कि क्या वे 'यग इण्डिया' का सम्पादक-पद ग्रहण करेंगे? शाह ने तुरन्त आकर मुझसे बात की। जिस सगति की पहले ही महीने मे इस प्रकार परीक्षा हो, वह सगति न करने का मैंने निश्चय किया और सम्पादक-पद से इस्तीफा लिखकर भेज दिया। अन्त में यह निश्चय हुआ कि काग्रेस के समाप्त होने पर मैं सम्पादक-पद से पृथक् होऊँ।

काग्रेस के अध्यक्ष-पद पर सर सत्येन्द्रप्रसन्न सिनहा थे। वे नरम दल मे भी नरम थे। उनका स्वभाव कठोर था। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति

उनका तिरस्कार एक-एक शब्द से व्यक्त होता था। बीसेण्ट की कांग्रेस मे न चली। इन्दुलाल याज्ञिक 'सर्वेण्ट्स ग्राफ इण्डिया' मे शामिल हो गए थे या होने की तैयारी कर रहे थे। ग्रत मैंने भी 'नवजीवन' ग्रौर 'सत्य' मे लिखना कम कर दिया।

१६१५ मे गाधीजी दक्षिण अफ्रीका छोडकर हिन्दुस्तान ग्राये। उस समय गुर्जर-सभा ने जिन्ना के सभापतित्व मे एक बडे सम्मेलन का ग्रायोजन किया। सभा के मत्री के रूप मे उस समय मैं पहली बार गाधीजी से मिला ग्रौर इस धृष्टतापूर्ण नतीजे पर पहुँचा कि उनकी वेश-भूषा ग्रौर रहन-सहन देखकर, तथा उनके विषय मे प्रचलित बातें सुनकर मै उनसे जो ग्राशाएं रखे बैठा था, वे सफल नही होगी।

गाधीजी के सम्मान मे जहाँगीर पिटिट के यहाँ समारम्भ हुग्रा था, इसका मुझे स्मरण है। बम्बई के सारे नेता ग्रौर प्रतिष्ठित पुरुष उसमे उपस्थित थे। पाउडर ग्रौर भडकीली साडियो का जमघट था। ग्रतिथि को देखने के लिए हम पक्तिबद्ध खडे थे। मेरे पास खडी हुई एक पारसी महिला गाधीजी को देखने के लिए बहुत ही ग्रधीर हो रही थी। गाधीजी ग्राये, छोटी धोती, तनी वाला ग्रगरखा, सिर पर काठियावाडी फेटा बांधे ग्रौर नगे पैरो! मेरी पारसी पड़ोसिन मुख पर हाथ रखकर, बडी कठिनाई से हँसी रोककर बोल उठी—

"यह तो धन्ना दरजी है!"

ग्यारह

१६१५ मे 'हिन्दुस्तान' ग्रौर 'प्रजामित्र' के सम्पादक रतनलाल शाह के ग्राग्रह-वश होकर मैंने 'कोनो वाक' नामक उपन्यास लिखना ग्रारम्भ किया। 'गुजराती' की ग्रपेक्षा इसके कॉलम छोटे थे ग्रौर प्रति कॉलम एक रुपया मिलता था। इस कारण यह व्यापार बुरा नही था।

'कोनो वाक' उपन्यास मेरे पहले प्रकार की दूसरी बडी कहानी है। जाति मे एक मित्र की पत्नी बाल-विधवा हो गई थी। उसके दु खो का

मेरे मन पर गहरा प्रभाव पडा था, और वही इस कहानी के मूल मे है। महायोगी महाराज की कहानी अगले खड मे वर्णित अनुभव से ली गई है। एल०-एल० बी० के समय, जब मैं काँदावाडी मे रहता था, तब की मेरी मनोदशा से मुचकुन्द का उद्भव हुआ है। 'वेरनी वसूलात' के पुराने स्वप्न खत्म हो गए थे। यह स्पष्ट है कि मैंने मुचकुन्द और मणि को एक साथ लाकर कल्पना के कोने मे छिपी हुई तृषा को मिटाया था।[1]

उस समय की मेरी सामाजिक कहानियो मे मेरा, मेरे मित्रो का और जगत् का उपहास करने की एक नई दृष्टि है। अनेक कहानियो मे तीस प्रकार की कला की साधना करने की तैयारी कर रहा होऊँ, इस प्रकार अनुभूत मनोदशा का पोषण करने की मैंने चेष्टा की है। इन कहानियो मे निर्दोष विनोद-वृत्ति की अपेक्षा दशपूर्ण कटाक्ष प्रधान हैं। बेढगे प्रसगो को एकत्र करके उपहास करने की इच्छा भी दीख पडती है। 'गोमती दादा नुं गौरव', 'शामलशा नो विवाह', और 'खानगी कारभारी' लिखते हुए मुझे बडा आनन्द आया था।

'एक साधारण अनुभव मे मैंने 'रघुनन्दन' का चित्रण करके उसे व्यंग्य का निशाना बनाकर अपनी भावनाशीलता पर नियन्त्रण लगा दिया था। फिर भी मैं अपने व्यवसायी मित्रो के स्पर्श से और उनकी प्रणालियो के वश होकर पाश्चात्य रहन-सहन को अपनाने लगा था। प्रतिष्ठा बिना मिले न रह जाए, इस भय से मैं शराब पीने लगा और मासाहारी बनते-बनते रह गया। यूरोपियन पहनावा मैंने अपनाया। भावनाशीलता की विडम्बना करना, पराई स्त्रियों के विषय मे झूठी-सच्ची दिलचस्प बातें बनाना, अश्लील चुटकुले कहना, ससार मे खाने, पीने, मौज करने के सिद्धान्त को प्रतिपादित करना, पाश्चात्य सभ्यता के बिना सफलता नही मिल सकती, इस सिद्धान्त को मानना और मनवाना,—अपने मित्रों मे

---

१ इस उपन्यास में मुचकुन्द नामक ग्रेजुएट एक निराधार विधवा को बचाता है और बाद में अपनी पत्नी के मर जाने पर उसके साथ विवाह करता है।

प्रचलित इन जीवन-चर्याओ मे मुझे उस समय आनन्द नही आया था, यह कहना असत्य है।

कभी-कभी ये प्रश्न भी उत्पन्न होते थे कि इस प्रकार के जीवन को हीन क्यो माना जाय ? ता० ६-४-१६ का अंकन कहता है—

'जगत् मे कोई कीर्त्ति पाने के लिए आतुर है,
कोई पैगम्बर के बहिश्त के लिए अधीर है,
परन्तु यह चिन्ता किसलिए ?
उधार लेना छोड दे,
दूर के दुन्दुभि-नाद की परवा मत कर,
नकदी को सँभाल कर रख।

● ● ●

मिट्टी मे मिलने से पहले
जो कुछ पास है, उसे कुशलता से खर्च कर।
मिट्टी मे से उत्पन्न हुआ है और मिट्टी मे मिल जाएगा,
और दबना भी मिट्टी मे है।
सदा ही सुराहीन, सगीतहीन,
गाने वाली के साथ के बिना,
और इस दशा का अत हुए बिना
परन्तु जिसका यह ध्येय हो, वह मनुष्य सुख उठा सकता है ?'

---

1. Some for The Geories of This World: and Some
Sigh for the prophet's paradise to come
Ah, take the cash, and let the credit go,
Nor heed the music of a distant Drum !

● ● ●

Ah, make the most of what we yet may spend,
Before we too into the Dust descend;
Dust into Dust, and under Dust, to lie,
Sans wind, Sans song, Sans Singer, and—Sans End.

Rubaiyat of Omar Khayyam
Stanza 13 & 26

परन्तु भावना न हो, तो तुरन्त तृप्ति हो जाए और तृप्ति हुई कि जीवन असह्य हो उठे। 'पतन्ति नरकेऽशुचौ।'

जिस दिन से मैंने निस्त्रैगुण्य का विचित्र अर्थ लगाया और उसकी छाया मे सफल व्यावहारिक के लक्षण प्राप्त करने का परिश्रम करना आरम्भ किया, उस दिन से मैने ऐसा मार्ग पकडा कि जिससे पाश्चात्य सस्कारो को अपनाने का कार्य सरल हो जाए। ज्योतिषी कहते हैं कि गुरु आध्यात्मिक ग्रह है और शुक्र रसिक, मौजी ग्रह है। कुण्डली मे यदि ये दोनो एक स्थान पर एकत्र हो जाएँ, तो जातक वैराग्य और मौज-शौक, भावना और विलास के बीच झोके खाते रहे। ज्योतिष जाने बिना ही मुझे इस सिद्धान्त का स्वय अनुभव हो रहा था। उल्लास की प्रचण्ड तरगे आती, विलास की आकाक्षा जागती और पुन वैराग्य आकर्षित कर लेता, और मै भावना-प्रधान हो उठता। इन दो कृतियों को एकरूप करने का मैं प्रयत्न करता, पर उसमे सफलता नही मिलती थी। गीता के सूत्रो के जाप से जब मैं उल्लास और विलास की तरंगो को क्षण-भर के लिए कुचल डालता, तब वे मेरी कहानियो मे फूट निकलती। मैं अच्छा खाने-पीने और पहनने मे लग जाता, प्रभाव और सत्ता की आकाक्षा को पूर्ण करता। 'आढ्योऽभिजनवानस्मि को कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'[1] और इस मनोदशा का पोषण करता, अत' विश्वमित्र और व्यास के समान जीवन के लिए तरसता, भावनाशीलता को खोने की वेदना अनुभव करता और दुखी होकर अपने मनोभावो को अकित करता।

१९१४ मे जब मैंने योगाभ्यास छोड दिया और निस्त्रैगुण्य को कर्म-योग मे उतारने का प्रयत्न किया, तब से आत्म-दमन कम हो गया। और ज्यों-ज्यो वह कम होता गया, त्यो-त्यो गीता रट-रटकर मनोदशा सुधारने का प्रयास, जीव पर अत्याचार करने के समान प्रतीत होने लगा तथा प्रभाव-वृत्ति (Sense of Power) कल्पना मे अधिक घूमने लगी।

---

१ मैं धनाढ्य हूँ, मेरे समान अन्य कौन है ?

श्रीमद्भगवद्गीता, अ० १६ श्लो० १५।

मुझे गुजरात के इतिहास का आरम्भ से शौक था। जब कॉलेज मे था, तब Brigg's 'Cities of Gujrat' पढकर 'The Graves of Vanished Empires' नामक लेख बडौदा-कॉलेज के पत्र मे लिखा था। जब मै गुजराती पढने और लिखने लगा, तब मेरे हृदय मे गुजरात की भक्ति के अंकुर फूटने लगे और मैने गुजरात का इतिहास पढना आरम्भ किया। उसी समय 'गुजराती' पत्र का निमत्रण मिला और नब्बे रुपयो मे मैंने उसकी भेंट पुस्तक के रूप मे एक ऐतिहासिक उपन्यास लिख देने का वचन दिया।

'पाटण नी प्रभुता' ('पाटण का प्रभुत्व') को मैंने छुट्टियो मे लगातार लिखकर खत्म किया और इससे वह सुमबद्ध और एकरूप हो सकी। मेरी प्रणय-तरगे वश मे हो गई थी। प्रभाव वृत्ति और भावनाशीलता की समन्वय-मूर्ति मुजाल प्रकट हुआ। प्रभाव के अन्दर से व्यवस्था-वृत्ति झांक रही थी और उस कल्पना मे गुजरात की महत्ता का सृजन हुआ।

अनेक लोगो ने मुजाल और मीनल के सम्बन्ध को ड्यूमा से प्रभावित माना है। पर मुजाल मे रिशल्यू या माजारिन का अश नही है। वह तो प्रणययोगी, भावनाशील, उन्नताशयी और प्रचण्ड उर्मियो का धनी है, जब कि रिशल्यू प्रतिष्ठा का भूखा, द्वेषी और नीच है। वह रानी को प्रेम नही करता। माजारिन अधमता का अवतार है। दोनो रानियो मे भी कोई समानता नही है।

मेरी लिखने की पद्धति ही ऐसी है, जिसमे ससकल्प अनुकरण के लिए स्थान नही है। जब मैं कहानी लिखने बैठता हूँ, तब मुझे पहले दो-तीन परिच्छेद एक-दो बार पुन -पुन. लिखने पडते हैं। बाद मे वह सृष्टि मेरी कल्पना पर अधिकार जमा लेती है। उसके पात्रो मे मैं तन्मय हो जाता हूँ। शब्द, व्याकरण या अक्षर-विन्यास की परवा किये बिना मेरी कलम कल्पना द्वारा निर्मित प्रसगो, भावो, और वार्तालापो को केवल वेग-पूर्वक व्यक्त करने का अन्धा साधन बन जाती है। ऐसे समय मेरी उद्दीप्त कल्पना किसी की प्रतीक्षा नही करती। अपने नियमों के अनुसार मेरी

पूर्वसंचित सामग्री की सहायता लेकर वह शाब्दिक सृजन करती है।

मेरे आलेखित किये हुए मिनल देवी और मुंजाल के प्रसंगों पर बहुत टीका हुई है। विधवा रानी तेजस्वी मंत्री के लिए प्रेम रखे, सेठानी कुशल वणिक की ओर आकर्षित हो, ऐसी घटना कभी घटित नहीं होती, यह कौन कह सकता है? दोनों प्रतापी और ऊर्मिवान हों, एक ही ध्येय की साधना के लिए सवेरे, दोपहर और रात को जिन्हें मिलने का काम पड़ता रहता हो, दोनों एक-दूसरे के गुणानुरागी हों, तिस पर भी प्रेम न होना अस्वाभाविक है। मुंजाल और मीनल में संयम है। उनके सम्बन्ध में विषय-तृप्ति से भिन्न सूक्ष्म तादात्म्य की भावना गुजरात की महत्ता सिद्ध करने की महत्त्वाकांक्षा में लीन हो गई है। एक क्षण-भर की ही निर्बलता सारे तेजस्वी सम्बन्ध की शोभा बढ़ाती है। परन्तु यह तो कहानी लिखने के बाद का उसका पृथक्करण है।

मुंजाल और मीनल मेरी कल्पना के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं। माँ अपने बच्चों को ससंकल्प निर्मित नहीं कर सकती। मैं अपने इन पात्रों को ससंकल्प निर्मित नहीं कर सका। वे मेरे प्राण के प्राण थे, मेरी अस्थि की अस्थि थे। मैं कलाकार के रूप में अनजाने ही अपने स्वधर्म का अनुभव कर रहा था।

यदि मैं कलाकार हूँ, तो कलाकृति का सृजन करने का मुझे अधिकार है। मेरी सृष्टि जिस प्रकार पाठक को सजीव मालूम हो, मेरी कल्पना की सन्तानें मानवता से छलकती प्रतीत हों, तभी मेरी सृजन-कला सफलता प्राप्त कर सकती है, और यदि मेरी निर्मित सृष्टि के स्त्री-पुरुषों में पाठक की कल्पना में घर करने की शक्ति हो, तो उस शक्ति से ही उनका अस्तित्व में आने का अधिकार सिद्ध हो जाता है। मीनल और मुंजाल यदि प्रचण्ड मानवता के अधिकारी बनकर पाठक के हृदय में निवास कर सकते हैं, तो उन्हें जन्म लेने का अधिकार क्यों नहीं हो सकता? यदि उनकी मानवता कृत्रिम या शिथिल होगी, तो वे मर जाएँगे और जगत् को इससे कभी दुःख न होगा।

परन्तु जब मैंने उनका सृजन किया, तब मुझे पता नहीं था कि गुजराती साहित्य-प्रणाली उभरे हुए मनुष्यो के स्वाभाविक व्यवहार को साहित्य-कृति मे पढकर—दिलचस्पी से पढकर भी—व्याकुल हो उठती है।

'पाटण नी प्रभुता' ('पाटन का प्रभुत्व') मे एक धर्मान्ध यति धर्म-विषय करने के लिए प्रतिपक्षी को डुबा देता है। इससे अनक नव-शिक्षित जैनो की भावना को ठेस पहुँची। यह असहिष्णुता का युग है। उन्हे ऐसा दिखाई दिया कि पिनल-काड की १५३ (अ) धारा के अनुसार यह मैंने जातियो के बीच वैमनस्य उत्पन्न कराने का अपराध किया है। उन्होने इसकी खोज की, कि कहानी लेखक 'घनश्याम' कौन है ? उस पर फौजदारी करने के लिए सरकार की मजूरी लेने का आन्दोलन शुरू हुआ। मुजाल भी श्रावक था और इस बात की ओर तो भला उनका ध्यान जाने ही क्यो लगा था, कि जब तक मैंने उसे जीवित नही किया, तब तक वह केवल नामावशेष ही था।

एक रात को स्वर्गीय वाडीलाल मोतीलाल शाह—वा० मो० शाह के नाम से वे परिचित थे—एक मित्र को लेकर मेरे पास आये। वे बहादुर आदमी थे। जैन धर्म के इतिहास को वीर्यवान बनाने की उन्हे अभिलाषा थी। 'पाटन का प्रभुत्व' पढकर, मेरी चित्रित की हुई जैनो की महत्ता पर वे खुश हो गए थे। जब अनेक लोगो ने मुझ पर फौजदारी करने की चर्चा चलाई, तब उन्होंने विरोध किया और उनकी बात जब न मानी गई, तब वे 'घनश्याम' कौन है, इसका पता लगाकर मुझे अभय-दान देने आये। उन्होने कहा कि यदि फौजदारी होगी तो वे बचाव का खर्च देंगे और प्रमाण भी उपस्थित करेंगे। यह बात सुनकर मेरी हिम्मत टूट गई। मै कहानी लिखता हूँ, इस बात को मैंने बडी कठिनाई से अपने सालिसिटर मित्रो से गुप्त रखा था। यह बात मालूम हो गई, तो उनकी दृष्टि में कानून के समान ईर्ष्यालु स्त्री को त्याग करने का अपराध मैंने किया है, यह प्रसिद्धि फैल जाएगी। जमीयतराम काका भी सहायता देना

बन्द कर देंगे। अब यदि 'दि एम्परिस्ट, कन्हैयालाल मुंशी उर्फ घनश्याम व्यास' पर फौजदारी हो, तो क्या बने ? धाराशास्त्री के रूप में मेरे भविष्य का अन्त ही हो जाए।

इस मुसीबत में मैं घबराता हुआ काका के पास गया।

"काका, मैं तो बड़ी मुश्किल में आ पड़ा हूँ।"

"कैसी मुश्किल भाई ?"

"मैंने कहानियाँ लिखी हैं।"

"मैं जानता ही था कि तुमसे सीधी तरह व्यवसाय नहीं होने का।" सख्ती से काका ने कहा, "कैसी कहानियाँ ?"

"वेरनी वसूलात··"

चमत्कार हुआ। काका के मुख पर से क्रोध की रेखाएँ अदृश्य हो गईं। आश्चर्य छा गया, आश्चर्य हट गया, मुसकान फैल गई। परन्तु मेरे आश्चर्य की सीमा न रही।

"तनमन तुम्हारी लिखी है ? मैं तो सोचता था कि ·ने लिखी है। Wonderful! डुमस के परिच्छेद तो मैंने अनेक बार पढ़े हैं। और जगत तो मालो·· भाई[1] हैं।"

इस व्यावहारिक मनुष्य के हृदय में तनमन को इस प्रकार बसा हुआ देखकर मेरा भय दूर हुआ और मेरा मुख खिल उठा।

"परन्तु काका, मैंने 'पाटन का प्रभुत्व' लिखा है।"

और वाडीलाल शाह की बताई हुई सारी बातें मैंने विस्तार से उनसे कहीं।

"अब कर चुके फौजदारी। कागज़ात गुलाबचन्द के पास गये हैं न ? ठीक, कल लाइब्रेरी में देखा जाइगा।"

दूसरे दिन बारह बजे लाइब्रेरी में काका अपने दरबार में शोभायमान थे। गुलाबचन्द दमनिया सालिसिटर आये।

"गुलाबचन्द, इधर आओ" काका ने बात छेड़ी, "तुमने इन्हें

---

१. उनके एक परम मित्र।

पहचाना ? ये है मि० मुन्शी, अच्छा काम करते हैं। तुम्हे वह डुम्मसवाली कहानी याद है क्या—तनमन की ? तुम, कबलभाई और मैं जिसके विषय मे बात कर रहे थे ?"

"हाँ-हाँ, वह कहानी मैंने सारी पढी है। A fine book "

"परन्तु भाई, इस पर तुम्हारे जैनी फौजदारी करने जा रहे है। इसने 'पाटन का प्रभुत्व' लिखा है।

"Nonsense! अध्यक्ष ने मेरे पास वह पुस्तक भेजी है। उसमे जाति-विग्रह जगाने का अपराध कहाँ से आया! Absurd! Don't worry, young man "

यह विषय इस प्रकार समाप्त हुआ। इसके पश्चात् अनेक मित्रो की ओर से मुझे सूचना मिली कि मै कुमारपाल के विषय मे कहानी लिखूँ, तो मुझे पाँच सौ रुपये पारिश्रमिक मिलेगा। मुझे गुस्सा आ गया और मैंने उत्तर दिया—

"पैसे कमाने के लिए मै हाईकोर्ट मे आया हूँ। भाग्य मे होगा, तो वहाँ पैसे मिल जाएँगे। ईश्वरेच्छा होगी तो कुमारपाल पर कहानी लिखूँगा, पर पहले पैसे लेकर तो हरगिज नही लिखूँगा।"

बारह

इतिहासकार और उपन्यास-लेखक जिस प्रकार मनुष्य का पृथक्करण करते है, उसी प्रकार इस समय मैं भी अपना पृथक्करण कर रहा हूँ। वह वस्तु लोभ से हुई और यह देश-भक्ति से। वास्तव मे जब यह कृत्य मनुष्य करता है, तब उसमे वही शक्ति-अशक्ति व्यक्त होती है, जिसका कि वह पुज होता है। उसका आशय क्या है और वह एकरूप है या नही, यह भी उसकी समझ मे नही आता। परन्तु आज सत्ताईस वर्षो मे मै इतना कह सकता हूँ कि जब से मैंने मुजाल की कल्पना की, तब से मुझमे गुजरात की अस्मिता जागृत हुई।

१९१५ मे गुजरातियो मे—कुछ साहित्यकारो को छोडकर—राष्ट्रीय

या सास्कृतिक अस्मिता नही थी। 'जय जय गरवी गुजरात' एक-मात्र प्रसिद्ध गीत था, सामुदायिक सज्ञा नही थी। अस्मिता की वह मूर्ति 'साहित्य-परिषद्' भी थोड़े-थोड़े वर्षों बाद लगती और बिखर जाती थी। गुजराती साहित्यकार व्यक्तिगत काम करते थे। सामुदायिक प्रयत्न कदाचित् ही किया जाता था। राजनीतिक क्षेत्र मे गुजरात का स्थान था ही नही। कुछ गुजराती वगाल से राष्ट्रीयता की भावना लाए थे। मै चन्द्रशकर के मडल के सिवा और किसी के ससर्ग मे नही आया था। नर्मदा की कृतियो से मै परिचित नही था। मे कुछ-कुछ यह मानता था कि राष्ट्र-धर्म का पालन करने मे प्रान्तीय भक्ति अन्तराय-रूप बनेगी।

उस समय गुजरात का इतिहास नही था। मैं अभी रणजीतराम से नही मिला था। मैंने फार्बस रासमाला के सिवा और विशेष कुछ नही पढा था। परन्तु पड्रिपुमण्डल और गुर्जर-सभा के सम्पर्क से मुझे गुजराती साहित्य के प्रति प्रेम हो गया। साहित्य के इस स्पर्श द्वारा मैने गुजरात के महत्त्व की कल्पना की। १९१६ मे 'पाटन का प्रभुत्व' के उपोद्घात मे मैंने लिखा—'गुजरात एक महावृक्ष है। उसकी जड मे परमात्मा श्री कृष्ण का कर्मयोग छिपा हुआ है। उसकी डालियो पर दयानन्द और गाधी की[1] कोपले फूटी है।'

इस महत्त्व के विधायक की खोज मे कल्पना ने मेरी प्रभाव-वृत्ति की सहायता से मुजाल मेहता को जन्म दिया। इस प्रकार मुजाल मेरी गुजरात की अस्मिता की सन्तान और पिता दोनो है।

'पाटन का प्रभुत्व' लिख जाने पर खुशालशाह ने गद्गद् हृदय से उसका स्वागत किया, और एक-दो परिवर्तन भी बताए। वे बैरिस्टर होकर आए और तुरन्त ही 'सेण्ट ज़ेवियर्स कॉलेज' मे लेक्चरर नियुक्त हो गए। उनके

१ पहले संस्करण में 'गुजरात' के संपादक ने मेरा लिखा 'गांधी' शब्द हटाकर नर्मद रख दिया। मैंने रणजीतराम पर लिखे लेख में मूल वाक्य रखा था। देखिए मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो' का 'रणजीतराम' (१९१७) पृष्ठ ९१।

साथ मेरी मित्रता हो गई। हम वाट्सन होटल मे चाय पीने के लिए इकट्ठे होते और वहाँ से पैदल चलते हुए अनेक बार मेरे घर या उनके घर जाते थे। कभी-कभी एक-दूसरे के घर भी हम लोग मिलने के लिए जाया करते थे। त्योहार-पर्व के दिन वे, उनकी पत्नी, लक्ष्मी और मै अक्सर साथ-साथ घूमने निकला करते थे। उनकी बुद्धि उसी प्रकार चमकती थी, जिस प्रकार हीरा कोने-कोने से चमकता है। उनका अगाध पठन विविध विषयो पर प्रकाश डालता था। हम अपने मतव्यो और आकाक्षाओ का विनिमय किया करते, और इससे मुझे बडा प्रोत्साहन मिलता था। १९१४ से १९२२ तक के इस जीवन-खड मे शाह का स्नेहपूर्ण और प्रोत्साहक सम्बन्ध कष्ट-साध्य मथनो को हल्का किया करता था।

जब 'पाटन का प्रभुत्व' पूरा लिखा जा चुका था, तभी स्वर्गीय रणजीत-राम बाबाभाई, जिस मजिल पर हम रहते थे, उसी पर पास वाले कमरे मे रहने के लिए आ गए। उनके साथ भी मेरी प्रगाढ मैत्री हुई। वे रोज़ रात को मेरे घर पहुँचते ही बालक अशोक को उठाकर, बगल मे जॉनसन या द्वयाश्रय लिये हुए, काव्य और इतिहास की अनेक चर्चाओ हेतु मुस्कराते हुए आ जाते थे।

'वे सूरत के वाल्मीक कायस्थ थे। सन् १९०३ मे उन्होने गुजरात कॉलेज से बी० ए० किया। एक वर्ष कॉलेज मे फेल हुए, फिर उमरेठ मे मास्टर हो गए। बाद मे प्रोफेसर गज्जर और सर प्रभाशकर पट्टनी की निजी व्यवस्थापक के रूप मे सेवा की। मृत्यु के समय वे सेठ नरोत्तमदास मुरारजी के पुत्र के शिक्षक थे।'[1]

१९१७ की चौथी जून को वे जुहू के समुद्र मे डूब गए।

'उनके मन मे गुजरात के भूतकाल का सपूर्ण इतिहास लिखने की अभिलाषा थी। और इसके लिए उन्होने प्रथम परिश्रम करके साधन इकट्ठे किये थे '''साहित्य से ही गुजरात गर्वित होगा, और उससे राष्ट्रीय अस्मिता प्रकट होगी, यह उनका निश्चल सिद्धान्त था।'

१. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो' का 'रणजीतराम' (१९१७), पृष्ठ ८७।

रणजीतराम के स्वर्गवास पर मैंने उन्हे जो स्मरणाजलि अर्पित की थी, उसमे मैंने उनका ऋण माना था ।

'मेरी लेखन-प्रवृत्ति निर्जीव और अपूर्व थी, फिर भी उनकी मीठी, अपरिचित वृत्ति ने उसे उत्तेजना दी, और उसे नवीन दिशा दिखाई। थोडे समय बाद मेरी आदत हो गई कि मै कुछ लिखता, तो उसके लिए उनकी सम्मति की प्रतीक्षा करता । मैं यह निश्चयपूर्वक नही कह सकता कि यदि वे न होते, तो मेरी दूसरी ऐतिहासिक कहानी 'गुजरात के नाथ' ('गुजरात नो नाथ') प्रस्तुत रूप मे लिखी जा सकती या नही । उस कहानी के लिए जब भी आवश्यकता होती, वे साधन एकत्र कर दिया करते थे । जब भी आवश्यकता होती, तभी वे अपनी विचारशील सम्मति से मुझे मार्ग दिखलाने को तत्पर रहते थे ।'

मेरे मन मे रमी हुई गुजरात की अस्मिता की भावना ने उनके साहचर्य से प्रकट स्वरूप प्राप्त किया, और उन्हे अंजलि देते हुए उनकी विशिष्टता को मैंने इस प्रकार प्रदर्शित किया—

'रणजीतराम व्यक्ति नही थे—एक भावना थे, गुजरात की राष्ट्रीय अस्मिता (Self-consciousness) के वे अवतार थे । उसी के लिए वे जीवित थे, उसी के लिए उन्होने त्याग-वृत्ति धारण की, उसी के लिए वे नये-नये मनुष्यो के ससर्ग मे आने के लिए अधीर रहते थे, उसी के लिए वे सब-कुछ सहकर सबको उस भावना से प्रेरित करने के प्रयत्न करते थे। उनके हृदय मे एक ही विचार था—हमारी सस्कृति कब विजय प्राप्त करेगी; और इन सबके परिणामस्वरूप कब नवीन गुजरात अवतरित होगा ? उनकी दृष्टि के आगे नवीन गुजरात केवल स्वप्न नही था, वरन् एक सत्य था । वे सबको केवल एक ही लक्ष्य की ओर प्रेरित करते थे—गुजरात के गौरव, एकरूपता और अस्मिता की ओर ।'[1]

इस प्रकार गुजरात की अस्मिता मेरे जीवन मे एक प्रचड बल बनकर रही और आज जब मैं भूतकाल की ओर दृष्टि डालता हूँ तब यह

१. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो' का 'रणजीतराम' (१९१७), पृष्ठ ८७-९० ।

स्पष्ट रूप से देख सकता हूँ कि वह बल मेरे साहित्य और जीवन के अनेक प्रसंगो को एकरूप बनाने मे समर्थ सिद्ध हुआ है ।

तेरह

चन्द्रशकर ने जब मेरा हाजी मुहम्मद अल्लारखिया शिवजी से परिचय कराया, तब वे 'सदी' निकालने के अनेक वर्षों के स्वप्न को सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे। कला के सम्पूर्ण प्रदेश की उनकी जानकारी, योग्यायोग्य सजावट, निश्चित करने का विवेक और कला के विकास मे उनका विश्वास—ये सब ऐसे थे कि मैं भी उनकी ओर आकर्षित हुआ। वे मुझे अपने एक खोजा मित्र के पास ले गए और उन्होने मेरे भविष्य मे लिखे जाने वाले पाँच उपन्यासो के अधिकार खरीद लेने की इच्छा प्रकट की। मैने केवल 'बीसमी सदी' के लिए 'गुजरात के नाथ' लिख देने का वचन दिया।

रविशकर रावल उस समय उदीयमान कलाकार थे। उन्होने उसके लिए चित्र तैयार कर देना स्वीकार किया।

हाजी मुहम्मद का घर साहित्य और कला-प्रेमियो के क्लब के समान था, और मैं जब भी वहाँ जाता, तभी किसी कलाकार या साहित्य-प्रेमी से मेरा नया परिचय होता था। हाजी मुहम्मद बातचीत मे कम भाग लेते, परन्तु उसकी अग्नि मन्द होने पर उसे दो-चार बातो से प्रज्ज्वलित कर देते थे। जब उनका अवसान हुआ, तब मैंने 'स्मरणाजलि' मे लिखा—

'वह कला का भक्त था। सगीत, नाटक, अभिनय, नृत्य, कविता, कहानी, चित्र और शिल्प-कला—इन सब रूपो का वह पूजन करता था। वह सदा भक्ति-भाव मे ही लीन रहा, कभी समालोचक नही बना और न बनने की इच्छा ही प्रकट की। भारत मे—गुजरात मे कला का शौक बढ़े, कलाकारो का मूल्य आँका जाए, कलामयता प्रसारित हो, यही उसके जीवन का आदेश था। प्रत्येक कोटि के कलाकार—कवि, नाटककार, कथाकार और हास्य-लेखक, चित्रकार तथा

मोह था और सबको वह उत्साहित करता था। ग्रीक कला-विधायको के सौन्दर्य-आलेखन या भारतीय कला-विधायको की आध्यात्मिकता के प्रति उसे पक्षपात नही था, न ही श्री नानालाल के मोहक शब्द-जाल के प्रति या श्री नरसिंहराव की भावना-प्रधान सरलता के प्रति था। जहा भी कला के दर्शन होते, वही वह प्रणिपात करता था।[1]

नरसिंहराव भाई 'बीसमी सदी' मे बहुत दिलचस्पी लेते थे। इसलिए हम लोग बहुधा हाजी मुहम्मद के यहाँ इकट्ठे हुआ करते थे। कभी-कभी बादरा के ब्ल्यू बंगले मे भी मैं जाया-आया करता था। 'पाटन का प्रभुत्व' उन्हे बहुत पसन्द आया था, और 'गुजरात के नाथ' की कहानी जैसे-जैसे छप रही थी, वैसे-वैसे उनकी ओर से सूचनाएँ मिलती रहती थी। उनकी विवेचक दृष्टि बडी ही तीव्र थी। शब्द, भाव, घटना और वार्तालाप—सबको वे कठिन कसौटी पर कसा करते थे। परन्तु पहले वे जितने भय-जनक मालूम होते थे उतने अब नही मालूम होते थे।

जीवन-भर उन्होने साहित्य की सेवा की थी, सुख और दुख मे साहित्य ही उनका साथी था। तलवार की धार के समान विवेचक बुद्धि के कारण वे गुजराती साहित्य मे सर्वमान्य न्यायाधीश के सिंहासन पर बैठे हुए थे। उनके सद्भाव से मुझे प्रेरणा मिलने लगी। १९१८ मे जब 'गुजरात के नाथ' बीसमी सदी' में समाप्त होने को आया, तब मैंने उनसे उसका उपोद्घात लिख देने की प्रार्थना की। उन्होने उत्तर दिया—

ब्ल्यू बगला, बादरा,
बबई, १४-३-१९१८

श्री भाई कन्हैयालाल,

सस्नेह नमस्कार।

श्री नेत्रमणिलाल ने थोडा-सा माँगने की अपेक्षा अधिक लम्बा कदम रखा है। पर कोई हर्ज नही। कहानियो की फाइलें भेजी, इसके लिए

---

१. मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो'—'हाजी मुहम्मद' (१९१९), पृष्ठ १५२-५३।

कृतज्ञ हूँ। Guillotine पर चढने वाले अपराधी के विषय मे तुम जो लिख रहे हो, उसे मै Serious नही मानता। यदि वह Serious हो तो उससे तुम्हारे अपने प्रति और मेरे प्रति भी अन्याय होता है। 'पाटन का प्रभुत्व' और 'गुजरात के नाथ' इन दो कहानियो के विषय मे मैंने तुम्हारे आगे जो सम्मति प्रकट की थी, वह यदि स्मरण हो, तो फिर भय के लिए स्थान नही है। और भय किसका है ? मैं भयानक हूँ ? मुझमे कोमल भाव का अश बिलकुल नही है ?

अत्र कुशल, तत्रास्तु।

शुभचिन्तक—नरसिंहराव

नरसिंहराव भाई ने जो उपोद्घात लिखा, उसमे गोवर्धनराम के साथ मेरी तुलना की। परिणामस्वरूप मेरे प्रति अनेक मित्रो का प्रेम पहले से कम हो गया।

उन दिनो प्रो० बलवतराय कल्याणराय ठाकुर भी मुझमे बड़ा रस लेने लगे थे। ज्योही वे आते, त्योही अपने लाक्षणिक विनोद से कहते—"आ जाऊ क्या ? यदि चाय बनवानी हो, तो तीन-चार प्याले बनवाना। इससे कम बनवाओगे तो मेरा काम न चलेगा।' बालूभाई मुझे सदा नारियल का स्मरण दिलाते थे। उनकी दिखावटी कर्कशता को भेद-कर यदि उनमे बसे हुए सद्भाव और रसिकता के मीठे पानी को पीने का सौभाग्य आपको प्राप्त होता, तभी आप उनकी आन्तरिक सरसता से परिचित हो सकते थे। परन्तु इस प्रकार ऊपर का आवरण दूर करना बडा कठिन था। मेरे प्रति उन्हे पहले से ही ममता थी। 'वेरनी वसूलात' जब पुस्तक रूप मे छपी, तब उसके साथ सादे कागज़ जोडकर, उसमे उचित सशोधन करके मुझे देते हुए उन्होने कहा—

"जब फिर से छपेगी, तब काम आएँगे।"

बालूभाई की साहित्यिक दृष्टि बड़ी ही सूक्ष्म थी। उनकी सरसता की भावना भी सूक्ष्म थी। उनकी विवेचन की पद्धति तीव्र थी। साथ ही युग के बहाव मे भी अपनी पद्धति के साथ चिपके रहने की उनमे

विचित्र शक्ति थी।

उन वर्षों मे उन्होने मुझे बडा मार्ग-दर्शन कराया। 'पत्रकारिता और साहित्य मे शत्रुता है। यदि पत्रकार बनोगे, तो साहित्य के झरने सूख जाएंगे।' एक बार यह कहकर उन्होने मुझे रोका था। उन्हे यह भी भय था कि व्यवसाय मे पड़कर मै साहित्य को छोड दूंगा। यह बात वे दावे के साथ कहते थे। उनके एक अंग्रेजी पत्र को मैंने अमूल्य चेतावनी समझकर सँभालकर रख छोडा है, उस चेतावनी के ऋण को मैं आज स्वीकार करता हूँ, यद्यपि अपने स्वभाव से निथरती हुई भावनाओ का भक्त मैं उस शिक्षा से लाभ नही उठा सका।

वह पत्र इतना सुन्दर है कि उसे यहाँ उपस्थित करने का लोभ मै सवरण नही कर सकता—

पूना, २७-८-१५

प्रिय भाई मुन्शी,

हानि हम दोनो की हुई है, मुझे विशेष। कारण, कि मैंने आशा की थी कि यहाँ पूना की शान्ति मे तुम्हारे साथ कुछ घण्टे बिताए जा सकेगे और हम एक-दूसरे के विशेष परिचय मे आ सकेगे।

परन्तु तुम्हारा व्यवसाय तुम्हें निगलने लगा मालूम होता है। मैं तुम्हे एक चेतावनी देता हूँ। यह तुम्हारी बुद्धि, प्रतिभा सभी को निगल जाएगा। मै ऐसे केवल दो पुरुषो को जानता हूँ, जिन्होने व्यवसाय के प्रति पूर्णरूप से कर्त्तव्य-पालन करने पर भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा की थी, वे दो—एक स्वर्गीय और दूसरे जीवित—एक गुजरात के सुप्रसिद्ध दूसरे लगभग अदृश्य हुई पीढी के भारतीय समाज सेवको मे सबसे महान् और कुशल;—एक गोवर्धनराम त्रिपाठी और दूसरे मेरे गुरु राजकोट वाले सीताराम नारायण पडित। परन्तु वे दोनो असाधारण बुद्धिशाली थे। पडित इस समय इतने वृद्ध और अशक्त है कि उनका अब तक जीवित रहना एक आकस्मिक योग ही है। अत: उनके विषय में वर्तमान काल की अपेक्षा भूतकाल का प्रयोग अधिक उचित है। ये ऐसे पुरुष थे

जिनके लिए सम्पत्ति तुच्छ वस्तु थी। जीवन की सादगी ही उनके लिए जीवन का सच्चा रूप थी। और उनमें सकल्प बल—असली फौलाद-जैसा सकल्प-बल, हम मनुष्यो का सुपरिचित बडे-से-बडा बल—जन्म-सिद्ध या प्रयत्नपूर्वक पोषित किया हुआ था।

तुममे प्रतिभा है, परन्तु यदि तुम (१) सादे जीवन के प्रति सच्चे अनुराग और (२) फौलादी सकल्प-बल को पोषण नही दोगे, तो वकालत की यह राक्षसी तुम्हे सारा-का-सारा—पगडी के छोर से लेकर पैर के तलुए तक—तुम्हारी प्रतिभा और सब-कुछ निगल जाएगी। तुम युवक हो, और यह तुम्हारा असाधारण सौभाग्य है कि तुम्हे पहले से चेतावनी मिल रही है। तुम कुशलपूर्वक होगे, ऐसी आशा रखते हुए,

तुम्हारा शुभचिन्तक
ब० क० ठाकुर

लैटिन कवि वर्जिन ने कहा है कि स्वर्ग मे कवि लोग एक दूसरे के हाथ-मे-हाथ डाले घूमते रहते है, वहाँ इस प्रकार का घूमना तो भाग्य मे जुडा होता है, पर इस जगत् मे कवि एक-दूसरे के साथ मिलकर नही रह सकते। यह लगभग विश्व-नियम हो गया है, और यह बात तो प्रसिद्ध ही थी कि नरसिंहराव भाई और बलूभाई मे सच्चा प्रेम था।

इन प्रखर विद्वानो के इतने अधिक सद्भाव को सहन करना मेरे लिए कठिन हो गया। नरसिंहरावभाई मुझे मिलते, तो 'तुम्हारे बलूभाई' या 'तुम्हारे ब० क० ठा०' की खबर पूछते। बलूभाई मिलते, तो 'उन्हे न० भो० दि०' की चिन्ता होती। एक-दूसरे के विरुद्ध बोले बिना उन्हे चैन नही पड़ता था। मुझे कुछ-कुछ स्मरण है कि 'गुजरात के नाथ' का नरसिंहरावभाई द्वारा लिखा हुआ उपोद्घात पढकर बलूभाई अप्रसन्न हुए थे।

बलूभाई मे एक बड़ा गुण था—जिसे वे अपनाते, उसमे पूरी-पूरी दिलचस्पी लेते थे, उसकी छोटी-से-छोटी दिनचर्या भी उनके ध्यान से बाहर नही रहती थी और उसे सुधारने के लिए वे निरन्तर ज़ोर डालते

रहते थे। उनकी सलाह को अमल मे न लाने से वे बुरा मान लेते थे। वे नये हितैषी जब मिलते, तब उनके मन को दुखाए बिना अपने व्यक्तित्व की रक्षा करना मेरे लिए असिधाराव्रत के समान हो जाता था। मैंने उस व्रत को अगीकार किया। कटु न्याय-वचनो को निगल जाने की स्वाभाविक शक्ति मुझमे थी ही।

चौदह

इन वर्षों में जब मै माथेरान जाता, तब 'लक्ष्मी होटल' मे ठहरा करता था। वहाँ उसका मालिक मेरे लिए एक अच्छा कमरा रख छोडता था। एक बार जब माथेरान पहुँचा तब होटल का मालिक स्टेशन पर मिल गया। उसने कहा कि मेरा कमरा कवि नानालाल ने ले लिया है और वे कहते हैं कि मुन्शी को मेरे लिए कोई आपत्ति नही होगी।

'वसन्तोत्सव' मेरी प्रिय पुस्तक थी, और है भी। इसलिए उसके रचयिता के साथ रहने का सुअवसर मिलने से मुझे बडी खुशी हुई। मैं नानालाल से मिला और कुछ ही घण्टो मे हमारी एक-दूसरे के साथ खूब बन गई, मेरी खूब बन गई यह तो निश्चित है। खुशी की तरग मे होने पर नानालाल-जैसे विनोदी साथी का मिलना कठिन था। हम साथ-साथ घूमते, विविध विषयो पर बातें करते और रात को मैं उनके काव्य और गरबियाँ[१] गाया करता।

इस प्रकार साथ रहते हुए हमे चार-पाँच दिन हुए थे कि भूलाभाई और इच्छा बहन माथेरान आये। नानालाल के लिए भूलाभाई के सस्मरण बडे पुराने थे—तब के, जब वे कवि के लडके और भूलाभाई प्रोफेसर थे। भूलाभाई को जब पता लगा कि मैं होटल मे हूँ, तब वे आकर मुझे उस बँगले मे रहने के लिए ले गए, जिसमे वे ठहरे हुए थे।

तीनेक दिनों के बाद जब भूलाभाई बम्बई वापस चले गए तब मैं फिर होटल मे आ गया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मुझे इसके लिए

१ स्त्रियों के राग मे गाने की एक प्रकार की गुजराती कविता।

नि शब्द उलाहना दिया जा रहा है कि मैने कविवर को छोडकर भूला-भाई के साथ जाकर ठीक नही किया। नानालाल होटल के अन्य लोगो के साथ घूमने-फिरने जाने लगे। एक-दो दिन बाद उन लोगो को कवि के साथ ठीक न लगा और कवि पुन हमारे साथ घूमने लगे।

जो लोग दूसरो के जीवन-सम्बन्धी विषयो के बीच मे पडना धर्म समझ बैठते हैं, उनकी सगति असह्य हो जाती है।

कॉलेज की क्रिकेट-टीम के कैप्टन की तरह नानालाल मित्रो पर शासन करते थे। वे बम्बई आये और देवीदास सालिसिटर के यहाँ ठहरे। मित्रो के लिए आज्ञा-पत्र निकला—आज रात को नाटक मे, कल एलिफेण्टा और परसो खाने पर। मेरे समय और शक्ति के लिए इतना भार उठाना असम्भव था, इसलिए मैंने इन्कार कर दिया।

१९२० मे नानालाल कुछ महीनो के लिए बम्बई आये थे और शाताक्रुज मे मित्रो के यहाँ रह रहे थे। तब मैं उनसे मिलने जाया करता था। कवि बडी कृपापूर्वक यह स्वीकार करते थे कि उनकी कृतियो के प्रकाश मे आने के बाद दो बडी घटनाएँ घटित हुईं—एक तो 'सागर' की गजलो की और दूसरी मेरे उपन्यासो की। जहाँ नानालाल जाते वहाँ फूट अवश्य पड जाती थी। शान्ताक्रुज मे मास्टर और तारा बहन पर उनकी अपकृपा हो गई। उनके आचार-विचार पर आक्षेप होने लगे। जो मेरे लिए भाई-बहन के समान थे और जिनका जीवन शुद्ध और आदर्श-मय था, उनके लिए कवि के कहने से मैं लज्जित होने या क्षमा-याचना करती हुई मनोदशा बनाने को तैयार नही था। चन्द्रशकर दोनो को खुश रखने का प्रयत्न करते, इससे मै रोज उनके साथ लड़ा करता था।

जब भी नानालाल से मिलता, तब वही प्रश्न—"वहाँ गये थे क्या?"

एक बार उन्होने मेरे मुँह पर ही कहा—"यह मुन्शी मीठा ही बोला करता है। यहाँ, वहाँ और सब जगह।"

"हाँ, सच बात है। मैंने केवल कड़वा बोलने को ही जीवन का कर्तव्य नही माना है।" मैं नानालाल की डडेबाजी से त्रस्त जगत् मे

रहने को तैयार नही था।

फिर भी मैने यथाशक्ति प्रयत्न करके उनके साथ अपना सम्बन्ध बनाए रखा। १९२२ के दिसम्बर मे जब मैं अहमदाबाद मे लीला के पूर्वाश्रम मे, काम से उसके घर ठहरा, तब मित्र-भाव से अन्तिम बार नानालाल से मिलने गया था। प्राणलाल देसाई साथ थे। उस समय सरदार बल्लभभाई पटेल पर कवि की अपकृपा हो गई थी।

जब कवि राजकोट छोडकर अहमदाबाद आये थे, तब उनके मन मे आकाक्षा रही होगी कि वे गाधीजी के प्रेरक और साहित्य-निर्माता बनेगे। परन्तु गाधीजी के राज्य मे तो जिसकी जितनी शक्ति और उपयोगिता थी, उतना ही उसका स्थान था। कवि का स्थान कवि-रूप मे रहा। अहमदाबाद मे जब काग्रेस का अधिवेशन हुआ, तब वहाँ नानालाल का व्याख्यान होने वाला था। उनकी पत्नी सौ० माणिक बहन जब सभा-मडप मे आ रही थी, तब उन्हे न पहचानने के कारण एक स्वयसेविका ने रोक लिया। कवि गरम हो गए। स्वयसेविका ने माफी माँगी। नानालाल ने कहा कि बल्लभभाई को माफी माँगनी चाहिए। बात का बतगड बन गया। झगडा गाधीजी के पास पहुँचा। गाधीजी ने फैसला किया कि स्वयसेविका को माफ़ी माँगनी चाहिए, बल्लभभाई को नही, उनका इसमे कोई दोष नही था।

गाधीजी की पचासवी जन्म-तिथि पर जो कवि 'पचास-पचास घटे बजवाया करते थे', वे गाधीजी और उनके अनुयायियो के विरोधी बन गए। बल्लभभाई को उन्होने सन्देश भेजा—

"आ जाओ, स्थान नियत करके द्वन्द्व-युद्ध करने के लिए।" बल्लभ-भाई भी आखिर बल्लभभाई थे! उन्होने जवाब मे सन्देश भेजा—"मुझे स्थान नियत करने की आवश्यकता नही। जब भी और जहाँ भी तुम मिलोगे, वही तुमसे निबट लूँगा।"

दिसम्बर मे जब मै उनके घर गया, तब उनका मन इसी बात से भरा हुआ था। बात करते हुए मेरे मुख से बल्लभभाई का नाम निकल

गया और नानालाल उबल पडे—

"बल्लभ·· बल्लभ·· " और एक घटे तक यह पुराण मै बडे रस-पूर्वक सुनता रहा।

मित्र-भाव से इस प्रकार कवि मुझे अन्तिम बार मिले, बाद मे लीला पर उनकी जो अपकृपा थी, वह मुझ पर भी हो गई। मैंने 'अविभक्त आत्मा' नामक नाटक लिखा, 'जया जयन्त' का यह दूसरा पार्श्व था। स्त्री और पुरुष—,समतुल्य, प्रणयी और विवाह के योग्य हो, और फिर भी स्वेच्छा से विवाह न कर सके, यह अस्वाभाविक, अमानुषिक मालूम हुआ। मेरी अपनी कला से लिखे हुए उस नाटक पर कवि को रोष उत्पन्न हुआ। और उसके बाद से कवि को मुझ पर रोष करने की मान-सिक आवश्यकता पड गई है, इसके बिना उन्हे चैन नही पडता।

दुर्वासा, परन्तु आखिर थे तो ऋषि न !

'Gujrat and its Literature' मे गुजराती साहित्य मे कवि के रूप मे उनकी यश-गाथा मैंने मुक्त-कण्ठ से वर्णित की है।

मैं कवि को प्रशसात्मक भाव से स्मरण करता हूँ और वे मुझे वैर-भाव से स्मरण करते है।

पन्द्रह

१९१६ की पहली अगस्त को बीसेण्ट की काग्रेस को दी हुई नौ मास की अवधि समाप्त हो गई। लोकमान्य तिलक ने 'इडियन-होमरूल लीग' स्थापित की। सितम्बर मे बीसेण्ट ने मद्रास मे 'ऑल इडिया होमरूल लीग' की स्थापना की। थोड़े दिन बाद जमनादास, पी० के०, तैलग और सेठ रतनसी ने हम लोगों को चायना बाग मे एकत्र किया और 'ऑल इडिया होमरूल लीग' की बम्बई की शाखा की स्थापना हुई। उसी वर्ष लोकमान्य ने हाईकोर्ट मे की हुई अपील मे जिन्ना को बैरिस्टर नियत किया और इस प्रसग से उन दोनों का परिचय बढा।

१९१४ में काग्रेस के स्वीकार किये हुए कानून प्रयोग मे लाये गए थे,

और सूरत के बाद जब लोकमान्य पहली बार लखनऊ-काग्रेस मे आये, तब उत्साह की सीमा नही थी। बीसेण्ट ने एक वर्ष मे सारे हिन्दुस्तान मे घूम-कर डका बजवाया था, अत: सर्वानुमत से उन्हे प्रथम स्थान मिला। काग्रेस ने उनकी लीग को अपने एक अग के रूप मे स्वीकार किया।

जिन्ना ने काग्रेस के उसी अधिवेशन मे हिन्दू-मुस्लिम समझौता कराया। मुसलमान स्वराज्य के लिए लडने मे मदद दें और हिन्दू उसके बदले मुसलमानो को कौमी मताधिकारी सघ का अधिकार प्रदान करें, यह लखनऊ-सन्धि कांग्रेस और मुस्लिम-लीग दोनो ने मान्य की।

इस लखनऊ-सन्धि की प्रशसा हुई, परन्तु इससे हिन्दू-मुस्लिम एकता नही हुई। आज वह विष का बिन्दु बन गई है। हिन्दू को स्वराज्य प्रिय है, मुसलमान को कौम। १९०९ मे मिण्टो ने काग्रेस की राष्ट्रीय एकता तोडने के लिए मुसलमानो को कौमी मताधिकारी सघ का अधिकार देना स्वीकार किया। जिन्ना ने उसका विरोध किया था। और बाद मे जिन्ना ने उसी को पुन काग्रेस से स्वीकार कराया। "एक बार यह दे दो, तो मैं सात करोड मुसलमानो को साथ कर दूं।" यह निमन्त्रण काग्रेस ने स्वीकार किया—यह मान कर कि अब हिन्दू-मुस्लिम एकता हमेशा के लिए पक्की हो गई। परन्तु इस समझौते की नीव ही कच्ची थी। जब स्वराज्य की लडाई में मुस्लिम लीग की आवश्यकता होती, या कीमत देनी पडती, तब हिन्दू-मुस्लिम एकता दिल्ली की तरह 'दूरे अस्त' हो जाती।

परन्तु उस समय हमने तो जिन्ना को हिन्दू-मुस्लिम एकता का पैगम्बर समझकर उनकी कीर्ति फैलाई। हिन्दुओ के भोलेपन की सीमा नही है। महायुद्ध प्रचण्ड रूप से चल रहा था। १९१७ के मई मास मे मेसोपोटे-मिया मे भारत सरकार की पैदा की हुई उलझन की रिपोर्ट विलायत मे प्रकट हुई। उसमे कर्नल वेजवुड ने आग्रह किया कि भारतीयो को भारत की राज्य व्यवस्था मे बडा हिस्सा मिलना चाहिए, और माटेग्यू ने इस रिपोर्ट की चर्चा करते हुए पार्लियामेट मे भारत सरकार को खूब फट-कारा। १६ जून को यहाँ बीसेण्ट और उनके दो साथियो की धर-पकड

हुई, और उन्हे नजरबन्द कर दिया गया। देश मे आन्दोलन जाग पडा और बम्बई की 'होमरूल-लीग' की पुनर्घटना हुई। जिन्ना उसके अध्यक्ष, बहादुरजी, जयकर, भूलाभाई और जमनादास उपाध्यक्ष, उमर सोभानी और शकरलाल मत्री, कानजी द्वारकादास कोषाध्यक्ष, चन्द्रशकर, विभाकर मास्टर और मै कार्यकारिणी-समिति के सदस्य थे, हार्निमेन और सैयद हुसेन उस समय 'बॉम्बे क्रानिकल' का सचालन करते थे, वे भी उसमे थे।

हमने तुरन्त जोर-शोर से प्रचार करना आरम्भ किया। बम्बई मे शातााराम की चालो को हम रोज गुँजाते थे। प्रति शनिवार और रविवार को दो-दो, तीन-तीन आदमी जाकर गुजरात मे प्रचार कर आते थे। महाराष्ट्र मे लोकमान्य प्रचार कर ही रहे थे। हम पत्रिकाएँ भी बाँटते थे। मैने 'लोक-शासन', पर लीग के लिए निबन्ध तैयार किया और लीग ने ही उसे पहले प्रकाशित करके बाँटा।[1]

जुलाई मे मेसोपोटेमिया की गडबड पर चर्चा चलने के बाद सर ऑस्टिन चेम्बरलेन ने भारत-मत्री का पद त्याग दिया और वह माटेग्यू को मिला। अगस्त मे बीसेण्ट छूट गई। २० अगस्त को माटेग्यू ने भारत मे 'जिम्मेदार राजतत्र की क्रमिक सिद्धि' करने का वचन दिया। बीसेण्ट के प्रयत्न इस प्रकार सफल हुए। हमारा उत्साह बढा और हमने सबल प्रचार जारी रखा। सितम्बर मे सर नारायण चदावरकर की अध्यक्षता मे हुई सभा मे 'आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी' का चुनाव हुआ। चुनाव मे लोकमान्य की लीग और हमारी लीग ने मिलकर नरम दल वालो को उड़ा दिया। बडी टीकाएँ हुईं। मत-निरीक्षको पर आक्षेप किये गए, नरम दल के नेताओ ने 'टाइम्स' मे सार्वजनिक जीवन की शुद्धि पर चर्चाएँ चलाई। होमरूल लीगियो ने काग्रेस पर अधिकार कर लिया।

नवम्बर मे भारत-मत्री माटेग्यू भारत मे आये। बीसेण्ट और लोकमान्य उन्हे दिल्ली-काग्रेस मे आने का निमन्त्रण दे आए। माटेग्यू लिखता

---

१ मुन्शी-कृत 'केटलाक लेखो' का 'लोक-शासन' (१९१९) पृष्ठ ९३-१४०।

है—'काग्रेस मे चला जाऊँ और लम्बा भाषण करूँ, इससे परिस्थिति बिगड़ने से बच जाएगी। परन्तु नौकरशाही इसे क्यो पसन्द करती ? मुझे रोक दिया गया।'

हमारी लीग ने माटेग्यू के पास एक लिखित निवेदन भेजा। उसे तैयार करने वाली समिति मे हार्निमेन, उमर और मैं, तीन थे। हार्निमेन की बहादुरी और भारत के लिए उसके स्वतन्त्रता-प्रेम के प्रति मेरे मन मे बडा मान उत्पन्न हुआ।

दिसम्बर मे कलकत्ता मे बीसेण्ट की अध्यक्षता मे काग्रेस का अधिवेशन हुआ और तब से यह प्रथा चल पडी कि काग्रेस का अध्यक्ष पूरे वर्ष के लिए राष्ट्रपति के रूप मे काम करे। सी० पी० रामस्वामी काग्रेस के मन्त्री नियत हुए और जमनादास और उमर सोमानी उपमन्त्री बने। अनेक लोगो को यह अच्छा नही लगा, परन्तु बीसेण्ट को सारा वर्ष काम करना था और इससे उनका आग्रह था कि उन्हे विश्वासी मन्त्री चाहिए।

माटेग्यू और चेम्सफर्ड ने भारतीय सुधार का मसविदा प्रकट किया। बीसेण्ट ने उस पर मुहर लगाई—"यह इग्लैड के देने योग्य नही है और भारत के लेने योग्य नही है।"

१९१७ से मैं बीसेण्ट के कुछ अधिक परिचय मे आया। अगाध व्यवस्था-शक्ति, अपूर्व वाक्पटुता, अदम्य उत्साह और भारत के प्रति निराली भक्ति—इन चार गुणो से उन्होने भारत मे अग्रस्थान प्राप्त किया था। मैंने बचपन मे उन्हे भडौच मे देखा था। श्वेत रगो से मुग्ध हुए सैकडो भारतीयो ने उनके मुख से आर्यत्व के गुण-गान सुनकर खोई हुई श्रद्धा फिर से प्राप्त की थी। शिक्षित लोगो मे पहले-पहल गीता का प्रचार उन्होने किया था। आर्य-सस्कृति को उन्होने अपनाया था। भारत को माता समझा था। अब वे उसके स्वतन्त्रता-सग्राम की सेनानी भी बन गई। छोटे या बड़े मामलो मे वे व्यवस्थित रूप से काम करती थी। वे फिजूल मे कागज फाडती, तो उसके भी समान ही टुकड़े होते थे। उनकी नियमितता घडी के घटो से भी अधिक अचल थी। उन्हे स्नेह प्राप्त करना

और सुरक्षित रखना आता था। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी और वे कूटनीतिज्ञ भी थी। उनका व्यक्तित्व प्रभावित और प्रेरित करने वाला था। वे व्यवहार मे कर्मयोगी थी। योगि-पद प्राप्त किये बिना भी राग द्वेष से जितनी दूर जाया जा सकता है, उतनी दूर पहुँची हुई थी।

आवश्यकता के समय उन्होने भारत के स्वतन्त्रता-सग्राम को नई प्रेरणा दी। अपने ज़माने मे वे समस्त जगत् की अग्रगण्य स्त्री-नेता थी। वे एक जगद्विख्यात नैतिक बल का रूप थी। भावनाशीलता, स्वातन्त्र्य और आर्य सस्कृति का प्रचार करने मे उन्होने जीवन बिताया। वे जब तक जीवित रही, अग्रेज़ो मे अग्रगण्य स्थान प्राप्त किये रही। जिस भारत को उन्होने जन्मभूमि माना था, उसकी वे एक विधायक थी। आगे जाकर यदि वे भुला दी गई थी, तो यह उनके दोष से नही, वरन् श्वेत रग से त्रस्त हुए भारत के उनका रग न भूल सकने के दोष से, और उनके बाद ही तुरन्त एक ऐसे भारतीय आगे आये जिनके चारित्र्य, कर्मयोग, त्याग, कार्यदक्षता, राजनीतिज्ञता और भावनाशीलता के आगे कोई भी नही टिक सकता था। भारत के विधान-मन्दिर मे बीसेण्ट के स्थान को अमर रखना कृतज्ञ भारतीयो का कर्तव्य है।

सोलह

१९१५ मे जब मैं गाधीजी से पहली बार मिला था, तब से फिर उनसे मिलने का अवसर नही प्राप्त हुआ था। १९१५ की २५ मई को उन्होने साबरमती पर सत्याग्रहाश्रम स्थापित किया। सत्याग्रह की पुकार से १९१५ मे वीरगाँव का भूमि-कर उठवा दिया। १९१७ मे प्रतिज्ञा-पत्र से बँधे हुए मज़दूरो को विदेश ले जाने की पद्धति रद्द करवाई। उसी वर्ष चम्पारन मे उनका सत्याग्रह सफल हुआ। १९१८ मे खेड़ा का सत्याग्रह सफल हुआ। उसी वर्ष अहमदाबाद के मिल-मज़दूरो के सघ का नेतृत्व ग्रहण कराया, पच का सिद्धान्त मिल-मालिको से स्वीकार कराया और दुनिया के लिए एक उदाहरण-रूप मज़दूर-सघ

की स्थापना की। उनके विषय मे उस समय के अनेक राजनीतिक पुरुषो का मत माटेग्यू की डायरी के शब्दो मे प्रकट किया जा सकता है—

'सुविख्यात गाधी से मिला। वे समाज-सुधारक है, कठिनाइयो को खोजकर दूर करने की उनकी सच्ची अभिलाषा है, प्रसिद्धि के लिए नही, वरन् अपने देश-बन्धुओ की स्थिति सुधारने के लिए। दक्षिण अफ्रीका मे भारतीय प्रश्न का जो निबटारा हुआ है, उसके सच्चे नायक वे है, वहाँ उन्होने जेल भी काटी। बिहार मे वे गली के मज़दूरों की मुश्किले हल करने मे सरकार की सहायता कर रहे है। वे मज़दूरो-जैसी पोशाक पहनते हैं, निजी लाभ का परित्याग करते है, हवा पर जीते है और शुद्ध भावना को व्यवहृत करते है।' (नवम्बर १९१७)

१९१८ की २७ अप्रैल को वायसराय लार्ड चेम्सफर्ड ने दिल्ली मे युद्ध सम्मेलन किया। गाधीजी उसमे शामिल हुए। हिन्दी मे भाषण करके सारे भारत का उपहास सहा, और उसके बाद फौज मे भरती करने का काम आरम्भ किया। हम इस प्रवृत्ति के विरोधी थे। अगस्त मे लार्ड विलिगडन की अध्यक्षता मे बम्बई मे 'युद्ध-सम्मेलन' होने वाला था। मुझे ऐसा स्मरण है कि उस विषय पर विचार करने के लिए बीसेण्ट, लोकमान्य तिलक, गाधीजी, जिन्ना और हमारी समिति के अनेक सदस्य जमनादास द्वारकादास के ऑफिस मे एकत्र हुए थे। लोकमान्य ने कहा कि यदि सरकार मेरी शर्तें स्वीकार कर ले, तो मै युद्ध मे मदद करूँ। 'युद्ध-सम्मेलन' मे क्या करना चाहिए, इस विषय मे वहाँ निर्णय हुआ।

जब 'युद्ध सम्मेलन' हुआ, तब लोकमान्य बोलने के लिए खड़े हुए। वे यह कहने लगे कि किस शर्त पर युद्ध मे मदद करेंगे। विलिंगडन ने उन्हे रोका और वे सभा छोड़कर चले गए। बाद मे जिन्ना रह गए। उन्होने सरकार को खूब फटकारा। दूसरे या तीसरे दिन शान्ताराम की चाल मे लार्ड विलिंगडन के व्यवहार का विरोध करने के लिए सभा हुई। गाधीजी उसके सभापति बने। इस प्रकार वे पहली बार 'होमरूल-लीग' के वर्तुल मे आये।

इस घटना के कुछ दिनो बाद टाउन-हॉल मे सभा होने वाली थी; उसमे हमारी लीग के चार आदमियो—जिन्ना, जयकर, भूलाभाई और हार्निमेन—को बोलने का आमन्त्रण मिला। लार्ड विलिगडन उसका सभापतित्व ग्रहण करने वाले थे। हमारी समिति ने निश्चय किया कि उसने लोकमान्य तिलक का अपमान किया था, इसलिए उसके सभापतित्व मे होने वाली सभा मे हमारे प्रतिनिध नही जाएँगे। भूलाभाई को यह उचित नही मालूम हुआ, इसलिए उन्होने 'होमरूल लीग' मे इस्तीफा दे दिया और उस सभा मे गये। भूलाभाई ने लीग से इस्तीफा देकर हमारे व्यवसाय के निजी सम्बन्ध को देखते हुए यह मान लिया कि उससे इस्तीफा देना मेरा भी कर्तव्य है। लीग के साथ मेरा सम्बन्ध इतना निकटवर्ती और उनसे स्वतन्त्र था कि ऐसा करने मे मुझे अपना कर्तव्य न मालूम हुआ। मेरे जीवन पर इससे पड़ा हुआ प्रभाव मैं आगे वर्णित कर चुका हूँ। उन्ही दिनो गोधरा मे प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। वहाँ जिन्ना भी आये। एक मुसलमान, हिन्दू-मुस्लिम एकता का पक्षपाती हो, फिर हिन्दुओं की भावुकता का क्या कहना? गोधरा की जनता ने गाया—

"आओ भाई जिन्ना,
पधारो भाई जिन्ना,
राम-रहमान को एक मानने वाले।"

उस सम्मेलन मे अध्यक्ष थे गाधीजी, और उन्होने जिन्ना से पहली बार गुजराती के बुलवाया। जिन्ना को उस समय अग्रेजी और टूटी-फूटी कच्छी-गुजराती के सिवा अन्य कोई भाषा नही आती थी।

उस समय अछूतो का पहला सम्मेलन हुआ और गाधीजी ने अस्पृश्यता-निवारण का झडा उठाया।

जुलाई मे माटेग्यू-चेम्सफर्ड का मसविदा प्रकट हुआ। सितम्बर मे उस पर विचार करने के लिए बम्बई मे काग्रेस की एक विशेष बैठक हुई। हसन इमाम उसके अध्यक्ष थे। हमारे-जैसे परदा उठाने वालो और विग खीचने वालो को रगभूमि के पीछे होने वाली घटनाओ का ठीक-ठीक पता

रहता था। १९१७ की काग्रेस से बीसेण्ट और लोकमान्य मे मतभेद हो गया था। बीसेण्ट का झुकाव समझौते की ओर था। लोकमान्य सदैव उग्र पक्षी रहे थे। बीसेण्ट का मडल चाहता था कि दीनशा पिटिट स्वागत समिति के अध्यक्ष बनें, परन्तु अध्यक्ष बने विट्ठलभाई पटेल। विषय-विचारिणी समिति मे देशबन्धु सी० आर० दास और सत्यमूर्ति ने बीसेण्ट का विरोध किया। वे सम्पूर्ण प्रान्तीय स्वाधीनता चाहते थे। बीसेण्ट के भाषण के विषय मे उस समय लोकमान्य के व्यवहृत किये हुए शब्द मुझे याद हैं—'स्त्रीयाणाम् रोदनम् बलम्'।

सत्रह

११ दिसम्बर को शेरिफ ने लार्ड विलिंगडन को मान-पत्र देने के लिए बम्बई के नागरिको की एक सभा की। यह न्याय-तुला पर सरकारी छाप लगाने का एक यत्र था और अधिकाश मे है। हमे इच्छित अवसर मिल गया। इस सभा मे विरोध प्रदर्शित करने के लिए हम लोगो ने बहुत पहले से प्रचार करना शुरू किया। जिन्ना बहादुर नेता थे। काम की जिम्मेवारी लेने के बाद सिर हथेली पर रखकर काम करते थे। वे किसी प्रकार की खटपट मे नही पडते थे, पर हिम्मत और सफाई से उसे तोड़ डालते थे। उस समय हम लोग अधिक परिचय मे आये। आज भी हमारी भिन्न रुचि को देखते हुए यह कहना कठिन है कि उनका मुझ पर प्रेम था या नही, परन्तु सद्भाव पूर्ण रूप से था। व्यवसाय मे भी मेरे मन मे उनके लिए बडा सम्मान था। उनको मुझसे बड़ी आशा थी। उनके अनेक सिद्धान्त बडे कठोर थे, और मुझे प्रशसा-मुग्ध करते थे। वे कभी चन्दे के लिए पैसे नही देते थे। 'मैं सार्वजनिक जीवन के लिए अपने समय की बलि देता हूँ, यही मेरी चन्दे की सहायता है।' सार्वजनिक जीवन के विषय मे वे अविक्रेय थे। एक बार किसी ने धारा-सभा मे किसी विषय पर प्रश्न करने की सिफारिश की। उन्होने स्वीकार कर लिया। दो-चार दिनो बाद उन्ही लोगों ने किसी अन्य काम के बहाने से

सालिसिटर के द्वारा १०० गिन्नियाँ लिखकर उन्हे ब्रीफ भिजवाई। जिन्ना ने ब्रीफ देखी, उसका रहस्य समझा और उसे चेम्बर के बाहर सालिसिटर के पीछे फेंक दिया। "मै जो सवाल करने वाला हूँ, उसकी कीमत दे रहे हो? मैं ब्रीफ भी नही लूँगा और सवाल भी नही करूँगा···।"

उन्ही दिनो उनके विवाह का अवसर उपस्थित हुआ। सर दीनशा पिटिटकी सत्रह-वर्षीय पुत्री रतु पिटिट के साथ उनका प्रेम-सम्बन्ध हो गया और दोनो को एक-दूसरे के साथ विवाह करने की इच्छा हुई। पारसी कौम मे एक बडा ऐक्य है—जब अपनी कौम पर आक्रमण होते दीख पडता है, तब सब मिल जाते है। जिन्ना पर धिक्कार की वर्षा हुई। रतु पिटिट पर माता-पिता और कौम ने मनमानी की। मामला कोर्ट मे आया। हमारी बॉर-लाइब्रेरी मे पारसी बैरिस्टरो की टीकाखोरी की सीमा नही थी। सुने न जा सकने योग्य काव्य रचे गए। इस तूफान मे जिन्ना अकेले पर्वत के समान अचल और स्थिर खडे रहे। उनके बचाव मे मैं भी अनेक के साथ मार-पीट पर उतर आता था।

श्रीमती जिन्ना से मैं बाद मे मिला था, जमनादास के यहाँ, होमरूल लीग मे और कभी-कभी जिन्ना के चेम्बर मे। ऐसी तेजस्वी स्त्री मैंने कदाचित् ही देखी है। तलवार की धार की तरह उनकी जिह्वा चलती थी। उनका स्वभाव भी बिजली की तरह तीक्ष्ण था। उस समय उनके मन मे देश-स्वातन्त्र्य की अग्नि धधकती थी। जिन्ना उन्हे देशोद्धारक दिखलाई पड़ते थे। उनके पार्श्व मे रहकर रण-कौशल दिखलाने की उन्हे बडी अभिलाषा थी।

उन दोनो की आँखो से झरती हुई प्रणय-ज्योति का सुगम स्मरण अब तक मेरे मन मे बाकी है।

जिन्ना और उनकी पत्नी दोनो ने इस आन्दोलन मे भाग लिया। जिन्ना के भाषण मे अपरिचित तीक्ष्णता आ गई।

हार्निमेन 'क्रानिकल' मे रोज़ विलिंगडन-पुराण का उल्लेख करते

और बम्बई की जनता मे विरोधोत्साह की बाढ आती। जयकर—जिसके साथ मेरा गाढा परिचय १६२२ के बाद हुआ—और हार्निमेन अंग्रेजी मे हृदय-वेधक भाषण देते। परन्तु इस प्रचार मे जमनादास द्वारकादास का विशेष रूप से हाथ था। उनकी मैत्री अनेक भेद-प्रभेदो के रहते हुए भी अभी तक टिकी हुई है। चौबीसवे वर्ष मे कॉलेज से निकलने पर बीसेण्ट के इस लाडले पुत्र को, सार्वजनिक जीवन का नेता और करोडपति फर्म का हिस्सेदार होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जिस प्रकार हवा मे पतग आकाश पर चढती है, उसी प्रकार राजनीतिक गगन मे वे चढे। उनका स्वभाव राजवशी, परन्तु स्नेहमय था। वे दोनो हथेलियाँ भर-भरकर पैसे देते और बहादुरी से भाषण करते। वे अंग्रेजी अच्छी बोलते थे, परन्तु दो वर्ष से गुजराती वाक्पटुता का जो नया सम्प्रदाय स्थापित हुआ था, उसमे वे सबसे श्रेष्ठ थे। उनकी गुजराती अशुद्ध थी—विशेषकर कच्छी के अपरिचित प्रभाव से, परन्तु शब्द-प्रवाह अस्खलित और भाव वैविध्य बहुत था। बीसेण्ट के ससर्ग से उनकी बोलने की पद्धति छटापूर्ण हो गई और क्षोभ की उसमे छाया तक न रही।

इस अवसर पर उनकी शक्ति ने गजब कर दिया। वे रोज-रोज सभाओ मे गर्जन करते और हजारो लोग नाचते, हँसते और तालियाँ बजाते। उस समय को मैं उनके जीवन का मध्याह्न मानता हूँ। २७ वर्ष के युवक को इतनी शक्ति प्रदर्शित करते देखकर सब चकित हो जाते थे।

विभाकर बडे छटापूर्ण उच्चारण से, सफाई के साथ, मीठी आवाज मे गुजराती बोलते थे। उनकी बोलने की पद्धति मे जरा लाडलापन आ जाता था। उनकी भाषा विशुद्ध थी पर भाव-वैविध्य बहुत कम था। अत उनके भाषण वाक्पटुता के ऊँचे शिखर को स्पर्श न कर सके।

मास्टर बहुत अच्छा बोलते थे, शुद्ध और गौरवपूर्ण, सुन्दर शब्दो से अलकृत। उनकी आवाज भी प्रौढ थी। वे घटनाएँ और उद्देश्य लगातार स्पष्ट रूप मे उपस्थित करते थे। आरम्भ मे चन्द्रशकर बड़ी सुन्दरता से, प्रभावोत्पादक रूप मे बोलते थे। उनकी आवाज मोटी, बोलने की

विधि लयपूर्ण और उनका शब्द-कोष समृद्ध था। वे बीच-बीच मे रसीले चुटकुले भी बोलते जाते थे। दो वर्ष तक उन्होने हम सबसे अधिक प्रचार किया, परन्तु वे अपनी शक्ति सुरक्षित नही रख सके। वे बडी बुलन्द आवाज़ निकालने लगे, चाहे श्रोता सौ हो या दस सहस्र। लोकरजन के तत्त्व भी उन्होने खूब मिलाए। बम्बई मे उनके अनेक चुटकुले लोगो को ज़बानी याद हो गए थे। व्याख्यान देते-देते वे अपनी बनायी हुई कविता की पक्तियाँ भी बोलते और बुलवाते थे—

"जब तक तन मे आत्मा हो,
अजी तब तक होमरूल कहो।"

उनका एक दूसरा चुटकुला लोगो को बहुत पसन्द आया था। 'इस जन्म मे मैं 'होमरूल-होमरूल' करते हुए मर जाऊँगा, और यदि अगले जन्म मे कुत्ता बना, तब भी 'होमरूल-होमरूल' करते हुए भौकूँगा।'

वर्षा मे की हुई प्रचार-यात्रा के परिणामस्वरूप उन्हे दमे की बीमारी हो गई और उसके कारण उसके बाद के उनके अनेक वर्ष व्यर्थ बीते। जब गुजराती वाक्पटुता (Eloquence) और वाग्वैभव (Rhetoric) का विकास नही हुआ था, तब इन मित्रो ने नई प्रणाली शुरू की। उनके प्रयत्न के परिणामस्वरूप गुजराती व्याख्यान-पद्धति प्रौढ, प्रभावशाली और समृद्ध हुई। ये सब, और मैं भी विलिगडन के विरुद्ध प्रचार करने मे लग गए।

११ दिसम्बर की अगली रात को हमने देर तक सभाएँ की, और सुबह के पाँच बजने से पहले पन्द्रह हज़ार आदमी टाउन-हॉल के आगे एकत्र हो गए। मान-पत्र देने वालो ने भी हॉल भरने के लिए हरकारो, मजदूरों और बोहरो आदि को सवेरे, के चार बजे से टाउन-हॉल की सीढियो पर बिठा रखा था। जिन्ना हमारे नायक थे। वे पुलिस कमिश्नर के साथ बात कर आए और यह निश्चय हुआ कि एक हरकारा या बोहरा यदि अन्दर जाए, तो एक हममे से भी अन्दर चला जाए। इस प्रकार सवेरे छः बजे सारा टाउन-हॉल भर गया। बाहर बम्बई की जनता का

समूह एकत्र होने लगा।

हॉल के अन्दर विनोद की सीमा नही थी। कोई बोहरे का मज़ाक उडाता, कोई हरकारे की खिल्ली उड़ाता, कोई हमारे पक्ष वालो को भला-बुरा कहता, शोर-गुल होता, कुरसियाँ टूटती, सीटियाँ बजती और कभी-कभी हंसी-मजाक भी होता। अनेक पारसी लोग जिन्ना को न कहने योग्य वचन भी कहते थे। एक बार उन पर किसी ने हमला करने का प्रयत्न किया। थोडी-थोडी देर बाद पुलिस भी अन्दर आ जाती और शान्ति फैलाने का प्रयत्न कर जाती थी।

आठ-नौ बजे के लगभग बोहरो के लिए बिरयानी के खोमचे आने लगे। अभी सभा मे दस घटे की देर थी। बेचारे हरकारे और होमरूल लीगी मुँह बाए देख रहे थे। हमसे यह सहन न हुआ। हमने सलाह की, और मैं और छोटूकाका पुलिस की इजाजत लेकर बाहर निकले और सामने एक ऑफिस मे जा बैठे। आदमी भेजकर शहर से जितने भी मिल सके, पेडे, बरफी, चिवड़ा, सेवगाठिये, आदि मँगाए और टाउन-हॉल मे भेज दिए। होमरूल लीगियो ने भी खूब खाया और बेचारे अनजान हरकारो और मिल-मज़दूरो को खूब खिलाकर खुश किया। टाउन-हॉल शोर-गुल से गूंजता रहा।

पाँच बजे व्यासपीठ पर बैठने वाले बम्बई के महाजन आने लगे। जब से वे आये, तभी से उन पर शब्दो की वर्षा होनी शुरू हो गई। हम तो आवाजें लगाते ही थे, पर हरकारे और मज़दूर आवाज़ें लगाने मे ज़बरदस्त थे। कोई किसी की सुनता नहीं था। महाजनों ने सर जमशेदजी को सभापति बनाने का प्रस्ताव किया। हमारी ओर से तेलंग के लिए सिफारिश हुई। थोड़ी शान्ति फैली, प्रस्ताव उपस्थित हुआ…हाँ… हाँ… नही…नही 'Down with Willingdon' 'No Address' की हम लोग आवाजें लगा रहे थे। बेचारे नासमझ मज़दूरो की समझ मे नही आता था कि वे क्या करें, अत. वे भी चिल्लाने मे हमारा साथ दे रहे थे। दूसरे लोग घबरा गए। शोर-गुल इतना मचा कि अनेक लोग कुरसी

पर खडे हो गए और अनेक आगे आने लगे। अनेक लोग व्यासपीठ पर भी चढने के लिए आ रहे थे, अत सभापति और उनके मित्र उठकर पिछले रास्ते से चले गए।

जैसे-तैसे रात के आठ बजे हम बाहर निकलकर जगह-जगह भाषण देने लगे। मान-पत्र, प्रदान करने वाले के घर ही रह गया। बम्बई के गवर्नर ने पहली बार इसका स्वाद चखा कि बम्बई की जनता क्या है! इस अवसर की स्मृति के रूप मे जनता ने 'जिन्ना-हॉल' बनवाया।

अठारह

भूलाभाई और मेरे बीच की घटना के थोडे दिनो बाद ही मैं दिल्ली-काग्रेस मे शामिल होने के लिए चल पडा। 'सम्पूर्ण प्रान्तीय स्वराज्य के बिना सुधार अमान्य है,' यह प्रस्ताव वहाँ भी उपस्थित हुआ और बम्बई मे बीसेण्ट का पास कराया हुआ प्रस्ताव उड गया। परिणामस्वरूप बीसेण्ट और जिन्ना दास और खारपडे के मुकाबले निस्तेज हो गए।

ब्रिटिश सरकार की नीति थी एक ओर से सुधार उपस्थित करना और दूसरी ओर से देश-द्रोह के अपराध को विस्तृत करके उसके लिए सरकार को अधिक अधिकार देना। १९१८ की जुलाई मे 'रॉलेट-समिति' ने अपने वृत्तान्त से इस नीति का समर्थन किया। देश मे विरोध उत्पन्न हो गया। गाधीजी ने—जो अब तक राजनीतिक बहाव के बीच मे नही आये थे—घोषणा की कि यदि रॉलेट के बताये हुए 'काले कानून' पास होंगे, तो वे सत्याग्रह आरम्भ करेंगे।

उस समय शकरलाल बैंकर गाधीजी के सम्पर्क मे आये थे, और उन्होंने यह निर्णय किया था कि उनको 'ऑल इण्डिया होमरूल लीग' का अध्यक्ष-पद दिया जाए। उन्होंने मुझसे बात की। जमनादास की तरह बीसेण्ट के साथ मेरा निकट-सम्बन्ध नही था, परन्तु गाधीजी का ढंग मुझे अव्यावहारिक मालूम हुआ था। दिल्ली में बीसेण्ट की स्वीकार की हुई

नीति मुझे पसन्द नही आई थी। भारतीय मानस विचित्र है, जरा भी किसी ने धीरे चलने के लिए कहा कि हमारी शाब्दिक हिम्मत एकदम बढ जाती है। इस मानस को बीसेण्ट का झुकाव कायरतापूर्ण मालूम हुआ। अनेक लोगो ने तो ऐसे आक्षेप भी किये कि 'यह तो सफेद चमडी है, इसे भारतीयो को स्वराज्य मिलना कहाँ से अच्छा लगेगा ?' पर यह आक्षेप नितान्त असत्य था। रग-भेद का खयाल यदि किसी अग्रेज में नही देखने को मिला है, तो वह बीसेण्ट मे ही। भारत का यदि किसी विदेशी ने मातृवत् पूजन किया है, तो वह उन्होने। फिर भी शकरलाल की बात मुझे सत्य मालूम हुई। हमने सब जगह मुकाबला किया और अन्त में गाधीजी अध्यक्ष चुने गए। हममे जो डोर खीचने का दावा करने वाले मित्र थे, उनके हृदय बैठ गए। रॉलेट एक्ट का विरोध करने के लिए गाधीजी सारे भारत मे घूम आए। उनकी लोकप्रियता की बाढ़ आने लगी। थोडे समय बाद ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो हमने उन्हे अध्यक्ष नही बनाया था, वरन् वे कृपा करके हमे सदस्य बनाये हुए थे। अपने चाणक्यो की स्थिति देखकर मुझे बडा मजा आता था।

गाधीजी के प्रति यह मेरा पहला अनुभव था। उनके अध्यक्ष होने के तुरन्त बाद ही वैकुण्ठ देसाई के ऑफिस मे पहली सभा हुई। रॉलेट-एक्ट के विषय मे यह चर्चा हुई कि क्या करना चाहिए। तेरसी ने और मैंने बहिष्कार (Boycott) का समर्थन किया। हममे से कोई इसके सिवा दूसरा रास्ता नही जानता था। हमे यह मालूम था कि गाधीजी इसके विरुद्ध थे।

गाधीजी ने कहा कि बहिष्कार मे हिंसा आ जाती है, अत यह रास्ता व्यर्थ—वर्ज्य है। इसमे पाप है। बहिष्कार के विषय मे उस समय मेरे विचार स्पष्ट थे। अगली रात को, बहिष्कार के समर्थन के लिए तैयार की हुई मेरे भाषण की प्रतिलिपि उस समय के मेरे राजनीतिक विचारों का परिचय देती है—

'Certain minds shrink from agressive action, as if it

were sin. They turn away from the delight of battle, look upon it as monstrous Love is foreign to political action. Between nation and nation there may be justice or partiality; not love To say that boycott shows want of love, is bad psychology and bad morality It is directed not against the individual but against policy which exploits you If hatred is demoralising it is stimulating too If hatred comes, let it come as a stimulus, as an awakening The issue of violence does not arise; it is a matter of expediency.

Violence which brings us in conflict with the rulers may be inexpedient for a race circumscribed as ours; but that violence is to be ruled per se is not politics '[१]

इस प्रतिलिपि—जिस पर कि अरविन्द घोष का विशेष प्रभाव है—पर से मैं भाषण तैयार करके ले गया था। इसमे से कितना बोला गया,

१ आक्रमण को पाप समझकर अनेक लोग उससे दूर रहते हैं। वे युद्ध के प्रति उत्पन्न उत्साह को दानवी वृत्ति मानकर उससे विमुख हो जाते हैं। राजनीतिक प्रवृत्ति में प्रेम के लिए स्थान नहीं है। एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच न्याय हो सकता है, पक्षपात हो सकता है, पर प्रेम नहीं हो सकता। बहिष्कार में प्रेम का अभाव है, यह कहना मानस-शास्त्र और नीति-शास्त्र दोनो के विरुद्ध है। यह शस्त्र किसी विदेशी व्यक्ति के लिए नही, परन्तु तुम्हारा शोषण करने वाली राजनीति के विरुद्ध व्यवहृत होता है। द्वेष जितना अधम है, उतना ही प्रेरक है। द्वेष उत्पन्न होता है, तो उसे प्रेरणा या जागृति के रूप मे उत्पन्न होने दो। इसमे हिंसा का प्रश्न उपस्थित नहीं होता; यह तो केवल औचित्य का प्रश्न है। हमारी पराधीन जनता के लिए, वह हिंसा अनुचित है, जो हमारा शासन-कर्त्ता के साथ संघर्ष करवा देती है, परन्तु इससे हिंसा को हमेशा के लिए देश-निकाला दे देने का नाम राजनीति बिलकुल नहीं है।

यह याद नही है, परन्तु तेरसी ने इसका खूब समर्थन किया, एक-दो अन्य व्यक्ति भी इसके पक्ष मे अचूक रीति से बोले। गांधीजी ने अपनी लाक्षणिक रीति से उत्तर दिया—'स्वदेशी व्रत चल सकता है; बहिष्कार मे हिंसा आ जाती है, अत. वह वर्जित है। और यदि आप लोग उसे स्वीकार करेंगे, तो मैं पद-त्याग कर दूंगा। आपको दूसरा अध्यक्ष चुनना पड़ेगा।'

हम चकित हो गए। हम समझते थे कि यदि बहुमत से इसे स्वीकार करवाएँगे, तो गाधीजी मान लेंगे। जरा-से मतभेद से ही यदि प्रत्येक सदस्य इस्तीफा देने लगे, तो लोक-शासन किस प्रकार चले ? हम लोगो को क्या पता था कि हमारे बीच मे देवाशी मनुष्य आ गया था ! हमारे भाग्य मे दो ही रास्ते रह गए थे, या तो उसके अधीन हो जाना, या भाग जाना।

गाधीजी ने तुरन्त सत्याग्रह-समिति स्थापित की। उमर मोमानी और शकरलाल मत्री बने। कानजी द्वारकादास और मैं बम्बई की 'होमरूल-लीग' के मत्री नियुक्त हुए।

एक और भी ऐसा ही अवसर आया, जब गाधीजी ने स्पष्ट कह दिया कि 'यह भी सेना है; भेद केवल इतना ही है कि युद्ध के समय उससे अलग हो जाओ, तो दण्ड मिलता है; इससे अलग होना चाहो, तो हो सकते हो।'

हममे से अनेक उतावले हो उठते, परन्तु अन्त मे पिघले हुए घी की तरह होकर जो गाधीजी कहते, वही करते थे।

उन्नीस

१९१९ के मार्च मे काले कानून पास हुए, अत गाधीजी ने सत्याग्रह करने का सकल्प प्रकट किया। सत्याग्रह व्रत-पत्र पर हस्ताक्षर करवाए जाने लगे। छः अप्रैल को सारे देश मे हडताल हुई और समस्त भारतीय जनता ने उसमें भाग लिया। उस दिन भारत ने अपने राष्ट्रीय महत्त्व का प्रथम दर्शन किया।

सरकार घबराहट से पागल हो गई। ८ तारीख को गाधीजी को पजाब जाते हुए रोक लिया गया। १० को डॉ० किचलू और डॉ० सत्यपाल को प्रान्त से बाहर निकाल दिया गया। ११ को डायर अमृतसर मे आया। १३ को जलियावाला बाग मे हत्याकाड हुआ। सारा देश भडक उठा। इग्लैड मे भी हाहाकार मच गया।

१८ अप्रैल को गाधीजी ने सत्याग्रह बन्द कर दिया, और यह स्वीकार किया कि उन्होने हिमालय के समान बडी भूल की थी। डायर के किये हुए हत्याकाड की जाँच करने के लिए समिति बिठाई गई। पजाब मे ऐसा कोई वकील नही था, जो जनता की ओर से खडा होता। 'प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन' ने—दो-एक वर्ष मे उनका मत्री भी रहा था—हटर-समिति के आगे जनता का प्रश्न उपस्थित करने का काम मुझे सौपा। ३०००)रु० महीना फीस थी। राजनीतिक कामो मे भी वकील फीस अवश्य लेते थे। यह उस समय की प्रथा थी। जब काग्रेस-कमेटी ने निश्चय किया कि हटर-समिति के सम्मुख लोक-पक्ष का बयान न लिया जाए और मुझे पजाब जाने की आवश्यकता नही—तब मुझे शान्ति मिली। तीन हज़ार रुपये लेकर महीने-भर के लिए बबई से बाहर जाना मुझे गहरे आत्म-त्याग के समान मालूम हो रहा था। अभी गाधी-युग नही आया था।

उस सत्याग्रह के जमाने की एक घटना है। उमर थे महाराजा, कमाने और खर्च करने के लिए उनके पैसो की कोई सीमा नही थी। मिजाज भी था बड़ा, बडे भले, उत्साही और उदार थे। काग्रेस के वे अग्रगण्य सचालक बन गए थे। उन्हे जिस बात की धुन समा जाती, उससे उन्हे रोकने की किसी की मजाल नही थी। उन दिनो शौकतअली ने खिलाफत के विषय मे एक फतवा दिया था, जिसे उमर ने छपवाया था। गवर्नर था लार्ड लाइड। उसने वह गाधीजी को बताया। गाधीजी ने उसे अनुचित बताया। उमर से पूछने पर उन्होने कहा कि सारी कापियाँ खप चुकी हैं, इसलिए सरकार को सौप देने की कोई चीज नही रही।

गाधीजी ने इसे मान लिया और गवर्नर को इसकी सूचना दी।

वास्तव मे उमकी सैकडो कापियाँ प्रेस मे पडी हुई थी और जब पुलिस की तलाशी का वक्त हुआ तब किसी भी तरीके से सारी कापियो को जला डालने का निश्चय हुआ। रात को जमनादास सिवरी जाकर सारी प्रतियाँ वहाँ जला आए। किसी ने यह बात गाधीजी से कह दी। गाधीजी ने सबको बुलाकर सत्य बात स्वीकार कर लेने की सूचना दी और उमर को पुलिस-कमिश्नर से माफी माँग लेने की आज्ञा दी। उमर तडप उठे। गाधीजी ने स्वय भी उपवास आरभ किया और जमनादास तथा उमर से भी उपवास करवाया। अन्त मे हारकर उमर ने अभिमान छोडा और पुलिस से भी माफी माँग ली।

बीस

उस समय मै जिन्ना के साथ काम कर रहा था। मेरे सहकारियो का मन गाधीजी के सहकारियो से दूर हटता जा रहा था।

१९१९ के दिसम्बर मास मे मैं अमृतसर मे होने वाली काग्रेस मे गया था देवीदास सालिसिटर-जैसे कुशल सचालक के दल के साथ। देवीदास दल का सचालन करे, तो फिर कहने की कोई बात ही नही रह जाती थी। वे सब-कुछ सँभाल लेते थे। औरो को केवल खा-पीकर मौज करने का काम रह जाता था। रास्ते मे जब स्टेशन आते, तब दो-चार मित्र उतरकर दही-बडे, जलेबी आदि खरीद लाते, दावते उडती और धमा-चौकडी मची रहती।

मणिलाल नानावटी भी उस समय साथ थे।

मुझे जब भी लम्बा सफर करना पडता, तभी मेरे छक्के छूट जाते, ट्रेन मे नीद न आती और पेट चमडे की थैली बन जाता था। ज़रा भी धूल लगती कि खाँसी-जुकाम हो जाता था। दो दिन के सफर के बाद जब मैं निश्चित स्थान पर पहुँचता, तब एकदम ढीला पड जाता।

उस समय की काग्रेस पहले दरजे मे सफर करने वालो की और अच्छे

होटल मे ठहरने वालो की काग्रेस थी । काग्रेस मे जाने से सहन करने वाली अनियमितता, असुविधाएँ और जागरण हमेशा मुझे निर्बल बना छोडते थे, परन्तु अमृतसर मे मणिलाल नानावटी ने माँ की तरह मेरा ध्यान रखा । अमृतसर-काग्रेस की विषय-विचारिणी-समिति को हिन्दुस्तान के इतिहास मे एक सीमा-चिह्न कहा जा सकता है । माटेग्यू के सुधार हमारे सामने थे । जलियावाला बाग के शहीदो का बहता हुआ लहू हमारा खून उबाल रहा था ।

काग्रेस के नेताओ मे एक ओर थे पडित मोतीलाल नेहरू और बीसेण्ट; और दूसरी ओर थे लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल और सी० आर० दास । देशबन्धु दास 'मार्निंग कोट' पहनकर आते, सात-आठ युवक बैरिस्टरो को साथ लाते और हाथ ठोककर जोरदार भाषण करते थे ।

दोनो पक्ष मन मे गाधीजी से ईर्ष्या करते और प्रकट रूप मे उपहास करते रहते थे । पर वे समझ मे न आने वाली रीति से अकेले मौन बैठे हुए थे । सुधारो पर विवाद छिड़ गया । किसी ने—जहाँ तक याद है श्रीनिवास शास्त्री ने—कहा कि माटेग्यू ने हिन्दुस्तान की इतनी सेवा की है कि नगर-नगर में उसकी प्रतिमा स्थापित की जानी चाहिए । सत्यमूर्ति भयकर भाषण करने मे प्रसिद्ध थे । उन्होने शास्त्रीजी की खूब खबर ली और यह प्रतिपादित किया कि चेम्सफर्ड खराब-से-खराब वायसराय है ।

बाद मे जलियावाला बाग के हत्याकाड और अमृतसर के दगे के समय जनता द्वारा प्रदर्शित किये गए घातक आवेश, दोनो का विरोध करने वाला प्रस्ताव उपस्थित हुआ । इस प्रस्ताव का पिछला भाग हम लोगो को अच्छा नही लगा । दो अग्रेजो की हत्या और सैकडो निर्दोष स्त्री-पुरुषो को गोली से उडाना—इन दो बातो को एक समान कैसे माना जाए ? अनेक लोगों को सन्देह हुआ कि यह काम बीसेण्ट का होगा; ब्रिटिश होने के कारण अग्रेजो के प्रति उसे सहानुभूति हुई होगी। एक पंजाबी नेता ने तो कह भी डाला कि भारत माता की सन्तान ऐसा प्रस्ताव नही घड़ सकती ।

लोकमान्य ने भी विरोध किया। पाल और दास ने रोष प्रदर्शित किया और बहुमत से इस प्रस्ताव का पिछला भ.ग उडा दिया गया।

दूसरे दिन जब हम विषय-विचारिणी-समिति मे एकत्र हुए, तब यह चर्चा चली कि प्रस्ताव के उड जाने से रात को गाधीजी को नीद नही आई थी। नेतागण हँस रहे थे, मजाक उडा रहे थे। 'हाँ' ·· महात्मा को नीद नही आई! क्या होगा? कही पृथ्वी पर प्रलय तो नही होगी,' आदि-आदि।

उन सबको महात्मा के उपवास और जागरणो मे कल्पनातीत भय समाया हुआ प्रतीत होता था।

सभा आरम्भ हुई, सभापति ने कहा, गाधीजी चाहते है कि कल जो प्रस्ताव उडा दिया गया था, उन पर फिर से विचार हो। कइयो ने इसका विरोध किया। गाधीजी टेबल पर बैठे और उन्होने इस प्रस्ताव पर पुन विचार करने की सूचना दी। गाधीजी को मैने अनेक बार बोलते सुना है, परन्तु उनके इस भाषण को प्रभावोत्पादक वाक्पटुता के अद्वितीय उदाहरण के रूप मे आगे वर्णित किये हुए बीसेण्ट के भाषण के साथ रखा जा सकता है। ऐसा याद है कि उन्होने कुछ-कुछ इस प्रकार आरम्भ किया था—

'कल पजाब के एक नेता ने कहा है कि भारतमाता की सतान ऐसा प्रस्ताव नही घड सकती। इस प्रस्ताव का आविष्कार मैने स्वय किया है। मैं भारतमाता की सतान हूँ। यह टीका सुनकर मैंने इस पर बडा विचार किया कि क्या मैं भारतमाता की सन्तान के रूप मे ऐसा प्रस्ताव घड सकता हूँ? सारी रात मैंने विचार किया और मुझे विश्वास हो गया कि भारतमाता की सन्तान ही ऐसा प्रस्ताव घड सकती है।'

बाद मे उन्होने हिंसा-अहिंसा का भेद समझाया। एक घटे तक वे बोले होगे। उनके प्रत्येक शब्द से जीवन-भर की तपश्चर्या और सकल्प प्रकट हो रहे थे। हम लोग श्वास रोके सुन रहे थे। जब वे बोल चुके तब उनकी वाक्पटुता और व्यक्तित्व से परास्त होकर हमने उनकी शरण

ली। फिर उस प्रस्ताव पर विवाद हुआ, मजाक हुए और व्यग-वाणो की वर्षा हुई। लोकमान्य, दास और पाल ने बहुत कहा, पर कोई प्रभाव नही हुआ। वही प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रकार काग्रेस के सम्राट् का पद गाधीजी के हाथ मे चला गया।

अक्तूबर १६१६ मे गाधीजी ने खिलाफत-कान्फ्रेन्स की। इस कदम पर जिन्ना को जरा भी विश्वास नही था। असहयोग भी हमारी समझ मे नही आता था। १६२० के मई मास मे फ्रेञ्चब्रिज पर असहयोग-आन्दोलन के सिलसिले मे बड़ी सभा हुई। गाधीजी ने त्रिविध बहिष्कार करने के लिए सूचित किया। जुलाई १६२० मे गुजरात राजकीय मडल ने धारा-सभा का बहिष्कार किया। उस सभा मे मुझे बुलाया गया था, पर मैं नही गया। एक लिखित टिप्पणी मैंने भेज दी थी।

मेरे राजनीतिक विचारो मे एक बात उस समय निश्चित थी। वह यह कि भारत के लिए राजनीतिक सस्थाओ की सत्ता बडी ही आवश्यक है। १६०८-१६०६ से ही मैं विप्लववादी नही रह गया था।

मैं जानता था कि इस प्रकार का बहिष्कार गाधीजी कराना चाहते हैं, अत मेरा अरण्य-रोदन कोई नही सुनेगा। परन्तु अपने विचार भेजकर मैंने अपना कर्तव्य पूर्ण किया। उन विचारो का उपयोगी भाग निम्नलिखित था—

धारा-सभाओ का बहिष्कार

'मेरा यह दृढ मत है कि धारा-सभाओं के बहिष्कार का आन्दोलन आरम्भ करने मे कोई लाभ नही है। उसके कारण ये हैं—

१—बहिष्कार से देश के अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति धारा-सभाओ से निकल जाएँगे या अलग रहेगे, इससे धारा-सभाओं के द्वारा देश की जो प्रगति होने की सम्भावना है, वह नही होगी।

२—जिनकी उपस्थिति मे मार्लि-मिण्टो के सुधारो वाली धारा-सभाओं मे भी अधिकारियो की गैर-जिम्मेदार मनोवृत्ति पर अकुश रहता

है, वे देश के सबसे अधिक प्रभावशाली पुरुष, बहिष्कार के कारण धारा-सभा मे जाना बन्द कर देगे।

३—चुनावो के सिलसिले मे राज-काज मे आगे बढे हुए राजनीतिज्ञो द्वारा जो प्रबल और व्यवस्थित प्रचार-कार्य चलने की आशा है, और उस प्रचार से जनता को सामान्यतया जो राजनीतिक शिक्षा मिलती है, वह धारा-सभाओ का बहिष्कार होने से नही मिल सकती।

४—बहिष्कार मे निम्न प्रकार के मान-मर्यादा और पद प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाले खुशामदी लोगो को रचनात्मक कार्य करने का अवसर मिल जाएगा और लोगो के मन मे यह समझकर बैठे रहने की वृत्ति उत्पन्न होगी कि आज जो स्थिति है, वही उत्तम है।

५—धारा-सभा मे स्थान मिलने से मनुष्य को अमुक पद प्राप्त होते ही है, और जो न्याय चाहता है, वह यदि धारा-सभा का सदस्य हो, तो उसकी आवाज अधिक ज़ोरदार और प्रभावशाली साबित हुए बिना नही रह सकती।

६—मेरा मत है कि राजनीति मे आगे बढे हुए विचारो वाले दल को अलग रखने की स्थिति और सरकार के साथ असहयोग की नीति मे शामिल करने की दशा मे यह पहला कदम है। आप जोश के साथ प्रचार कर सकते है, परन्तु थोडे ही समय मे ध्येय-प्राप्ति न कर सकने पर आपको अधिक जोरदार प्रचार करना पडेगा। अर्थात् लोगो मे असहयोग की अग्नि जलानी पडेगी और सम्भवत. सरकार दमन-नीति काम मे लाएगी। इससे समाज मे इतना उत्पात मचेगा कि सुव्यवस्थित प्रगति का जो लाभ देश को मिलना चाहिए, वह नहीं मिल सकेगा।

इससे मेरा यह मत है कि राष्ट्रीय पक्ष के लोगो को खिलाफत और पजाब के लिए न्याय प्राप्त करने हेतु धारासभाओ की बैठको मे चुने जाने के लिए देश के आगे आना चाहिए। मैं यह मानता हूँ कि यदि हम पर्याप्त आन्दोलन करे तो देश-भर मे राष्ट्रीय पक्ष वाले उचित सख्या मे धारा-सभाओ मे चुने जाएँ। चुने जाने के पश्चात् राष्ट्रीय पक्ष के सदस्य

ली। फिर उस प्रस्ताव पर विवाद हुआ, मजाक हुए और व्यग-बाणो की वर्षा हुई। लोकमान्य, दास और पाल ने बहुत कहा, पर कोई प्रभाव नही हुआ। वही प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रकार काग्रेस के सम्राट् का पद गाधीजी के हाथ मे चला गया।

अक्तूबर १९१९ मे गाधीजी ने खिलाफत-कान्फ्रेन्स की। इस कदम पर जिन्ना को जरा भी विश्वास नही था। असहयोग भी हमारी समझ मे नही आता था। १९२० के मई मास मे फ्रेञ्चब्रिज पर असहयोग-आन्दोलन के सिलसिले मे बडी सभा हुई। गाधीजी ने त्रिविध बहिष्कार करने के लिए सूचित किया। जुलाई १९२० मे गुजरात राजकीय मडल ने धारा-सभा का बहिष्कार किया। उस सभा मे मुझे बुलाया गया था, पर मैं नही गया। एक लिखित टिप्पणी मैंने भेज दी थी।

मेरे राजनीतिक विचारो मे एक बात उस समय निश्चित थी। वह यह कि भारत के लिए राजनीतिक सस्थाओ की सत्ता बडी ही आवश्यक है। १९०८-१९०९ से ही मैं विप्लववादी नही रह गया था।

मैं जानता था कि इस प्रकार का बहिष्कार गाधीजी कराना चाहते हैं, अत मेरा अरण्य-रोदन कोई नही सुनेगा। परन्तु अपने विचार भेजकर मैंने अपना कर्तव्य पूर्ण किया। उन विचारो का उपयोगी भाग निम्नलिखित था—

धारा-सभाओ का बहिष्कार

'मेरा यह दृढ मत है कि धारा-सभाओ के बहिष्कार का आन्दोलन आरम्भ करने मे कोई लाभ नही है। उसके कारण ये हैं—

१—बहिष्कार से देश के अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति धारा-सभाओं से निकल जाएँगे या अलग रहेगे, इससे धारा-सभाओ के द्वारा देश की जो प्रगति होने की सम्भावना है, वह नही होगी।

२—जिनकी उपस्थिति से मार्लि-मिण्टो के सुधारो वाली धारा-सभाओ मे भी अधिकारियो की गैर-जिम्मेदार मनोवृत्ति पर अकुश रहता

है, वे देश के सबसे अधिक प्रभावशाली पुरुष, बहिष्कार के कारण धारा-सभा में जाना बन्द कर देंगे।

३—चुनावों के सिलसिले में राज-काज में आगे बढ़े हुए राजनीतिज्ञों द्वारा जो प्रबल और व्यवस्थित प्रचार-कार्य चलने की आशा है, और उस प्रचार से जनता को सामान्यतया जो राजनीतिक शिक्षा मिलती है, वह धारा-सभाओं का बहिष्कार होने से नहीं मिल सकती।

४—बहिष्कार से निम्न प्रकार के मान-मर्यादा और पद प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाले ख़ुशामदी लोगों को रचनात्मक कार्य करने का अवसर मिल जाएगा और लोगों के मन में यह समझकर बैठे रहने की वृत्ति उत्पन्न होगी कि आज जो स्थिति है, वही उत्तम है।

५—धारा-सभा में स्थान मिलने से मनुष्य को अमुक पद प्राप्त होते ही हैं; और जो न्याय चाहता है, वह यदि धारा-सभा का सदस्य हो, तो उसकी आवाज़ अधिक ज़ोरदार और प्रभावशाली साबित हुए बिना नहीं रह सकती।

६—मेरा मत है कि राजनीति में आगे बढ़े हुए विचारों वाले दल को अलग रखने की स्थिति और सरकार के साथ असहयोग की नीति में शामिल करने की दशा में यह पहला क़दम है। आप जोश के साथ प्रचार कर सकते हैं, परन्तु थोड़े ही समय में ध्येय-प्राप्ति न कर सकने पर आपको अधिक ज़ोरदार प्रचार करना पड़ेगा। अर्थात् लोगों में असहयोग की अग्नि जलानी पड़ेगी और सम्भवतः सरकार दमन-नीति काम में लाएगी। इससे समाज में इतना उत्पात मचेगा कि सुव्यवस्थित प्रगति का जो लाभ देश को मिलना चाहिए, वह नहीं मिल सकेगा।

इससे मेरा यह मत है कि राष्ट्रीय पक्ष के लोगों को ख़िलाफ़त और पंजाब के लिए न्याय प्राप्त करने हेतु धारासभाओं की बैठकों में चुने जाने के लिए देश के आगे आना चाहिए। मैं यह मानता हूँ कि यदि हम पर्याप्त आन्दोलन करें तो देश-भर में राष्ट्रीय पक्ष वाले उचित संख्या में धारा-सभाओं में चुने जाएँ। चुने जाने के पश्चात् राष्ट्रीय पक्ष के सदस्य

वफादारी की शपथ ले। परन्तु जब तक न्याय न मिले, तब तक धारा-सभाओ के काम-काज मे अन्य किसी प्रकार का भाग न ले। यह सारा कार्यक्रम चुनाव के प्रचार के अन्तर्गत लोगो के आगे रखा जाना चाहिए।

१ इस कार्यक्रम मे पजाब का प्रश्न एक पक्ष द्वारा अपना बनाया होने से उसके लिए बडा तीव्र आन्दोलन चलेगा।

२ असहयोग की धमकी देने से और चुनावो मे खडे होने से इनकार करने पर जो प्रभाव होगा, उसकी अपेक्षा चुनाव हो जाने के पश्चात् धारा-सभाओ के साथ असहयोग करने से अधिक प्रभाव होगा।

३. ऐसा करने से धारासभा प्रतिष्ठा और पद प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाले खुशामदी लोगो के हाथ मे जाने से बच जाएगी।

४ ऐसा करने से सरकार को यह ढोग रचने से रोका जा सकेगा कि वह सुधारो वाली धारासभाओ को निर्विघ्न और सरलता से चला रही है।

इक्कीस

अमृतसर-काग्रेस के बाद गाधीजी ने देश पर जादू-सा कर दिया। पहली अगस्त को लोकमान्य स्वर्गवासी हुए और बम्बई की जनता ने उन्हे भव्य सम्मान प्रदान किया। सितम्बर मे कलकत्ता की विशेष काग्रेस ने असहयोग स्वीकार किया।

गाधीजी 'होमरूल लीग' का नाम 'स्वराज्य सभा' रखना चाहते थे, और उसके उद्देश्यों मे से 'रचनात्मक साधन' (Constitutional means) शब्द निकाल कर 'शातिमय और अचूक साधनो' (Peaceful and effective means) से स्वराज्य प्राप्त करना, यह परिवर्तन करना चाहते थे। चार सितम्बर को जब कलकत्ता मे लीग की सभा हुई, तब जिन्ना ने यह विषय उठाया कि इसके लिए उचित नोटिस नही दिया गया था। अतः बम्बई मे सभा की बैठक पुनः बुलाने का निश्चय हुआ।

गाधीजी के सोचे हुए परिवर्तनो मे हमने जिन्ना और जयकर के हस्ताक्षरों से सशोधन उपस्थित किया।

'कांग्रेस के कानून एक प्रकार से स्वराज्य प्राप्त करना है,' यह संशोधन मैंने और हरसिद्ध भाई दिवेटिया ने पेश किया था।

३ अक्टूबर को मुरारजी गोकुलदास मार्केट के हॉल मे यह सभा हुई। गाधीजी उसके अध्यक्ष थे। पडित मोतीलालजी, जवाहरलालजी, राजगोपालाचार्यजी, ये सब उनके पक्ष मे थे। उमर और शकरलाल ने अच्छी सख्या मे सदस्य एकत्र किये थे। अपने पक्ष की हार को हम निश्चित समझे बैठे थे।

जिन्ना और जयकर का सशोधन गिर गया। २० के विरुद्ध ४५ मतो से मेरा उपस्थित किया हुआ और हरसिद्धभाई का अनुमोदित प्रस्ताव भी उड गया। जिन्ना ने तीसरा सशोधन उपस्थित किया—'स्वराज्य का अर्थ है साम्राज्य मे जिम्मेवार राजतन्त्र बनाना,' वह भी उड गया।

जिन्ना ने वैधानिक विषय उपस्थित किया—'तीन-चौथाई बहुमत के बिना विधान मे परिवर्तन नही हो, लीग के विधान के अनुसार यदि उसमे परिवर्तन करना हो तो कौसिल के उपस्थित सदस्यो के तीन-चौथाई बहुमत की आवश्यकता होगी।'

अध्यक्ष ने निर्णय दिया कि इस प्रस्ताव मे जान नही थी, और प्रस्ताव उचित रूप मे पास हो गया था। जिन्ना विरोध प्रदर्शित करके इस सभा से चले गए। हमने भी अनुकरण किया।

५ अक्तूबर को हम बीस सदस्यो ने लीग से इस्तीफा दे दिया। इन बीस मे जिन्ना, जयकर आदि के अतिरिक्त हमारा मडल भी शामिल था।

हमारे इस्तीफो का गाधीजी ने उत्तर दिया। जिन्ना ने उसका जवाब लिखा। उस पर विचार करने के लिए हम अतिम बार एकत्र हुए और हमारी इस सामुदायिक प्रवृत्ति का अन्त हो गया। गाधीजी ने अपना प्रयोग आरम्भ कर दिया था। देश उनके चरणो पर झुक गया था। परन्तु हम लोगो को उस प्रयोग मे बडा खतरा नजर आया। गाधीजी की कार्य-पद्धति का किसी को पूरा पता नही था और उनकी शान्ति की बात कितने अश मे सत्य थी, इसका भी हमे विश्वास नही था। विप्लव के प्रति मेरा

मोह कभी से दूर हो गया था। मेरे मत से यह निश्चित था कि यदि भारत की सस्थात्मक सतता टूटी, तो उसकी अधोगति होगी।

दिसम्बर मे मैं नागपुर की काग्रेस मे गया—उसे छोडने से पहले उसके दर्शन करने के लिए। दो वर्ष मे गाधीजी ने उसे भिन्न ही स्वरूप प्रदान कर दिया था। उसका बाह्य स्वरूप यात्रियो के बडे समूह के समान हो गया था। विभिन्न प्रान्तो से नये खद्दरधारी नेता उसमे आ गए थे। राजनीति के पुराने निष्णात मुश्किल से ही नजर आते थे। जो समूह एकत्र हुआ था, वह अधिकाश मे जोशीले गाधी-भक्तो का था। विचार-स्वातन्त्र्य का उपहास करना, उसे दबा देना, सब जगह दीख पडने वाली इस मनोदशा मे अहिंसा का अश विशेष रूप से नही झलकता था। भारत विजय करने निकले हुए विजय-मस्त सैनिको का यह पडाव था।

एक मित्र मिल गए। "तुमने अभी तक खादी पहनना शुरू नही किया ?" उन्होने पूछा।

"अभी मैं उसकी सार्थकता को समझ नही सका हूँ।" मैंने अपनी कमजोरी स्वीकार की।

"स्वदेशी, वेश्या है; खादी, पतिव्रता स्त्री है। इसमे सार्थकता समझने की क्या बात है ?"

मेरे पास इसका कोई उत्तर नही था।

जयकर और मैं अलग रहते थे, पर दिन-भर साथ घूमा करते थे।

मैं गुजरात कैम्प मे गया। मेरे पुराने मित्रो के साथ मेरी राजनीतिक एकरूपता टूट गई थी।

विषय-विचारिणी-सभा मे जो अवास्तविक-सा वातावरण फैला हुआ था, वह मुझे बडा खटका। गाधीजी, मुहम्मदअली और शौकतअली जो कहते थे, वही होता था। गाधीजी बहुत कम बोलते थे। मुहम्मदअली ने एक बार कहा—

"ब्रिटिश साम्राज्य तो गुजर गया और दफनाया भी जा चुका है।"

मैं अपनी हँसी न रोक सका। इस प्रचण्ड उत्साह को अपनाने मे मैं असमर्थ रहा। जिन्ना ने अद्भुत प्रगल्भता दिखलाई। तीस हजार विरोधी आवाजो के बीच भी उन्होने अकेले यह आवाज उठाई कि काग्रेस को अपना लक्ष्य नही बदलना चाहिए। उन्होने मुहम्मदअली का उल्लेख 'मिस्टर मुहम्मदअली' कहकर किया।

हजारो आदमी खडे हो गए। हजारो आवाजो ने विरोध प्रदर्शित किया। "मौलाना—मौलाना—"

जिन्ना अटल रहे। इस प्रतिपक्षी जनसमूह मे उन्होने अकेले ही जिह्वा की झूठी अजलि देने से इनकार किया।

उस समय की काग्रेस का यह अन्तिम दृश्य था।

मैं चला आया। यह सस्था मेरी समझ से बाहर की वस्तु बन गई। मैंने उससे इस्तीफा दे दिया।

बाद मे एक-दो मित्रो ने मुझसे कहा कि गाधीजी मुझसे मिलना चाहते हैं। मैंने मिलने जाना अस्वीकार कर दिया। उनके प्रभाव मे घिसट जाने का अवसर अभी मेरे लिए नही आया था।

बाईस

आगे बताए अनुसार अपनी दूसरी भूमिका मे मैं किसी समय अनुभव की हुई मनोदशा को सँभाले रखकर, उसके सहारे पात्र और वस्तु की रचना करने का प्रयत्न करता था। इस प्रकार का पहला उपन्यास था 'पाटन का प्रभुत्व' और दूसरा उससे भी बडा 'गुजरात के नाथ'। १९१८ से व्यवस्था मे मेरा हाथ जमने लगा। अपनी शक्ति और भविष्य दोनो के प्रति आत्म-विश्वास का विकास होने लगा। इसके परिणामस्वरूप यदि बम्बई को वश मे करने की अभिलाषा रखने वाले प्रभावेच्छुक की स्वानुभूत मनोदशा से काक उत्पन्न हुआ हो, तो कोई आश्चर्य की बात नही है। मजरी का सृजन कैसे हुआ, यह एक पहेली है।[१] तनमन का

१: 'गुजरात के नाथ' का नायक काक और नायिका मंजरी।

हलकापन इसमे नही है। यह समझ मे आता है कि शरीर-सौदर्य देखने की ओर देखकर प्रसन्न होने की मेरी वृत्ति से उसके रूप का उद्भव हुआ है। कौन जाने मेरी विकसित होती शक्तियो के पत्याघात के रूप मे कल्पना ने स्त्री का सृजन करके रण निमन्त्रण दिया हो! इस उपन्यास मे कहानी कहने की मेरी कुशलता स्पष्ट दीख पडती है।

१६१८ मे मेरी आर्थिक उलझने दूर होने लगी। जगदीश के जन्म पर जीजी माँ के आनन्द की सीमा नही रही। भूलाभाई की पत्नी, इच्छा बहन ने लक्ष्मी को अक मे लिया और इस सगति के फलस्वरूप उसमे कुछ आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। व्यवसाय और राजनीतिक क्षेत्र के चढान सरल होते जान पडे।

उस समय मैं यूरोपीय सस्कृति को जीवन की पराकाष्ठा मानने वाले मित्रो के सम्पर्क मे आ रहा था। भूलाभाई के बहुत ही निकट परिचय के फलस्वरूप उनके अनेक दृष्टि-बिन्दुओ को मैंने, जाने या अनजाने, स्वीकार किया। वे एकदम अर्वाचीन थे। उनका ऐच्छिक विषय पर्शियन होने के कारण हमारी प्राचीन सस्कृति के साथ उनका परिचय बहुत कम और परोक्ष था। विजय से पूर्ण उनके प्रवृत्तिमय जीवन मे अन्तर-मथनो के लिए समय नही था। इस प्रकार हमारे स्वभाव और सस्कार भिन्न होने पर भी मैंने उनकी अनेक मान्यताएँ और विशेषताएँ उसी प्रकार ग्रहण की, जिस प्रकार कौआ मोर-पख पहनकर घूमता है।

एक दिन मनुकाका ने टोका—

"कनुभाई, तुम तो भूलाभाई की तरह चल रहे हो!"

मुझे बुरा लग गया। मैने यह मानने का प्रयत्न किया कि मनुकाका की, मेरी निन्दा करने की आदत से ही इस टीका का जन्म हुआ था। परन्तु इससे चुभन हुई और मैं आन्तरिक मथन मे डूब गया। जिनके गुणों पर मैं मुग्ध था, उनकी अनेक बाह्य रीतियों का अनुकरण मैं अनजाने में करने लगा था, ऐसा मुझे प्रतीत हुआ।

किसी वस्तु को यदि हम निरन्तर अपनी कल्पना मे रखें और उसके

साथ तादात्म्य की भावना बनाएँ, तो उसके गुण की प्राप्ति हो जाती है। इस विश्व-नियम को अपने पर घटते देखकर मैं स्तब्ध हो गया।

१९१८ मे जब मैं अकेला महाबलेश्वर गया, तब मैंने अपने विकास का निरीक्षण आरम्भ किया। निरीक्षण करते हुए मुझे यह भान हुआ कि मेरे पैरो के आगे ज्वालामुखी फट पडा है। १९०७ से ही मैं प्राणायाम करता, गीता के अनेक चरणो और सूत्रो का जप करता और वैराग्य प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। मुझे प्रतीति हुई कि दसो वर्षों मे मैं अपने इस प्रयोग मे असफल हुआ था। यह सत्य है कि इस प्रयोग से मेरे अन्तर की व्यथा कम हुई थी, और मेरा आचरण शुद्ध बना रहा था। परन्तु यह प्रयोग स्वाभाविक नही था, बल्कि पराए दबाव की तरह कृत्रिम और हानिकारक था। इस अभ्यास से सयम-साध्य किया था, परन्तु वह उल्लासहीन था। जिस प्रकार कोई साधु कडवा घूँट पीकर, त्रस्त भाव से पचाग्नि मे बैठता या बाणशैया पर सोता है, उसी प्रकार मैं यह सब करता था। ॐ का ध्यान, शक्ति या आनन्द देने के बदले, डडा उठाकर घबराहट मे डालने वाले जेलर की कमी पूरी करता था।

'कर्मेन्द्रियाणि' को सीधा रखने मे मैं सफल हुआ था; परन्तु इन्द्रियार्थों ने विचित्र रूप से मेरे हृदय पर अधिकार जमा लिया था।[1] रूप, रस, गध, स्पर्श और शब्द को वश मे करने के लिए मैंने अपने पास की ग्रीक शिल्पाकृति की जो तस्वीरे थी, उन्हे फेंक दिया, परन्तु जब भी कोई सुडौल अगों वाली स्त्री या पुरुष दृष्टिगोचर होता था, तब मेरी कल्पना मे उसका चित्र खडा हो जाता था, कि उसकी शारीरिक अपूर्वता

---

१ कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते॥

जो मनुष्य कर्म करने वाली इन्द्रियों को रोकता है, परन्तु वह उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन मन से करता है वह मूढात्मा मिथ्याचारी कहलाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ३, श्लो० ६।

कैसी होगी ! रस को वश मे करने के लिए मैंने सादा और फीका भोजन करना आरम्भ किया। परन्तु तेल-मिर्चहीन भोजन मे भी मैं रस की सूक्ष्मता परख लेता और वह अधिक सूक्ष्म कैसे हो सकती है, इसके प्रयोग मेरी कल्पना मे आ जाते। जब कोई आग्रहपूर्वक देता था, तब दो चमचे शराब भी मैं पी लेता था; परन्तु शेम्पेन या आस्टिस्पामाटी की कुछ बूंदो मे समाया हुआ रस अधिक सूक्ष्म कैसे लग सकता है, इसका विचार आ जाता था। मादक कविता पढना मैंने छोड दिया था, परन्तु मेरी स्मरण-शक्ति शेली के 'Epipsychidion, पियर लूई के 'Song of Biletus, बाइबिल के 'Song of Solomon', जयदेव के 'गीतगोविन्द' या मीरा की किसी विलासी पंक्ति के आसपास अनायास ही सरस सृष्टि खड़ी कर देती थी।

मैंने भूमि पर सोना नही छोडा था। कोमल वस्तु को यथाशक्ति वर्जित समझा था। परन्तु मेरी कल्पना कहानी द्वारा या कहानी मे आलेखित घटना द्वारा अपनी स्पर्शेन्द्रिय मे मानव-अगो के मार्दव के सवाद-पूर्ण नर्तन की इच्छा रखती थी। वस्तुस्थिति यह थी कि गीता के शब्दो मे विमूढात्मा बनकर मैं मिथ्याचार का उपभोग कर रहा था। ध्यान या जप मुझे नये रूप मे नही ढाल रहे थे, वरन् मेरे स्वभाव की वृत्तियो को आचार मे दबाकर कल्पना मे प्रबल और सूक्ष्म बना रहे थे—उसी प्रकार, जिस प्रकार पानी एक ओर दबाने मे दूसरी ओर उठ आता है।

जब मुझे इसका भान हुआ, तब मैं आत्म-तिरस्कार से बिधकर बडा व्याकुल हुआ। मेरा दस वर्ष का परिश्रम निष्फल हो गया था। अनतानद बनने के बदले मैं विमूढ़ आत्मा—Fraud बन रहा था।

मुझे यह याद है कि महाबलेश्वर की वृक्षावलियो के बीच अकेले घूमते हुए मैंने अपना दम घुटने से रोका था। मेरे सामने यह कठिनाई आ खड़ी हुई थी कि अपने विकास के टूटे हुए शिखरो को मैं किस प्रकार फिर से निर्मित करूँ ?

योगसूत्र मे अभ्यास की जो व्याख्या दी हुई थी, उसका एक सूत्र मैं

चूक गया था। "सतु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारात् सेवितो दृढ भूमि·," सत्कार से मैं इस क्रम को नही चला रहा था।

मेरा वैराग्य का आचारात्मक अभ्यास व्यर्थ था। उसमे सत्कार का लक्षण नही था। इस कारण पूर्णतया शक्ति, शान्ति या आनन्द प्राप्त नही हो रहे थे।

मुझे यह प्रतीति हुई कि अन्तर और कल्पना के सत्कार के बिना अभ्यास करना व्यर्थ है।

जब मैं कोई अच्छा भापण देने के लिए बडी तैयारी करता था, तब मेरा भाषण खराब होता था। इसका कारण अब मेरी समझ मे आया। मैं निश्चयपूर्वक अपना भाषण देने का प्रयत्न करता था, परन्तु अपनी तैयारी होने पर भी मैं तैयारी के बिना खराब बोलूंगा, ऐसी कल्पना उत्पन्न होती थी।

जब मुझे नीद न आती, तब मैं सोने का प्रयत्न करता। मेडे गिनता, ॐ के मत्र का जप करता, परन्तु सब व्यर्थ जाता। इच्छा-शक्ति सोना चाहती थी, परन्तु कल्पना-चित्र यह था कि 'मुझे नीद नही आती।'

मैं अच्छा धाराशास्त्री बनने का अभ्यास कर रहा था। इस प्रयोग मे सत्कार था और वह सूक्ष्म हो रहा था। मेरी कल्पना मे जिन्ना, सीतलवाड और भूलाभाई खेल रहे थे।

मैं पाश्चात्य सस्कार-प्रेमियो मे सुशोभित होने का प्रयत्न कर रहा था। मैं उनके-जैसे कपडे पहनता और उसी प्रकार बातें करने का प्रयत्न करता था। मेरा रहन-सहन और दृष्टि-बिन्दु अधिकतर पाश्चात्य बन गया था, परन्तु यह कार्य सफल नही होता था। बचपन से पोषित मेरी आत्मा (sub-conscious self) मे समायी हुई ऋषि की भावना कल्पना द्वारा इस अभ्यास की अचूकता को बेध डालती थी।

मैं रूप, रस, गध आदि द्वारा सशक्त होना चाहता था, परन्तु मेरे स्वभाव की वृत्तियाँ कल्पना द्वारा उसका विरोध करती थी। इन दृढ प्रयत्नो के पीछे कल्पना का बल नही था। मेरी इच्छा-शक्ति और कल्पना

के बीच जहाँ विरोध उत्पन्न होता था, वहाँ कल्पना जीतती और मैं हार जाता। महाबलेश्वर मे मैं अनेक बार 'कोनोट पीक' पर जाया करता था। वहाँ यह सबसे ऊँची चोटी है। इसके पास अरब सागर और बगाल मे जाने वाली नदियो के स्रोत है। इस कारण मैं इसे 'सागरग्रन्थि' कहा करता था।

जब मुझे प्रतीत हुआ कि मेरी सारी भावनाएँ निष्फल हो गईं, और 'अक्षेदास्यामिमोदिष्ये' करना ही मेरे भाग्य मे रह गया, तब मैं वहाँ बैठकर रो पडा।

इस विषादयोग मे मैंने प्रेरणा के लिए दो-तीन बार योगसूत्र पढा, और जो पहले मेरी समझ मे नही आता था, वह अब समझ मे आया।

प्रथम—जिस अभ्यास का स्वभाव सत्कार न कर सके, वह अभ्यास नही, मजदूरी है।

द्वितीय—केवल चित्त वृत्ति का निरोध व्यर्थ है। मै व्यवसाय मे एकाग्रता पोषित कर रहा था। केबल दूसरे विषय से मन हटाकर व्यवसाय के विषय मे उसे सलग्न रख रहा था। यही नही, वरन् रात-दिन बडे बैरिस्टरो के लक्षण मन मे रखने से मैं उनके-जैसा बनने का प्रयत्न भी कर रहा था। परिणामस्वरूप मैं भावना का—मैं कैसा होना चाहता हूँ, इसका सम्पूर्ण कल्पना-चित्र निरन्तर उपभोग कर रहा था। इस भावना—Becoming—के बिना निरोध के प्रयत्न मे सफलता नही मिलेगी।

इन दो नवीन दृष्टियो से मैंने अपना जीवनक्रम निश्चित करना आरम्भ किया। मैंने पुराने तरीके—ध्यान, प्राणायाम, वैराग्य प्राप्त करने के प्रयत्न आदि सब छोड दिए। अपने स्वभाव—जिसे मैंने कुचल डालना चाहा था—को ही मैंने मध्यबिन्दु बनाया।

स्वभाव—जो कि मैं हूँ उसका कारण—ही मुख्य वस्तु है, यह मैंने समझ लिया।

गीता के अनेक समझ मे न आने वाले सूत्रो का अर्थ मेरी समझ मे

आ गया। स्वभावनियतंकर्म कुवन्नाप्नोति किल्विष—अपने स्वभाव के नियमो के अनुसार जो कर्म करता है, वह पाप एकत्र नही करता। इसीसे भगवान् पतजलि ने कहा है कि योग-साधन करने के लिए यदि और कुछ न हो सके तो वीतराग मे चित्त लगाना चाहिए। यह न हो सके तो विषयो मे और वह भी असुविधाजनक मालूम हो तो किसी भी वस्तु मे मन लगाना चाहिए। अपने पुराने क्रम को छोड देने से मेरे मन मे जो यह विचार उत्पन्न हो गया था कि मैं अपराधी हूँ, वह दूर हो गया। मैं इसकी छान-बीन करने लगा कि पूर्वग्रह प्रयुक्त किये बिना मेरा स्वभाव किस प्रकार की भावनाओ को सिद्ध करना चाहता है। क्षण-भर मैंने ऐसे उल्लास का अनुभव किया कि जैसे मुझे मुक्ति मिल गई हो।

आत्मदमन करके 'अपूर्व' पति बनने मे मुझे कर्तव्यभ्रष्टता मालूम होने लगी थी। यह पुरानी रीति मै त्याग देना चाहता था। मैंने इसकी शुरुआत की। मेरे हृदय मे जो प्रणय-विह्वलता का पागलपन था, मेरे भावना-जीवन मे सहचरी के बिना जो रिक्तता थी, वह सब मैंने लक्ष्मी से कह देने का निश्चय किया।

कृष्ण भवन, महाबलेश्वर
२०–५–१९१८

....

'आज मैं इन शब्दो से सबोधित कर रहा हूँ, इससे तुझे आश्चर्य होगा। इसका कारण मैंने नीचे बताया है। फुरसत मे तू इस पत्र को पढना और सँभालकर रख छोडना।

जब मैं महाबलेश्वर आया, तब मेरे मन मे अपने जीवन के अनेक प्रश्नो का निर्णय करने की आशा थी। वे प्रश्न कौनसे हैं, यह तूने कभी नही पूछा। वे मेरे मन मे किस प्रकार रखे हुए थे, इसका तुझे स्पष्ट ज्ञान नही था। मैं बताता नही था, कारण कि बताने से भला तू समझ सकती थी? आज तक यह सब इस प्रकार रहा, इसमे दोष किसका है? थोडा दोष तेरा और ज्यादा दोष मेरा है···तू मुझे पहचानती ही

नही है ।' इसके पश्चात् उसमे मेरी हृदय-व्यथा का इतिहास है ।

'अत मे गीता ने मेरे हृदय के घावो को भरा । मेरे पुराने अविस्मृत प्रेम की वेदना कम हुई और तेरे प्रति मेरे व्यवहार मे सुधार हुआ, ठीक है न ? बालिका का जन्म हुआ और मैने अपनी प्रतिज्ञा का अच्छी तरह पालन करना आरम्भ किया ऑपरेशन कराने के लिए मिरज जाते समय मैंने तुझसे अपना दुःख कहा था। फिर भी तूने अपने मन मे उस बात को नही उतारा मैं क्या करूँ ? मैं दुःख मे भी स्वार्थी और आत्म-सन्तोष मे भी स्वार्थी था । अपने हृदय के भँवर को तुझसे छिपाने का पाप मैं करता हूँ । जब मै तेरी तपश्चर्या का विचार करता हूँ, तब मेरे मन को कुछ होने लगता है । सदा इसी तरह हम लोग किस प्रकार रहेगे ? १६०५ मे हमारा साथ हुआ । १३ वर्ष बीत गए । तेरह वर्ष बाद मैं इस निश्चय पर आया हूँ ।'' जब तक तेरे प्रति अपना कर्तव्य-पालन न करूँ, तब तक मेरे समान मिथ्याचारी कोई नही है तू मेरे सारे जीवन मे दिलचस्पी लेने वाली कब बनेगी ? वह दिन कब आएगा, जब तू मेरे विचार को अपना विचार, मेरी भावना को अपनी भावना समझ सकेगी ? तू मेरा हाथ नही थामेगी ?....'

इस अन्तिम प्रश्न मे, डूबते हुए मनुष्य की-सी करुण प्रार्थना थी। जब हम मिले, तब लक्ष्मी मधुरता और उदारता से हँसी । उसके पास और कोई कहने की बात नही थी । उसकी समझ मे मैं देवता था, और देवता को ही पागल करने का अधिकार न हो, तो और किसे हो सकता है ?

परन्तु आदर्श पति बनने के प्रयोग करते हुए इस प्रकार के विशुद्ध सम्बन्ध मे जो कृत्रिमता थी, वह हट गई और लक्ष्मी मेरी मित्र बन गई ।

मैं उसके समीप निःसकोच-भाव से अपनी निर्बलताएँ स्वीकार करने लगा । वह उन्हे समझने का दावा नही करती थी; परन्तु मेरे प्रति उदार हृदय से निर्वाह कर लेती थी ।

उसके सुख की सीमा नही थी ।

तेईस

प्लूटार्क के जीवन-चरित्रो मे से जो मुझे प्रिय थे उनमे—टामस कॅपिस का 'क्राइस्ट का अनुकरण,' 'धम्मपद' और नित्शे की अनेक कृतियो को मैंने पढा, और उनके अनेक दृष्टिकोणो का मनन किया। अपने उस समय के अग्रेजी अकनो पर से मैंने आगे जाकर 'मानवता ना आदर्शनो'[1] (मानवता के दिव्य दर्शन) लिखा। नित्शे की सुपरमेन' की भावना ने मुझ पर बडा प्रभाव डाला, परन्तु इससे मुझे सन्तोष नही हुआ। 'सुपर-मेन' के वर्णन के अनुसार मनुष्य राग, भय और क्रोधरहित होकर, निर्द्वन्द्वता से नित्य स्वस्थ रहकर उसके साथ ही विलासाकाक्षा, प्रभाववृत्ति और प्रणय-तरगो को निरकुशता से पोषित कर सकता है; यह कैसे हो सकता है ? राग नही होगा ? द्वेष उत्पन्न नही होगा ? निर्द्वन्द्व होने से विलास की सूक्ष्मता किस प्रकार भोगेगा ?

जब मैं अपनी इस समस्या को हल करने मे लगा हुआ था, तब उन्ही दिनो 'गुजरात के नाथ' की कहानी सम्पूर्ण हुई। हाजी मुहम्मद ने दूसरी कहानी की माँग की, और मेरे मन की विचारधारा से 'पृथ्वीवल्लभ' ऊपर उठ आया।

इस प्रकार 'पृथ्वीवल्लभ' आत्मकथा का एक परिच्छेद बन जाता है। इस खीचतान का एक छोर मृणाल थी और दूसरा छोर था मुज। मृणाल हार गई। उसका सत्कारहीन शुष्क वैराग्य गुलामी की जजीर की तरह शान्त हो गया। मुज की विजय हुई।

'पृथ्वीवल्लभ' मेरे हृदय की ज्वाला से सृजित हुआ है, और उसीसे वह जीवित है। अनेक लोग मानते है, कि मेरी सब कहानियो की अपेक्षा इस कहानी मे अधिक कलात्मकता है। इस पर नाटक बना और इस पर चलचित्र भी तैयार हुआ है। मेरी अन्य पुस्तको से पहले इसका अनु-वाद हिन्दी और मराठी मे हुआ। बगला और कनाडी मे भी इसका

---

१. मुन्शी-कृत 'गुजरात एक संस्कारिक व्यक्ति अने आदिवचनो' (१९३३) पृष्ठ १३४—१७४।

अनुवाद हुआ था; वह पुस्तक-रूप मे प्रकाशित हुई या नही, यह मैं नही जानता। गुजरात मे भी इसके अनेक सस्करण हुए।

'पृथ्वीवल्लभ' जब सम्पूर्ण हुआ, तब भावनगर के प्रोफेसर ने उसकी खूब खबर ली। जब से मैंने 'कामचलाऊ धर्मपत्नी'[1] नामक कहानी लिखी थी, तभी से गुजराती विवेचको का एक दल मुझे कुचल डालने पर सदैव तत्पर रहने लगा था। अब वह समरागण मे कूद पडा।

'कामचलाऊ धर्मपत्नी' की सूझ मुझे एक अनुभव से हुई थी। एक बार मै रेलगाडी मे भडौच जा रहा था, तब एक वृद्ध ने किसी दूसरे की स्त्री और बच्चे को मेरा समझकर मुझे उलझन मे डाल दिया था। उस उलझन को मैंने कहानी रूप में प्रस्तुत किया। विवाह के अवसर पर छोटे स्टेशन पर भिन्न-भिन्न बाराते आई और उस वृद्ध की भूल के कारण राव साहब—कहानी के नायक—और पराई स्त्री को लोगो ने पति-पत्नी समझ लिया, और अन्त मे जब दानो एक शयन-गृह मे मिले, तब उन्हें पता लगा कि लोगो न उन्हे पति-पत्नी समझ लिया है, और इतना ही नही परन्तु उस सम्बन्ध के अनुरूप सुविधाएँ भी दे दी है।

इस कहानी को पढकर एक विवेचक ने कहा—'यह कहानी लिखते हुए मुन्शी का हाथ क्यो न कट गया ?'

ऐसे मनुष्यो मे, नीति पारे की तरह, सरलता से सरक जाने वाली वस्तु है, और जब साहित्य मे अनीति को सम्भव बनाने वाली बेढगी घटनाएँ चित्रित की जाती हैं, तब उन्हे प्रतीत होता है कि वह पारा हाथ से सरक गया है।

'पृथ्वीवल्लभ' का साहित्य मे सृजन करके मैंने गुजरात मे प्रचलित साहित्य-प्रणालियों पर अनजाने मे आक्रमण आरम्भ कर दिया था। कलाकार की स्वतन्त्रता की धर्म-ध्वजा मेरे हाथ मे आकर गिर पडी।

मुझे अपना मार्ग स्पष्ट दीख पडा। मैंने सेफो के काव्य और

१. मुन्शी-कृत 'नवलिकाओ' ('मारी कमला अने बीजी वातो' का नया संस्करण) पृष्ठ १९६—२१५।

बिलिट्स के गीत आनन्द से पढे थे। मुझे 'गीतगोविन्द' और 'जानकी हरण' को जला डालने की कभी इच्छा नही हुई थी। मैंने शेक्सपियर के 'वीनस और एडोनिस' की रसिकता से जगत् मे प्रलय आने की बात कही नही पढी थी। 'पृथ्वीवल्लभ' के हृदय मे जो तरगे थी, वे यदि मेरे हृदय मे जाग गई हो, यदि उन तरगो ने मेरी कल्पना के गर्भ मे उस पुरुष का सृजन किया हो और उस पुरुष को शब्दो द्वारा ससार मे लाने की मुझमे शक्ति हो तथा इस प्रकार जीवनदान दिये हुए व्यक्ति मे ऐसा व्यक्तित्व हो कि लोग पढकर उसे अनुभव कर सके, तो फिर उस 'पृथ्वीवल्लभ' को कलकित करने का जगत् को क्या अधिकार है ?

जिस सन्तान को मैने कल्पना के गर्भ मे धारण किया और जन्म दिया है, वह यदि दूसरो को पसन्द न आए, तो क्या मुझे उसके टुकड़े-टुकडे कर देने चाहिएँ ? उसे क्यो न ससार मे बिहार करने दिया जाए ? यदि वह अयोग्य होगी, तो विलुप्त हो जाएगी, जीने और किसी को जिलाने के योग्य होगी, तो जीवित रहेगी।

भिन्न-भिन्न कोटि के लोगो ने 'पृथ्वीवल्लभ' पर अपना पुण्य-प्रकोप प्रदर्शित किया है। इस प्रकोप के पीछे की दृष्टि को मैं समझ सकता हूँ, परन्तु स्वीकार नही कर सकता।

यदि इसका नाम 'कला के लिए कला' हो, तो उस धर्म को मैंने स्वीकार कर लिया है। और यदि यह मान लिया जाए कि इस सारी वस्तुस्थिति के रहते हुए भी मै भूल कर रहा हूँ, तब भी मुझे 'पृथ्वी-वल्लभ' लिखने के लिए कभी पश्चात्ताप नही हुआ।

मैंने बचपन से ही ससार के साहित्य-सम्राटो—व्यास और कालिदास, होमर और गाइथे, ड्यूमा और ह्यूगो, शेक्सपियर और शेली की चरण-रज को शीश झुकाकर मस्तिष्क पर चढाया है। मुझे गुजराती नही आती। मेरी कल्पना के पख इतने शक्तिशाली नही है कि मै जहाँ चाहूँ, उड सकूँ। मेरी सृजन-शक्ति परिमित है।

मैंने सरस्वती की पूजा की है, दीनता से, शिशु-भाव से।

मैंने अपना हृदय चीरकर उसके चरणो मे 'पृथ्वीवल्लभ' को रखा है। यह पुष्प यदि किसी को नीरस मालूम हो या पल-भर मे मुरझा जाने वाला हो, तो इससे मुझे क्या ?

अजलि-रूप बनने मे ही इस पुष्प की पहली और अन्तिम सफलता है।

चौबीस

१९२१ का अप्रैल मास आया। कोर्ट मे छुट्टियाँ हुईं और हम माथेरान के 'सहारा कॉटेज' मे रहने के लिए गये। मेरा ख़याल था कि व्यवसाय के, साहित्य के और आत्मविकास के चढाव की समाप्ति पर मैं आ रहा था। लक्ष्मी अब सच्ची सहचरी बन गई थी। मेरे और उसके बीच कर्तव्यपरायणता का अन्तर नही रहा था। मेरी तरगो और भावना की सहयोगिनी नही मिल सकती, यह सोचकर मै सन्तोष धारण कर रहा था।

जीजी माँ-की तपश्चर्या भी फलीभूत हो गई थी। दौहित्र ठिकाने लग गया था। कसनदास मुन्शी की हवेली के आगे ही उसके पुत्र की हवेली थी। उन्होने बनवा ली थी। अड़सठ तीर्थों की यात्रा कर चुकी थी। बेटा-बहू स्थिर हो गए थे। टेकरे की रौनक पुन आ गई थी। जब घर मे निवास किया गया, तब उन्होने गगा-पूजन कराया था। जाति मे मिठाई बँटवाई थी। 'सहारा कॉटेज' के झूले पर वे प्रतिदिन बैठा करती थी। उनके साथ उनके साथी भी होते थे—पनडिब्बा, हिसाब का रजिस्टर, पेन्सिल, ऐनक, सरला और जगदीश। 'भाई' के मित्र और मित्र-वधुएँ भी आते जाते रहते थे। दौहित्र अपनी बहू के साथ आया। ठाकुरभाई और भाभी भी आये।

प्रतिदिन बेटा, बहू और बच्चे घोड़े पर बैठकर घूमने जाते और जीजी-माँ खुशी से फूली न समाती। "तापी बहन," ठाकुरभाई कहते, "रोज़ शाम को तुम्हारा बेटा बारात के घोड़े पर चढता है और बहू

लेकर घर आता है।" और जीजी-माँ हँस पडती।

परन्तु पुत्र के हृदय की व्यथा उनसे छिपी नही थी। उसके किये हुए प्रयत्नो की वे साक्षी थी। इसीसे ईश्वर-भक्ति और अध्यात्म-ज्ञान को गौण समझकर, वृद्धावस्था का भार दूर हटाकर, पुत्र के विचार और भावना मे हिस्सा बँटाकर वे उसके एकाकीपन के भार को हलका करती थी।

पुत्र कहानी लिखता, तो पहले जीजी-माँ को पढकर सुनाता। वह कुछ करके आता कि तुरन्त उसे वे उसके मुख से सुनती। उसकी कृति या उसके विषय मे कुछ छपता तो उसे वे पढती और काटकर तथा संभालकर रख लेती थी।

१९१९ से मुझे जो नये सत्य दिखलाई पडने लगे थे, उनका मै व्यवस्थित रूप से मनन कर रहा था। अनेक बार जल्दी उठकर 'बलवर्धन' (Belvedere) शृङ्ग पर जाकर पुराने आत्म-विकास के क्रम को नया रूप प्रदान करता था।

मेरी विचारधारा एक ही मध्य-बिन्दु के आसपास घूमा करती थी। मेरे स्वभाव मे मेरी शक्ति, विकास और मेरी आत्म-सिद्धि का क्षेत्र, समृद्धि और साधन तीनो थे। उसी मे से और उसी के द्वारा मुझे अपना कर्तव्य खोज निकालना था, उसी मे से मुझे उसका अनुसरण करने की शक्ति प्राप्त करनी थी। यह स्वभाव और कर्तव्य आत्मा थी और जो उसका विरोधी हो, वह अनात्मा।

मई के अन्त मे मैंने अकित किया—

'यदि मुझे अपने विकास की साधना करनी हो, तो अपने स्वभाव-विरोधी तत्त्वो के साथ विगतज्वर होकर युद्ध किये बिना मेरा विस्तार नही है। अन्यथा मै तिनके के तुल्य सिद्ध हूँगा। इन विरोधी तत्त्वो—अनात्मा के विरुद्ध जूझना मेरे व्यक्ति-विकास का पहला कदम है।

प्रत्येक कदम पर मेरा विकास होता है—मैं जैसा था या जैसा हूँ, उससे भिन्न बनता हूँ। परन्तु इस निरन्तर होने वाले विकास के अन्त मे क्या

है ? केवल यही कि मैं जैसा हूँ उससे भी अधिक प्रौढ बनूं, अधिक आत्मवान् बनूं, बस यही। इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक आत्मवान् बनने की क्रिया-भावना ही मेरे और सबके जीवन की मुख्य क्रिया है।

इस क्रिया से प्रौढतर व्यक्तित्व प्राप्त करते जाने का नाम ही आत्मसिद्धि है। अत मेरी स्वभावजन्य वृत्तियो के सर्वांगसुन्दर विकास मे ही आत्मसिद्धि—मोक्ष—सन्निहित है। प्रत्येक भावनाशील पुरुष का यही ध्येय होता है, मेरा भी यही ध्येय हो सकता है। आत्मसिद्धि प्राप्त करने की मेरी इच्छा नग्न पशुता का आनन्द उठाने की इच्छा से भिन्न है। यह अधिक सम्पूर्ण और सवादी जीवन भोगने की इच्छा है।

जो कुछ मेरे स्वभाव मे है, उसे ही मूलभूत सामग्री समझकर, उसी को समृद्ध करने की यह इच्छा है। यह इच्छा भी इसमे समायी हुई है कि मेरी शक्तियाँ इस प्रकार विकसित हो कि जिससे कार्य-अवकाश के नये क्षेत्र मिल सकें।

ऐसे महान् व्यक्तियो की, जिनमे आत्मीयता अधिक परिमाण मे हो, प्रशसा करने की इच्छा मुझे होने लगती है। यह भी इसी का एक अग है।

इस इच्छा का ध्येय निरन्तर अधिकाधिक विकास-सिद्धि के लिए आकुल होना है—तृप्ति नही, मुझे यदि तृप्ति होती है तो भावना की क्रिया रुक जाती है। यदि तृप्ति न होने दूं और क्षण-क्षण पर विकास प्राप्त करने को—अपूर्वता पाने को तरसता रहूँ, तो उसके फलस्वरूप मै भावनात्मक अपूर्वता को प्राप्त कर लूं।

दुर्भाग्यवश अब तक मैंने अपने बाह्य स्वरूप को विकसित करने का प्रयत्न किया है—आन्तरिक स्वरूप को नही।

मैंने बाल सँवारे, अपनी आवाज़, रहन-सहन और आचार को सुधारने के प्रयत्न किये। मैंने शारीरिक और मानसिक साधनो से समृद्ध होने के लिए परिश्रम किया। मुझे कुछ बनने की इच्छा थी। लोगो का ध्यान आकर्षित हो और मेरा प्रभाव पड़े, ऐसा व्यक्ति मैं बनना चाहता था। परन्तु आत्मसिद्धि, जिससे कि व्यक्तित्व प्राप्त होता है, वह इस साधन या

समृद्धि से नही मिल सकती। वह तो अपने स्वभाव की शक्तियो को अधिक अच्छी तरह व्यक्त करने, अधिक प्रौढ व्यक्ति बनने से मिल सकती है।

मैं कमाता हूँ, मैं घूमता-फिरता हूँ, मैं लिखता हूँ, परन्तु उनमे विकास नही है, महत्त्व नही है। मैं क्या था और आज क्या हूँ ? इसका माप ही मेरे महत्त्व का माप है। 'करने' की अपेक्षा 'होना' ही सत्य वस्तु है। 'मैं करता हूँ' और 'मैंने किया' यह मिथ्या बकवाद मैं किसलिए करता हूँ ? मैं अधिक अश मे 'हो जाऊँ' तो अन्य प्रकार की सेवा की अपेक्षा अधिक सेवा करूँ। मेरे सच्चे महत्त्व का माप मेरे व्यक्तित्व मे है, कार्यों मे नही।

जब मैं किसी महापुरुष से मिलता हूँ, तब उसके कार्य की अपेक्षा वही बडा दीखता है। मिल्टन ने कहा है कि जब तक कवि का जीवन महाकाव्य न बन जाए तब तक वह महाकाव्य नही लिख सकता। यदि मैं इसके लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहूँ कि मेरी कल्पना और अनुभव केवल उत्तरोत्तर बढती हुई अपूर्वता को प्राप्त करें, तो मुझे भावनात्मक अपूर्वता मिल सकती है।

भावनात्मक अपूर्वता के लिए तरसे बिना यदि केवल सिद्धि की अभिलाषा करता हूँ, तो मुझे आनन्द प्राप्त नही होता। उस स्थिति मे तो तृप्ति मुझे दग्ध करती है। भगवान् व्यास के कथनानुसार मैं 'पतन्ति नरकेऽशुचौ' का अनुभव करता हूँ। 'न चायुक्तस्य भावना न च भावयतः शान्ति. अशान्तस्य कुत सुखम्,' यह सूत्र भली भाँति मेरी समझ मे आ रहा है। प्रयत्नो की परम्परा के सिलसिले मे यदि मैं बढती हुई अपूर्वता का उपभोग करूँ, तो मैं सशक्त, सुन्दर और विशिष्ट बन जाऊँ। बाह्य आचार के उपयोग को मेरा हृदय रोक रहा है। परन्तु यदि मुझे सारा ससार मिल जाए, और मैं अपनी आत्मा को खो बैठूँ तो वह किस काम का है ?

मैं जगत् जीतने के लिए निकलूँ और जीते हुए जगत् को अपना न बना सकूँ, तो इसका क्या अर्थ है ?

मैं अपने स्वभाव के अनुसार ही—अपने तरीके पर ही जीवित रहूँ, यही अब मेरा धन है—बाकी सब मिथ्या है।

'स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।' थोडे ही दिनो बाद मैं इस नये दर्शन को सूत्र-रूप मे अंकित करता हूँ[1]—

---

१. यह अंकन अंग्रेजी का अनुवाद है। मूल वस्तु घटा-बढ़ाकर मेरी पुस्तक 'Akhand Hindustan' मे 'To be or To do' शीर्षक से प्रकाशित हुई है।

उसके साथ तुलना—

'यह भावना क्या वस्तु है ? प्रत्येक मनुष्य की—सम्पूर्ण मनुष्य की भी भावना होती है। उसके होने से वह अपूर्व होने का प्रयत्न करता है। यह अपूर्वता किसमे समाविष्ट है, यह समझ मे आने पर भी यह जाग्रत स्वप्न उसकी दृष्टि के आगे फिरता रहता है।

कभी-कभी उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसने इस भावना को सिद्ध कर लिया है और कभी यह भावना उसके हाथ से छिटक जाती है। भावना, अर्थात् अपूर्वता प्राप्त करने पर मनुष्य कैसा हो सकता है, इसका हृदय मे उत्पन्न हुआ स्वरूप। यह भावना सदा स्पष्ट नहीं होती। वह कभी एक जैसी नहीं रहती। वह सर्वत्र बढ़ने वाली होती है। वह कभी सिद्ध होने वाली नहीं होती।

भगवान् बुद्ध के सिवा इतिहास मे और कोई ऐसा पुरुष प्रसिद्ध नहीं है, जिसके मन मे सदैव अपनी अपूर्वता, एक दुष्प्राप्य स्वप्न के रूप में नही, वरन् सिद्ध की हुई वस्तु के रूप मे रही हो। परन्तु कई मनुष्यों को किसी समय यह भावना सिद्ध हुई प्रतीत होती है। वह और उसका आदर्श क्षण-भर के लिए समान विस्तृत हो जाते हैं। उसका स्थूल व्यक्तित्व और स्वप्नवत् सूक्ष्म भावनात्मक व्यक्तित्व एक हो जाते है, और उस क्षण परम आनन्द स्रवित होता है। तत्त्वज्ञानी कहते हैं कि आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाती है। योगी कहते हैं कि जब चित्त-वृत्ति का निरोध हो और निर्विकल्प समाधि हो, तब इस परमानन्द की प्राप्ति होती है।

१. आनन्द वह है, जो प्रत्येक अनुभव पर अधिक सूक्ष्म अनुभव करने की उल्लसमय आकुलता उत्पन्न करता है।

२. जिस अनुभव के बाद पुन वही अनुभव करने की इच्छा न हो, वह तृप्ति है।

३ अनुभव या कलाकृति, आचार या विचार; जिसका अधिक सूक्ष्म स्वरूप मे साक्षात्कार करने की तीव्र उत्कठा होती रहे, वह आकुलता है।

४. जहाँ भावनात्मक अपूर्वता होती है, वहाँ सरसता अवश्य होती है। जहाँ तृप्ति से अरुचि उत्पन्न हो, वहाँ से सरसता लुप्त हो जाती है।

५ अपूर्वता के लिए आकुलता बढने से व्यक्तित्व का विकास होता है। जिस कर्तव्य से व्यक्तित्व बढता है, वह धर्म है, जिससे नही बढता, वह सब अधर्म है।[1]

ये सिद्धान्त केवल तत्त्वज्ञान के नहीं है। देश-भक्त जब देश के लिए प्राण देता है, तब इसी आनन्द को प्राप्त करता है। कवि जब अपने हृदय में लिखित प्रियतमा से मिलता है, तब उसे भी यही आनन्द मिलता है। प्रत्येक समय एक ही प्रकार की क्रिया होती है। उस समय मनुष्य और उसकी भावना एक हो जाती है। पार्थ धनुर्धर और योगेश्वर कृष्ण, नर-नारायण की एक मूर्ति बन जाते हैं।'

—मुन्शी-कृत 'थोडाक रस दर्शनो—साहित्य अने भक्तिनां; पृष्ठ २९–३०

१. विषय-लालसा एक प्रबल इच्छा है। उसका लक्ष्य केवल संग नहीं तृप्ति है। यह मनुष्य को व्याकुल करती है, उसका दम घोंटती है। उसके खाने को विष बनाती है, उसकी नींद को हर लेती है; और उसे काम, क्रोध, संमोह, स्मृति-विभ्रम और बुद्धि-नाश की निम्न-से-निम्न सीढ़ी पर ले जाती है। अन्यथा तृप्ति होने पर क्षणिक सुख मिलता है। इस सुख के पश्चात् कुछ समय तक इस इच्छा से अरुचि हो जाती है। एक बार तृप्ति मिलने के बाद इच्छा कम हो जाती है और तृप्ति से मिलने वाला सुख समाप्त हो जाता है, कल्पना रोगी बन जाती है, और धीरे-

प्रणाली के अनुसार निर्मित मेरी समझदारी इतनी जबरदस्त थी कि रसिक होना विषय-लपटता का स्पर्श करना है। इस भ्रम को अनजाने मे मैने अपनाया था। परन्तु कल्पना और जीवन की विविधता का उपभोग करने की अपनी रसिकता से मुझे लज्जित होने की क्या आवश्यकता है ?

इन विचारो का पहला परिणाम यह हुआ कि रूप, रस, गध, स्पर्श और शब्द की सरसता के प्रति अपनी वृत्तियो पर दबाव डालने की अपेक्षा मै उनकी अपूर्वता को खोजने लगा। मैं केवल फीकी और उबली हुई चीजे खाया करता था। उसके स्थान पर केवल तेल-मिर्चों के सिवा अन्य सब चीजें थोडी-थोडी खानी आरम्भ कर दी। कोई भी वस्तु अधिक नही खाता था, जिससे कि तृप्ति होती मालूम हो। इस प्रकार मैं एक रोटी खाने लगा। कम खाने से शरीर मे सुधार हुआ और प्रत्येक वस्तु थोडी-थोडी खाने से सूक्ष्मता से उसका स्वाद ले सका। इसी प्रकार मुझे जो रूप, स्पर्श और शब्द की सूक्ष्मता का अभ्यास करने मे हीनता मालूम होती थी, वह दूर हो गई। जप, ध्यान और प्राणायाम मै आत्मदमन के लिए किया करता था। अब उसके स्थान पर उन्हे आतुरता का पोषण करने का और तृप्ति को रोकने का साधन बनाया।

कला और साहित्य मे स्थित मेरी सरसता के खयालो पर भी इन विचारो ने नया प्रकाश डाला—

'मनुष्य की शरीर-रेखाओ मे स्थित सरसता को बार-बार देखने—अनुभव करने की मुझमे उत्कण्ठा होती है। इस सरसता को परखकर मुझे आनन्द मिलता है; इसे अनेक बार अनुभव करने पर भी इस आनन्द से अरुचि नही होती। बिनस डी मिलो या एपेलो बेल्वेडियर देखकर मुझे तृप्ति नही होती। इस आनन्द मे तृष्णा नही है। ज्यो-ज्यो आनन्द का

धीरे मनुष्य जड़, स्थूल और अधम हो जाता है।

—मुन्शी-कृत 'थोडांक रस दर्शनो—साहित्य अने भक्तिनां,' पृष्ठ २७।

अनुभव करता हूँ त्यो-त्यो उसको सीमा बढती जाती है। इनसे मुझे विषय-लालसा नही होती। मैं क्रुद्ध हो जाता हूँ। मेरी शक्तियाँ भावनाशील बन जाती है। शरीर और उसके सग के प्रति मेरे मन मे मान और पूज्य भाव उत्पन्न होता है।

'इसी प्रकार साहित्य की सरसता-स्वरूप एपिसाइकिड्यन, बिलिट्स के गीत, गीतगोविन्द या मेघदूत को बार-बार पढने से मुझमे अधमता नही आती। मेरी प्रणय-भावना सूक्ष्म होती है।

'इस सूक्ष्मता मे मैं क्यो न प्रसन्न होऊँ ?'[१]

इस भावना-धर्म के वशीभूत होकर मैंने उन्ही दिनो नये-नये सकल्प किये।

अब तक मैं कहानियाँ लिखकर सतोष कर लिया करता था। अब मैंने गुजरात की अस्मिता, साहित्य और कला तथा मानवता के प्रति अपने आदर्श गुजरात को समक्ष रखने का निश्चय किया। यह मेरा धर्म बन गया। इस धर्म के अनुरूप बनने के लिए मैंने महाभारत और अन्य पुराण, गुजरात के साहित्य और इतिहास का अध्ययन आरम्भ किया। 'बलवर्धन शृग' पर बैठकर मैंने आदिपर्व शुरू किया। बम्बई मे आकर गुजरात के इतिहास के उद्धरण लेने लगा। साहित्य के अध्ययन ने आगे जाकर अनेक पुस्तको तथा 'Gujrat and its Literature' का स्वरूप ग्रहण किया।

इस प्रकार मैंने १९२१-२२ मे महाभारत, वायु, मत्स्य, मार्कण्डेय, शिव, विष्णु, भागवत और ब्रह्माण्ड पुराण पढे। कोई यह न समझ बैठे कि मैंने उन्हे सस्कृत मे पढा। मेरा सस्कृत का ज्ञान बडा परिमित है। साधारणतया मैं सस्कृत के अग्रेजी या गुजराती अनुवाद पढता था। और जहाँ सुन्दर वर्णन आता था, वहाँ उसका मूल पढता था। उस अध्ययन के भी मैंने विस्तार के साथ उद्धरण लिये। यह अध्ययन मैंने १९२२ मे भी

१ मुशी-कृत 'थोडाक रस दर्शनो', साहित्य नां अने भक्तिनां, पृष्ठ २७-२८।

अवकाश के समय जारी रखा। उसी के अन्तर्गत गुजराती मे 'भारतीय इतिहास के सीमाचिह्न', 'रामजमदग्नेय' आदि लेख लिखे। 'Early Aryans in Gujrat'[1] के व्याख्यानो मे उसे परिपक्वता मिली। इस प्रेरणा द्वारा १६२२ मे 'पुरदर पराजय' नामक मेरा पहला नाटक लिखा गया, और बाद मे पौराणिक और वेदकालीन नाटक और उपन्यास भी इसी प्रेरणा द्वारा लिखे गए।

महाभारत के पढने से मानवता के अनेक रहस्य मेरी समझ मे आए, और मैंने 'Manhood and its Interpreters' नामक विस्तृत लेख अंग्रेज़ी मे लिखा। बाद मे उसी पर से 'मानवता के दिव्य दर्शन' (मानवता ना आर्ष दर्शना)[2] शीर्षक आदिवचन लिखा।

उसमे मैने आर्यत्व की भावना को अपनी नई दृष्टि के अनुसार आलेखित किया—

'आर्य शक्तिशाली है, उसकी बुद्धि राग-द्वेष से अस्थिर नही है, वह नित्य सत्त्वस्थ है। वह अपनी आत्मा, अपनी विशिष्टता, अपने स्वभाव और शक्ति के रहस्यो को देख सकता है। वह अयुक्त नही, एक आत्म-सवादी शक्ति है, योगी है।

अपने स्वभाव को लाक्षणिक महाशक्ति मे परिवर्तित कर डालना ही आर्य मानवता है। जब आर्य तेजोमय और प्रतापी बनी हुई अपनी स्वभावजन्य विशिष्टता के साथ तादात्म्य की सिद्धि करता है, तब इन्द्र के वज्र की तरह, विद्युत् के बल के समान वह एक प्राकृतिक शक्ति—Elemental force बन जाता है। वह अपने स्वभाव—आत्मा की ही विशिष्टता के पथ पर विचरण करता है। मयि सर्वाणि कर्माणि कहकर सारे कर्त्तव्यो को अपनी ही बुद्धि से योग्य समझकर वह युद्ध करता रहता है—श्री, विजय और भूति प्राप्त करने के लिए, अपने स्वभाव की सिद्धि प्राप्त करने के लिए, अपने-आपको ही अपना शासनकार, अपने-आपको ही

१. बम्बई विद्यापीठ की ठक्कर माधवजी वसनजी व्याख्यान माला।
२. मुशी-कृत 'गुजरात एक सांस्कारिक व्यक्ति अने आदिवचनो।'

अपनी नीति और अपने स्वभाव-जन्य धर्म को ही अपना धर्म समझकर ।[1]

पच्चीस

हम सबके होमरूल लीग मे जुड जाने के पश्चात् 'गुर्जर सभा' समाप्त हो गई थी। 'षड्रिपुमडल' मे से इदुलाल निकल गए थे। कान्तिलाल पडया आगरा मे प्रोफेसर नियुक्त हो गए थे। बाकी रहे हुए हम लोग परस्पर स्नेह-सम्बन्ध का आनन्द उठा रहे थे।

१९१५ मे जब से मैं सूरत की साहित्य-परिषद् मे गया था, तब से मनहरराम मेहता से मेरा परिचय हुआ था। वे साहित्य-परिषद् के परम-भक्त थे और सूरत मे भी उसकी योजना बनाने के लिए उन्होने प्रयत्न किये थे। वे हाईकोर्ट मे दुभाषिए थे। धीरे-धीरे हमारी मित्रता बढने लगी। उनकी इच्छा थी कि बम्बई मे एक साहित्य-विषयक सस्था स्थापित की जाए।

उस समय मनहरराम ने 'रामछद' का आविष्कार किया था, और रामायण का बालकाड उन्होने उसी मे लिखा था। मुझे वह छद बड़ा पसन्द आया था।

नानालाल के अपद्यागद्य की अपेक्षा यह अधिक सुगम और नियमबद्ध है। और मेरा मत है कि यदि कोई सिद्धहस्त कवि इस छद मे आलेखन करे, तो गुजराती कविता बडी समृद्ध हो जाए।

मनहरराम ने इसी छन्द मे 'शिवाजी और अफजलखाँ' नामक काव्य लिखा था और जब वह प्रकाशित हुआ, तब उसे पढकर मैंने शिवाजी महाराज के स्मरण ताज़े किये थे।

१९२१ मे चन्द्रशकर मुझसे कहा करते थे कि मै 'समालोचक' का सम्पादक-पद स्वीकार कर लूँ। मैने यह निमन्त्रण स्वीकार किया, परन्तु इस शर्त पर कि उसका स्वामित्व एक कम्पनी को सौंपा जाए, जिसमे

---

१. मुशी-कृत 'गुजरात एक सांस्कारिक व्यक्ति अने आदिवचनो' में 'मानवता नो आर्ष-दर्शनोमा, पृष्ठ १७०-१७१।

दस हजार के शेयर हो और चन्द्रशकर तथा मैं दोनो सम्पादक बनें। गोवर्धनराम के पुत्र रमणीयराम को यह बात पसन्द न आई। मैंने सारी तैयारी कर रखी थी। अत मनहरराम और मणिलाल नानावटी के साथ मैंने परामर्श किया, और नरसिंहराव भाई का आशीर्वाद प्राप्त करके १६२२ के मार्च मे 'साहित्य प्रकाशक कम्पनी' और 'साहित्य ससद' की स्थापना की।

ससद के सस्थापक सदस्यो मे मेरे साथ मनहरराम, मणिलाल नानावटी, प्रो० शाह, डॉ० एरच तारापोरवाले, मुनिश्री विद्याविजयजी, मास्टर, चन्द्रशकर, कवि ललितजी, रविशकर रावल, छोटूभाई पुराणी, प्रो० चन्द्रशकर बुच, रजितलाल पड्या, प्रह्लाद चन्द्रशेखर दीवानजी, मोहनलाल दुलीचद देसाई, नगीनदास मास्टर, धनसुखलाल मेहता, शकरप्रसाद रावल, रायचुरा, बटुभाई उमरवाडिया, विजयराय कल्याणराय, मस्तफकीर और अन्य मित्र थे। नरसिंहराव ससद मे नही थे, फिर भी १६३० तक ससद के प्रेरक रहे थे। श्री दुर्गाशकर शास्त्री उसमे बाद मे आ गए। हमारा उत्साह अपरिमित था।

'गुजरात' मे पहले अक से ही भारी धूम मच गई। उसकी लेखमाला मे रणजीतराम का 'हेमीओ', मेरा उपन्यास 'राजाधिराज', ललित का 'सखि, आनन्द वसते', मनहरराम का लेख 'गुर्जर सगीत', प्रो० शाह का नाटक 'मने नही', रायचुरा का 'गुजरातण राधा', धनसुखलाल का 'अमारी नवल कथा', शकर प्रसाद रावल का 'नवु साहित्य' आदि थे।

'गुजरात' की अभिलाषा केवल 'बीसमी सदी' का स्थान लेने की ही नही थी, वरन् गुजरात की अस्मिता का सन्देश-वाहक बनने की थी। पहले अक मे ही सम्पादक के स्थान से मैने यह सन्देश स्पष्ट करने का प्रयत्न किया—

'दुनिया मे और भारत मे प्रकट हुई नई भावनाओ और चैतन्य के कारण गुजरात मे भी कुछ-कुछ आशाएँ और प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई है। हमारे साहित्य और सस्कार के व्यक्तित्व का स्पष्ट रूप से विकास करने

के लिए हर ओर प्रयत्न हो रहे है, और इस व्यक्तित्व के फलस्वरूप जीवन मे सस्कार, भाषा और भाव, कला और समाज मे सास्कारिक अस्मिता—Cultural self-consciousness प्रकट हुई दीख पडती है। इस अस्मिता को व्यक्त करके, उसका विकास करके, गुजरात को अन्य सब सस्कृतियो मे एक सस्कारात्मक—Cultural unit के रूप मे स्थान देना—इस प्रकार की भावना की तरगें चारो दिशाओ मे फैली हुई हैं। इन तरगो मे बहे हुए अनेक गुजरातियो की इच्छा से इस 'साहित्य-ससद्' को खडा किया गया है यूरोपियन तत्त्वज्ञानी देकार्त कह गया है—'मैं विचार कर सकता हूँ, इसी से मेरा अस्तित्व मुझे मालूम होता है।' आज गुजराती भी यह कह सकते हैं कि हमारा जीवन हमे निराला मालूम हो रहा है। गुजरात का इतिहास, आचार और विचार औरो से भिन्न प्रकार का, अधिक लाक्षणिक दिखाई देता है। गुजराती युवको का आत्म-त्याग, गुजराती स्त्रियो का चरित्र-बल, गुजराती नागरिको का उत्साह, गुजराती जनता का साहस, गुजरात के गाधीजी का जीवन और आदेश निराले हैं, निराले होते जा रहे हैं, और इसी से उसकी सास्कारिक अस्मिता काल्पनिक नही, वास्तविक है, और इसी से उस साहित्य मे व्यक्त करने का प्रयत्न मिथ्या नही, वरन् आवश्यक है।'

छब्बीस

१६२२ के मई मास मे हमारे साहित्य-व्योम मे एक नया तारा उदित हुआ।

१६१८ के अन्त मे मै बाबुलनाथ पर रहने आया। थोडे दिनो बाद एक दिन मैं अपनी छत पर खडा था और रास्ते से इन्दुलाल और उनके मित्र निकल रहे थे।

"क्यो मुन्शी, कैसे हो ?" इन्दुलाल ने मुझे नीचे से पुकारा। "लीला बहन, ये है मुन्शी।" उसने परिचय कराया और हमने एक-दूसरे को नमस्कार किया।

बडी-बडी आँखे हँसती दीख पडी। चलने का ढग भी मेरी दृष्टि से बाहर न रहा। लीला के विषय मे चन्द्रशकर ने मुझसे अनेक बाते की थी, वे मुझे याद ही थी। अहमदाबाद के किसी धनाढ्य की वह पत्नी थी। साहित्य-रसिक थी और कविता लिखती थी। मेरे मित्र जनुभाई सैयद की शिष्या थी। इन्दुलाल उसके मित्र थे। मास्टर उसके मामा के मित्र होने के कारण उसे भानजी की तरह मानते थे।

जिस मकान मे मै रहता था, दूसरे दिन उसी मकान का ब्लाक किराये पर लेकर लीला का परिवार उसमे रहने के लिए आया।

रात को लीला मुझसे मिलने के लिए ऊपर आई। बचपन मे 'तनमन' की कहानी पढने के बाद उसके रचयिता से मिलने की उमग उसके मन मे उठ आई थी। लक्ष्मी ने और मैंने उसके साथ कुछ देर बाते की।

अनेक बार रात को, जब मैं और लक्ष्मी कुछ देर तक छत पर बैठा करते थे, तब एक-दो बार लीला हमसे मिलने के लिए आई थी। एक बार इब्सन के नाटको के विषय मे हमने चर्चा की। गुजराती स्त्रियो मे कदाचित् ही पाई जाने वाली उपहास करने की आदत को उस समय उसने अपने मे पनपाया था। स्त्रियो के अधिकारो के विषय मे उसका उत्साह अपरिमित था।

स्त्रियो के प्रति मेरी दृष्टि सामान्यतया तिरस्कारयुक्त थी। अपने अध्ययन के गर्व मे मुझे इस उन्नीस वर्ष की लडकी के अध्ययन और दृष्टि मे छिछोरापन मालूम हुआ।

जब भी मैं किसी नई स्त्री के साथ बात करता था, तभी 'देवी' के स्मरण-सचय की दीवार हमारे बीच खड़ी हो जाती थी। जहाँ किसी स्त्री का अपने प्रति ज़रा भी पक्षपात दृष्टि पडता था, वहाँ से मैं भाग खडा होता था। इस अवसर पर भी कुछ ऐसा ही हुआ।

एक बार चन्द्रशंकर के मडल ने लीला को चाय पर बुलाया, तब मैं वहाँ उससे मिला। कुछ देर बैठकर मैं चला आया। मडल के सारे सदस्यो के साथ वह जब एलिफेण्टा गई, तब मैंने उसका निमन्त्रण स्वीकार

नही किया।

इसके बाद लक्ष्मी उससे एक-दो बार मिली थी। उसने मुझसे बात की थी और मैंने उसे थोडी दिलचस्पी के साथ सुना था।

१६२० मे लका के सफर से वापस आने पर लीला मुझसे मिलने आई। बिना पति के, केवल स्त्री—सखी और पुत्री को साथ लेकर भारत-भ्रमण करती हुई यह युवती प्रत्येक का ध्यान आकर्षित कर लेती थी। मैंने किसी रुद्राक्ष और शुक्लाबर-धारिणी पुण्यभागिनी तापसी के स्वप्न-दर्शन के समान कुछ क्षण उसे देखा और फिर वह अदृश्य हो गई।

उससे मिलने के बाद यह विचार आने लगा कि हजारो बार जिस 'तनमन' का चिन्तन किया है, वह अब नही मिलेगी। १६०७-८ के बाद जो दु ख दूर हो गया था, वह पुन होने लगा। मन मे यह पागलपन भरी कल्पना उठती और दूर हो जाती थी कि कही इस रूप मे 'तनमन' तो नही आ गई है? परन्तु मैंने कल्पना पर काबू पा लिया। मैं अब व्यवहारी बन गया था।

१६२२ के अप्रैल-मई मे हम लोग महाबलेश्वर मे बँगला लेकर रहे। सवेरे तीन घण्टे तक जब मैं घूमने जाता, तब रस-भरी कल्पनाएँ मुझ पर अधिकार जमा लेती। उस समय मैं 'राजाधिराज' की 'मजरी' का सृजन कर रहा था।

उन्ही दिनो लीला ने अपने लिखे हुए रेखाचित्र ('रेखाचित्रो') 'गुजरात' मे छपवाने के लिए मेरे पास भेजे। बाद मे उन लेखो का 'रेखा-चित्रो' नाम मैंने ही बताया था।

मैंने उसका पत्र पढा और रेखाचित्र भी पढे। उसके लिखे हुए मेरे रेखाचित्र मे मैंने पढा—

'मनुष्य-स्वभाव परखने की इनकी शक्ति अद्भुत है। इनमे बुद्धि की ज्योति चमकती है और साथ ही Ego (अह) की चमक भी उतनी ही है।

'बुद्धि के शिखर से ये बेचारे जगत् पर दृष्टि डालते हैं। किसी ने यह कहा है कि इनके पात्रो मे गर्व बहुत है, इनके विषय मे भी यह

कहा जा सकता है।

'केवल पृथक्करण करने के लिए ही ये साइण्टिस्ट की तरह जनता के साथ मिलते हैं। स्वभाव के सारे तत्त्वो को ये देखते है, दयाहीन रूप से उसका वर्गीकरण करते है और यह समझ सकते है कि मैं ऐसा कर सकता हूँ।

'ऐसे मनुष्य की बुद्धि के आगे जगत् झुक सकता है, पर उसे प्रेम नही कर सकता। आत्म-सम्मान अधिक है, दूसरो की ओर तिरस्कार-पूर्वक देखने की वृत्ति भी कुछ अशो मे है, रहन-सहन (Manners) सभ्यतापूर्ण और अच्छा (Graceful) है।

He is indifferent to the world, because he could not get something from it which he wanted. In his pride he does not complain before it but despises it all the more, and takes a delight in criticizing it and tearing it to pieces before his mental eye. He does not like sympathy because he thinks, it lowers his dignity.[1]

'परन्तु कदाचित् इस दीखने वाली बुद्धि की सतह के नीचे हृदय के कूप मे ऊर्मियो का मीठा वारि लहरा रहा होगा, किसी ने वह जल पिया होगा, परन्तु वह जल है तो दुर्लभ ही।

'हृदय की तो बरतने से ही कीमत बढती है!'[2]

---

१. वे जगत् के प्रति लापरवाह हैं, कारण कि उससे वे कोई अभिलषित वस्तु प्राप्त नहीं कर सके। अभिमान के कारण, इस स्थिति के विषय में वे संसार के आगे फरियाद नही करते, उल्टे उसका अधिक तिरस्कार करते हैं। उसकी समीक्षा करने में और अपने मानसिक चक्षुओं के समीप उसे चूर्ण करने मे ही वे आनन्द समझते हैं। कोई उनके प्रति समभाव प्रदर्शित करे, यह उन्हें अच्छा नहीं लगता, कारण कि उनकी मान्यता है कि समभाव-दर्शन उनके गौरव को क्षति पहुँचाता है।

२. लीलावती मुन्शी-कृत 'रेखाचित्रो अने बीजा लेखो।'

बाईस वर्ष की इस युवती ने मेरे साधारण परिचय के पश्चात्, जान या अनजान मे यह बाण छोड़ा था, और तीस वर्ष की मेरी स्वस्थता को आर-पार वेधकर उसने मर्मस्थल को वेध डाला था। यदि क्रूरता से ऐसा किया हो तो अमानुषिक है; स्थूल भूमि को फोडकर 'वारि' निकालने की इच्छा से किया हो तो भयकर है।

मुझे इसका भान हुआ, फिर भी मैंने परवाह न की। मेरी भावना की भागिनी—'तनमन' मुझे मिल गई हो, ऐसा मुझे क्षण-भर जान पडा।

मैं तुरन्त 'कोनोट पीक' पर अकेला ही घूमने गया। उस समय मेरे जीवन के रग बदल गए। उसका वर्णन 'शिशु अने सखी' मे है—

'गिरि शृङ्गावलियो के अन्धकार को भेदकर, नव सृष्टि की नूतन और प्रथम ही हो, ऐसी ऊषा किसी उच्च-शिखर के कोने को सोने मे मढ रही हो, इस प्रकार अभिनव आशा उसके हृदय को मढने लगी।

'उसके पैरो मे पख लग गए। मानो स्वप्न मे गुजित हो रहा हो, ऐसे गम्भीर सगीत को, व्योम मे नर्तन करती ज्योतिर्माला के घुँघरुओ ने नये-नये ताल दिये।'[1]

यह किसी कल्पना-विलासी की उडान नही, स्वानुभव है।

दूसरे दिन मैंने पत्र का उत्तर लिखा। उसे बार-बार पढकर उसमे सशोधन किये—कही तरग मे आकर मैं कोई अशोभनीय बात न लिख डालूँ। मैंने गुजरात के लिए धारावाहिक लेख लिखने का उसे निमन्त्रण दिया। मैं लीला को अच्छी तरह पहचानता नही था। उनके गृह-जीवन का मुझे ज्ञान नही था। परन्तु यह निश्चित था कि मेरा हृदय पुकार रहा था कि मुझे 'जन्मजन्मान्तर की सखी' मिल गई थी।

हमने 'गुजरात' के सिलसिले मे पत्र-व्यवहार आरम्भ किया। १९१८ के श्रावण का 'गुजरात' का अक, मानसिक सहजीवन व्यतीत करने का हमारा पहला प्रयत्न था।

गुजरात की अस्मिता के इस मुखपत्र के लिए मनहरराम मेहता ने

१. मुन्शी-कृत 'शिशु अने सखी,' पृष्ठ ५४, दूसरा संस्करण।

मगलगीत लिखा—'जय थजो, जय थजो, पुनित गुजरात नो।' (पुनीत गुजरात की जय हो, जय हो।) इम अक की सामग्री हमारे नये साहित्य-सम्प्रदाय के वेग का परिचय देगी। उसमे ये चीजे थी—नानालाल की कविता 'उद्बोधन', ललिता का 'जुदाई नी जादूगिरी', और चन्द्रशकर का 'जिगर नो जख्म', दुर्गाशकर शास्त्री का लेख 'मातृगया सिद्धपुर', विभाकर का 'कृष्ण कनैयो', मुनिकुमार की कहानी 'हुवा सो विवा,' पादराकर की 'कानो मे ककरा,' मस्तफकीर की कहानी 'दाढी रखो', प्रो० खुशालशाह का नाटक 'मने नही', लीला के 'रेखाचित्रो', मेरे उपन्यास 'राजाधिराज, का साप्ताहिक ग्रश और मेरा पहला वेदकालीन नाटक 'पुरन्दर-पराजय'।

'रेखाचित्रो' द्वारा शैली और साहित्य-पद्धति मे नई प्रणाली शुरू हुई। मेरे मित्रो ने मेरा 'रेखाचित्र' पढा और लीलावती सेठ कौन है, इसकी तलाश करनी आरम्भ की। उस समय से हम दोनो के नामो का एक साथ गुणगान होने लगा।

जुलाई-अगस्त मे उसके सौतेले पुत्र ने, जिस मकान मे हम रहते थे, उसी मे नीचे का एक ब्लाक किराये पर लिया, पर मेरा उसके साथ परिचय नही था।

अक्तूबर में यह बात सुनने मे आई कि लीला कुछ दिनो के लिए बम्बई आने वाली है।

एक बार मैं ब्रीफ पढ रहा था कि नीचे से किसी के गाने की ध्वनि सुनाई पडी। मेरा हृदय एकदम धडक उठा।

मैंने लीला को कभी गाते नही सुना था। परन्तु वह आवाज मुझे किसी अद्भुत रीति से परिचित मालूम हुई।

"नीचे कौन गा रहा है?"

"लीला बहन," लक्ष्मी ने कहा।

मैं विह्वल हो उठा।

भोजन के बाद लीला ऊपर आई। हमने इस प्रकार बातें की, जैसे

हमारी वर्षो की पुरानी मैत्री हो।

उस रात को मुझे नीद नही आई। इस सान्निध्य के दूरगामी भयकर परिणामो को मै देख रहा। विपत्ति के बादल चढ आए थे, यह निश्चित था। जिस क्षण मैने जीवन के सीधे चढाव चढकर ऊपरी कोर को जैसे-तैसे पार किया, उसी क्षण सामने की सपाट भूमि मे दरार पड गई। भंवरो से भयानक बना हुआ दुस्तर नदी का गर्जन करता हुआ पाट मेरे पैरो के आगे फैल गया··

फिर भी मेरी रगे ताण्डव-नृत्य कर रही थी।

तेरह वर्ष की समाधि के परिणामस्वरूप साक्षात् हुई 'देवी' पट के उस पार—फिर भी निकट—जीवित खडी थी·

और मेरा आधा रास्ता सम्पूर्ण हुआ।